कल्पवृक्ष

मा० स० गोलवलकर 'श्री गुरुजी'

कल्पवृक्ष

संकलन—सम्पादन
भानुप्रताप शुक्ल

प्रकाशक
जानकी प्रकाशन
नई दिल्ली-११००११

प्रकाशक

जानकी प्रकाशन
१२९ साउथ एवेन्यू
नई दिल्ली-११००११

वितरक

भारतीय मजदूर संघ
''रामनरेश भवन''
तिलक गली,
चूना मंडी पहाड़गंज,
नई दिल्ली-११००५५
दूरभाष : ७५२०६५४

द्वितीय संस्करण

डा० हेडगेवार जयन्ती
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सम्वत् २०४९
अप्रैल १९९२

मूल्य : ५०.०० रुपये

मुद्रक

सिया राम प्रिंटर्स
१५६२, मेन बाजार पहाड़गंज
नई दिल्ली-११००५५
दूरभाष : ७७३५०४

विषय-सूची

१.	राष्ट्रीय कल्पवृक्ष	१
२.	एषः पंथाः	१०
३.	चिरन्तनता और तात्कालिता	३२
४.	हमारा राष्ट्रजीवन	३८
५.	विधायक कार्य	४६
६.	मूलभूत कार्य	५३
७.	सफलता सुनिश्चित	६२
८.	राष्ट्रीय एकात्मता का साधन	७०
९.	समस्या का मूल	७३
१०.	यथार्थ दृष्टिकोण	९५
११.	अमोघ कार्यप्रणाली	११०
१२.	समाज की मंगलशक्ति	११५
१३.	शाखा कार्य	१२३
१४.	गौण प्रश्न	१२६
१५.	राष्ट्र कल्याण का मार्ग	१२८
१६.	महत्व की बात	१३१
१७.	अत्यंत सरल कार्यक्रम	१४१
१८.	मौलिक सेवा	१४४
१९.	शक्ति और शील का स्रोत	१४७
२०.	गटनायक	१५७
२१.	अधिकारी और संघ कार्य	१६४
२२.	संघ कार्य के दो स्वरूप	१७१
२३.	संगठन-शास्त्र	१८०
२४.	यम-नियम	१८५
२५.	बात कम, काम अधिक	१८९

२६.	अहंकार नहीं, आत्मविश्वास	१९२
२७.	कार्यपद्धति के तीन सूत्र	१९६
२८.	नवनिर्माण की प्रक्रिया	२००
२९.	लचीला अनुशासन	२०७
३०.	न्यूनतम नित्यकर्म	२१६
३१.	परिपुष्ट संस्कार	२२२
३२.	जागतिक दायित्व	२२५
३३.	संभाव्य संकटों का एकमेव उत्तर	२२७
३४.	मनःशांति	२२९
३५.	अमरत्व का मार्ग	२३२
३६.	तत्व और व्यवहार	२३५
३७.	कार्यपद्धति का हेतु	२४५
३८.	सर्मपण	२४८
३९.	प्रगति और रहस्य	२५१
४०.	सर्वसमय आवश्यक	२५५
४१.	जीवन कार्य	२५८
४२.	अंतिम आश्वासन	२६१

अनुक्ता ये भक्ता

सादर समर्पित

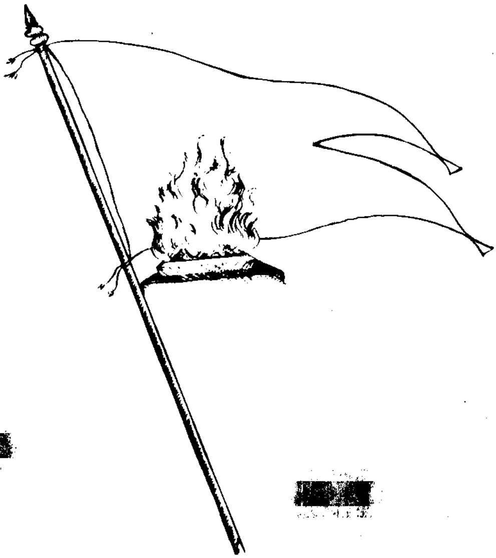

राष्ट्राय स्वाहा। राष्ट्राय इदं न मम्।

१

राष्ट्रीय कल्पवृक्ष

२१ जून, १९४० को संघ-संस्थापक डॉक्टर हेडगेवार जी का शरीर शांत हुआ। श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर "श्रीगुरूजी" ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालकत्व का दायित्व संभाला। उस अतीन्द्रिय, महान् संगठन-कुशल, दूरदर्शी नेतृत्व के तिरोधान के कारण उत्पन्न शून्यता को, अधिकांश लोगों के लिए एक सर्वथा अज्ञात, किंतु प्रखर प्रतिभावान, तेजस्वी, आध्यात्मिक योगी ने भरा। डॉक्टर जी की मृत्यु अपने आप में एक ऐसा दैवी आघात था कि सामान्यत: उससे उबर पाना सम्भव नहीं था। संघ-बाह्य वातावरण में व्याप्त पद, प्रतिष्ठा और लोकेषणा के द्वंद्व ने शैशवावस्था वाले संघ पर भी अपना प्रभाव डालने का प्रयास किया। डॉक्टर जी के निधन के कारण उत्पन्न नेतृत्व की रिक्तता को भरने का भरोसा दिलाने और दावा करने वालों ने कहा, "डॉक्टर हेडगेवार चले गए, किंतु चिंता करने की कोई बात नहीं है, संघ का नेतृत्व हम करेंगे। डॉक्टर हेडगेवार हमारे मित्र थे, सहयोगी थे, साथी थे। संघ को हम नेताविहीन नहीं रहने देंगे।" श्रीगुरूजी की अल्पायु और संघकार्य की प्रारम्भिक अवस्था के कारण अनेक बड़े व्यक्तियों के मन में यह विचार आया कि "संघ अब उनकी ही शरण में आयेगा। यदि आगे बढ़ना और विकास करना है तो संघ को उनकी शरण में आना ही पड़ेगा, और यदि ऐसा न हुआ तो संघ का पौधा सूख जायेगा।"।

किंतु ऐसा हुआ नहीं। डॉक्टर जी को श्रीगुरूजी पर विश्वास था और श्रीगुरूजी को संघ के कार्यकर्ताओं और स्वयंसेवकों पर भरोसा। डॉक्टर जी ने जहाँ अपना अन्तिम पद-चिह्न छोड़ा था, श्रीगुरूजी ने वहीं से संघ-यात्रा को आगे बढ़ाया। डॉक्टर जी की मृत्यु के तेरहवें दिन, ३ जुलाई, १९४० को, उनकी दहन-भूमि पर उपस्थित स्वयंसेवकों

के समक्ष श्रीगुरूजी ने संघ-संस्थापक के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा और अपने अडिग आत्मविश्वास का उद्घोष किया—"डॉक्टर जी स्वयं एक उच्चादर्श बन चुके थे। ऐसे महापुरूष के चरणों में जो नतमस्तक नहीं हो सकता, वह संसार में कुछ भी नहीं कर सकता। उनमें मां का वात्सल्य, पिता का उत्तरदायित्व तथा गुरू की शिक्षा का समन्वय था। ऐसे महान् व्यक्ति की पूजा में मुझे अतिशय गर्व का अनुभव होता है। यदि मैं यह कहूं कि वे मेरे ईष्टदेव थे तो इसमें किंचित भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। डॉक्टर जी की पूजा व्यक्ति-पूजा नहीं हो सकती, और यदि उसे कोई व्यक्ति-पूजा समझे तो भी मुझे उसमें अभिमान ही होगा।"।

श्रीगुरूजी के समक्ष डॉक्टर जी द्वारा प्रतिपादित लक्ष्य और कार्य स्पष्ट था। प्रथमतः उन्होंने स्वयंसेवकों को डॉक्टर जी के व्यक्तित्व और विभूतिमत्व के साथ जोड़ा, फिर तत्व और ध्येय का निदर्शन किया—"डॉक्टर जी की पूजा करने के लिए हम एकत्रित हुए हैं। इस संगठन के द्रष्टा और स्रष्टा की पूजा करने का एकमेव मार्ग है—अपने संकीर्ण व्यक्तित्व को भुलाकर इस संगठनरूपी विराट् देह का संवर्द्धन करना। हम डॉक्टर साहब का पुजारी कहलाने के अधिकारी तभी बन सकेंगे, जब जिस ध्येय की प्राप्ति के लिए यह संगठन निर्माण किया गया है, उस ध्येय को शीघ्र प्राप्त करने के निश्चय से हम अपने-अपने स्थान पर संघ-कार्य में जुट जायं।"

डॉक्टर जी की मृत्यु के पश्चात् राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भविष्य को लेकर अनेक प्रकार के प्रश्न भी उठे थे कि "अब संघ का क्या होगा? संघ किस माार्ग का अनुसरण करेगा? डॉक्टर हेडगेवार नहीं रहे तो संघ-कार्य भी समाप्त हो जायेगा। संघ को चलाने वाला कोई नेता उसके पास है ही नहीं तो संघ कैसे चलेगा?" इन प्रश्नों को पूछने वालों ने डॉक्टर जी की चिता-भस्म के शांत होने की भी प्रतीक्षा नहीं की। ये प्रश्न पूछने वालों में संघ के प्रति स्नेह और सहानुभूति रखने वाले लोग भी थे और शत्रुता एवं विरोध का भाव रखने वाले लोग भी। श्रीगुरूजी ने उनके प्रश्नों का अतीव स्पष्ट, समाधानकारक और आत्मविश्वास से परिपूर्ण उत्तर दिया—"हमारे संगठन के विषय में लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछते हैं। यह भी कहते हैं कि भविष्य में संघ किस मार्ग का अनुसरण करेगा? वास्तव में संघ का ध्येय और कार्य निश्चित है। संघ की ध्येय-दृष्टि अचल है। भविष्य में इसमें कभी भी कोई अंतर होने का कारण नहीं है। संघ को किसी प्रचलित राजनीति या आंदोलन में भाग नहीं लेना है। डॉक्टर जी के द्वारा प्रदत्त दृष्टि और निर्धारित किए हुए मार्ग के अनुसार ही हम लोगों ने अपना कार्य करते रहने का निश्चय किया है। डॉक्टर जी के पश्चात् क्या होगा? इस प्रकार की शंका कई लोगों के मन में उठती है। सच पूछें तो इस प्रश्न के उपस्थित होने का कोई कारण नहीं है। यह सुनिश्चित है कि किसी भी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति में साहस के साथ अपना मार्ग निकालते हुए, सब प्रकार के संकटों को कुचलते हुए तथा उनकी परवाह न करते हुए, संघ अपने विशिष्ट मार्ग से निरंतर प्रगति

पथ पर बढ़ता रहेगा। हम पर जितने आघात होंगे उतनी ही अधिक शक्ति से रबर की गेंद के समान उछलकर हम ऊपर उठेंगे।......हमको किसी का भी भय नहीं है। हम ऐसी प्रचण्ड संगठित शक्ति का निर्माण करेंगे जिसके वर्धमान तेज से अत्याचारी दुर्जन भयभीत हो जायं। एक ध्येय और एक ही मार्ग निश्चित करके उसी से हम लोग बढ़ने वाले हैं।......यह बलशाली संगठन हमें सौंपकर डॉक्टर जी चल बसे हैं। अब अनेक उपदेशक हमें उपदेश देने के लिए आगे बढ़ेंगे। किंतु इन सभी उपदेशकों को मैं नम्रतापूर्वक, पर स्पष्ट रूप से, यही कहना चाहता हूँ कि हमारे डॉक्टर जी ने मतान्तरों के कोलाहल में विलीन हो जाने लायक पिलपिला संगठन हमारे अधीन नहीं किया है। हमारा संगठन एक अभेद्य किला है। इसकी दुर्गबंदी पर चंचु प्रहार करने वालों की चोंचें टूट जायेंगी। डॉक्टर जी ने हमारा मार्ग बिलकुल निश्चित रूप से निर्धारित कर दिया है और हम लोग उसी मार्ग से जायेंगे। इसी में राष्ट्र का अन्तिम कल्याण है और केवल इसी मार्ग से हिन्दू जाति को पूर्ण वैभव के मंगल दिवस प्राप्त होने वाले हैं।"।

श्रीगुरूजी की इस निष्ठा और उनके अदम्य-अगाध आत्मविश्वास पर निरंतर प्रहार किए जाते रहे। परिस्थितिजन्य संताप और मानवी महत्वाकांक्षाएं संघ-कार्य का पथावरोध करती रहीं। तात्कालिकता और अन्तिम लक्ष्य के बीच का द्वंद्व निरंतर चलता रहा। किन्तु नित्यानित्य विवेक की दृष्टि श्रीगुरूजी को उत्तराधिकार में मिली थी। डॉक्टर जी ही उनके एक मात्र संदर्भ बिन्दु थे। ९ अगस्त, १९४२ का "भारत छोड़ो आंदोलन" हो या १५ अगस्त, १९४७ को "भारत-विभाजन" के कारण उत्पन्न परिस्थिति, बाढ़, भूचाल, सूखा, अकाल और दैवी संकट हो या दंगा, उत्पीड़न, विरोध और शत्रुता जैसी मनुष्य निर्मित बाधाएं, प्रतिबंध का अन्याय हो या स्वागत सत्कार का अवसर, श्रीगुरूजी अपने लक्ष्य और मार्ग से कभी विचलित नहीं हुए। जागृत समाज और बलशाली राष्ट्र निर्माण करने के शाखा-कार्य पर से अपनी दृष्टि कभी हटने नहीं दी। यही डॉक्टर जी की भी दृष्टि थी कि संघ-कार्य स्वयंसेवक अर्थात् चारित्र्यसम्पन्न, चिंतनशील और जागृत देश-भक्त नागरिक निर्माण करने का कार्य है; अतः इस कार्य को अक्षत और अबाध चलते रहना चाहिए।

१९२५ की विजयदशमी को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के पश्चात् १९३०-३१ के गाँधीजी के आंदोलन, १९३७ में पूना के "सोन्या मारूति सत्याग्रह" और १९३८ में हैदराबाद में हुए आर्य समाज के सत्याग्रह के समय डॉक्टर जी की भूमिका उनकी दूरगामी दृष्टि की परिचायक है। १९३० में दाण्डी मार्च के संदर्भ में किए गए जंगल सत्याग्रह में भाग लेने जाते समय डॉक्टर जी ने कहा था, "कार्य करते-करते कारागृह में जाना आवश्यक हो तो अवश्य जाइए, किन्तु कारागृह जाना ही ध्येय नहीं होना चाहिए। ध्येय होना चाहिए देश-कार्य।......संघ के अभिमतों तथा कार्य करने के तौर-तरीके में न तो कोई परिवर्तन हुआ है, और न उनमें हमारी आस्था डिगी है। देश की

आजादी के लिए निरंतर कार्य करने वाली हर संस्था का कर्तव्य हो जाता है कि देश में चल रहे विभिन्न आन्दोलनों की अंतर्बाह्य जानकारी प्राप्त करते हुए उसका उपयोग वह देश-कार्य के लिए कर ले। संघ के स्वयंसेवकों ने आज तक इस आंदोलन में जो हिस्सा लिया है, और हम लोग जो उसमें शामिल हो रहे हैं, इसका हेतु भी यही है। आज जेल जाना देशभक्ति की निशानी माना जा रहा है। किंतु आज दो साल की जेल काटने के लिए तैयार लोगों से यदि कहा जाता है कि घर-गृहस्थी से साल-दो-साल की छुट्टी लेकर देश के स्वतंत्रताभिमुख संगठन का कार्य करने के लिए सिद्ध हो जाओ तो कोई भी तैयार नहीं होता। ऐसा क्यों? कारण यह है कि आजादी साल-छह मास कार्य करके नहीं, बल्कि वर्षों तक लगातार संगठन करने से ही आ सकती है, यह बात समझने के लिए लोग तैयार ही नहीं हैं। इस मौसमी देशभक्ति का जब तक त्याग नहीं किया जाता और जब तक देश के लिए प्राण तक न्योछावर करने की सिद्धता रखते हुए भी आजादी की प्राप्ति के लिए संगठन का कार्य करते हुए जीने का व्रत नहीं लिया जाता, देश के अच्छे दिन नहीं आयेंगे। युवकों में इस प्रकार की भावना पैदा करना और उन्हें संगठन-सूत्र में बांधना ही संघ का ध्येय है।"

श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने अपनी पुस्तक "संकेत रेखा" के पृष्ठ ६६ पर डॉक्टरजी के इस मूलगामी विचार का भाष्य करते हुए लिखा है : "आंदोलन में हिस्सा लेना राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। वह तो करना ही था, किंतु साथ-ही-साथ यह भी ध्यान में रखना था कि आंदोलन का सामयिक महत्व होते हुए भी वह एक नैमित्तिक और अनित्य स्वरूप का कार्य है। इस नैमित्तिक कार्य की आवश्यकता भी पूरी हो, किंतु इस प्रक्रिया में संघ के नित्य कार्य को कोई क्षति भी न पहुँचे, यह संतुलन रखने की आवश्यकता थी। यह तय किया गया कि डॉक्टर जी अपने खास लोगों के साथ आंदोलन में अवश्य कूदेंगे, किंतु संघ संगठन के नाते इस आंदोलन में हिस्सा नहीं लेगा। सत्याग्रह महत्वपूर्ण किंतु तात्कालिक कार्य है; जबकि संघ का कार्य नित्य स्वरूप का है। संघ के स्वयंसेवक व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह में भाग ले सकते हैं, किंतु सत्याग्रह में जाते समय उनको संघ का गणवेश पहनना या आर०एस०एस० का बैज नहीं लगाना चाहिए। संघ-शाखाएं सदा के समान दिन-प्रतिदिन अखण्ड चलती रहनी चाहिएं, इसमें बाधा न आए। संस्था अभिमान से बचकर देश का कार्य करे।"

१९३८ में आर्यसमाज के हैदराबाद सत्याग्रह के समय डॉक्टर जी ने यह विचार और अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रगट किया—"यह सत्याग्रह सभी नागरिकों का है। अतः संघ-स्वयंसेवकों को भी नागरिक होने के नाते, सैकड़ों नागरिकों की तरह ही इसमें भाग लेना है।"

संघ को संघ के नाते सत्याग्रह और समाजिक कार्यों में भाग लेने के प्रत्येक विचार और दबाव को डॉक्टर जी ने सदा अस्वीकार किया। उनका उद्देश्य देशभक्त नागरिक निर्माण करके बल-सम्पन्न वैभवशाली राष्ट्र का निर्माण करना था। यह कार्य शाखा के नित्य

कार्य से ही होगा, यह समझाने का उन्होंने सचेतन प्रयास किया।

समाज-जागरण करने, संस्कार देने और बलोपासना की साधना-स्थली शाखा की उपेक्षा, डॉक्टर जी की ही तरह, श्रीगुरूजी को भी सहन नहीं थी। शाखा कार्य के प्रति अपनी यह एकान्तिक निष्ठा, नाना पालकर द्वारा लिखित पुस्तक "डॉक्टर हेडगेवार" में, व्यक्त करते हुए श्रीगुरूजी ने लिखा है: "यद्यपि परिस्थिति के अनुसार उन्होंने (डॉक्टर जी) राजनीति का अवलम्बन किया था, फिर भी राष्ट्र के उत्कर्षापकर्ष के कारणों की मीमांसा करके उन्होंने यह ध्यान में रखा कि स्पर्धा, ईर्ष्यादिपूर्ण प्रचलित राजनीति केवल अनुपयुक्त ही नहीं, अपितु यदि पूरी तरह सतर्कता बरती न गई तो हानिकारक भी सिद्ध हो सकती है। साथ ही इस सत्य को पहचानकर कि राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला उसका जागृत, अनुशासित एवं संगठित सामर्थ्य ही है, उन्होंने परिस्थिति के आघात-प्रत्याघात, स्वकीयों की टीका एवं अवमानना आदि को हंसते-हंसते सहकर भी उस तंत्र को खड़ा करने में अपना जीवन-सर्वस्व लगा दिया तथा अपने प्रारंभिक जीवन में सशस्त्र क्रांति, कांग्रेस और हिन्दू महासभा आदि से जो संबंध बनाए थे उन्हें सहज दूर कर दिया। उन क्षेत्रों के राष्ट्रभक्त नेताओं तथा उनके कार्य के विषय में मन में आदरभाव रखते हुए उन्होंने स्वयंसेवकों को यह सतर्कता बरतने को बताया कि उनके विषय में क्षण मात्र के लिये भी अनादर का भाव उत्पन्न न हो, किंतु उन्होंने सबके सामने अपना आदर्श रखते हुए यह शिक्षा दी कि "इन कार्यपद्धतियों से दूर रहकर ही समाज संगठन संभव है और यही प्रत्येक कार्यकर्ता को करना चाहिए।"

बाल्यकाल से विविध राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न, विदेशी राज्य के नाममात्र से ही जो क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाय, इस प्रकार अतीव संवेदनशील एवं उत्कृष्ट भावनापूर्ण व्यक्ति के लिए प्रचलित राजनीतिक कार्यों से बिना अपना हाथ खींचे मन को हटा लेना तथा सब प्रकार से बुद्धि को जंचने वाले कार्य के अनुकूल ही अपने मनोभावों को बनाना कितना कठिन हुआ होगा और इस प्रकार का परिवर्तन अपनेअंदर लाने की विवेकशक्ति कितनी पराकोटि की और सामर्थ्यवान होगी तथा अपने निष्कर्षों एवं तदनुरूप कार्य पर उनकी दृष्टि कितनी अटल होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। इस प्रकार का कल्पनातीत शक्ति-सम्पन्न विवेक एवं कार्य की निष्ठा उनके पवित्र, निःस्वार्थ एवं राष्ट्र समर्पित जीवन के कारण ही संभव था। यह उनके जीवन का अत्यंत भव्य और अकल्पनीय चमत्कार है।"

यही अकल्पनीय और अत्यंत भव्य चमत्कार श्रीगुरूजी के जीवन और कार्य में भी प्रगट हुआ। १९४८ में महात्मा गांधी की हत्या के बाद संघ पर लगाए गए प्रतिबंध और घृणित आरोपों के कारण जब संघ के स्वयंसेवकों, कार्यकर्त्ताओं और समर्थकों की निष्ठा हिल सी गई, धैर्य छोटा पड़ गया, वे राष्ट्र कार्य के लिए किसी और माध्यम की तलाश करने की सोचने लगे, परिवर्तित परिस्थितियों का तर्क देकर संघ और शाखा-कार्य की

उपादेयता पर प्रश्न-चिह्न लगाए जाने लगे तो डाक्टर जी का विवेक गुरूजी की वाणी बनकर १८ अक्तूबर, १९४९ को प्रगट हुआ "मेरी दृष्टि से तो परिस्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। एक स्थूल परिवर्तन मात्र अवश्य दिखता है। पहले यहाँ विदेशियों का प्रत्यक्ष राज्य था, वे अब चले गए हैं। इसलिए अनेक लोगों को यह आभास होता है कि परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है। प्रत्यक्ष यहां जो विदेशी सत्ताधारी थे, वे आज नहीं हैं यह कहना सत्य है, इसके विषय में कोई विवाद नहीं है। ......परंतु इसके अतिरिक्त परिस्थिति में और क्या परिवर्तन हुआ है ? संघ स्थापना के प्रारंभ में देश में जो अवस्था थी उसमें से यह स्थूल रूप में हुआ एक परिवर्तन यदि घटा दिया जाय, तो बाकी परिस्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है ? लोगों का अभिप्राय है कि परिवर्तन हुआ है, परंतु उसे मानने को मैं तैयार नहीं हूँ। इतना ही कह सकते हैं कि पचास वर्ष पूर्व भिन्न-भिन्न समाज के एक हो जाने का जो भ्रामक दृश्य और वातावरण निर्माण हुआ था वैसा ही आज पुनः पैदा हो गया है। ......इसके साथ ही संघ-स्थापना के समय जो अन्य समस्याएं थीं वे ज्यों की त्यों हैं। ......जिसे हम परविर्तित परिस्थिति मानते हैं, क्या उसमें यह दिखाई देता है कि हममें एकता और राष्ट्रभावना निर्माण हुई है ? क्या समाज के परस्पर के सम्बन्धों पर वास्तविक दृष्टि से सोचने की क्षमता निर्माण हुई है ? क्या विशुद्ध राष्ट्रवृत्ति निर्माण हुई है ? क्या सुसंगठित समाज-निर्माण हुआ है ? इस प्रत्येक प्रश्न का उत्तर है—नहीं।"

तो फिर परिस्थिति में परिवर्तन कैसे होगा ? श्रीगुरूजी का उत्तर है : "जिस पद्धति में आवश्यक व्यक्तिगत गुण का विकास होता है, उस पद्धति से कार्य न होने से समाज-रचना योग्य रीति से कर पाना संभव नहीं है। हम अपने प्रयत्नों पर विचार करें तो दिखाई देता है कि सब प्रकार के संकटों से पृथक रखकर व्यक्तिगत गुणों के सम्पूर्ण विकास की जैसी योजना अपनी कार्यपद्धति में है वैसी अन्य कहीं भी नहीं है।

......जिस कार्यपद्धति में गुण-विकास रुककर राष्ट्र-प्रीति की विशुद्ध भावना में बाधा डालने वाले स्वार्थ, अहंकार, वैयक्तिक मानापमान, सत्ताभिलाषा तथा अन्य अवगुण अनेक रूपों में निर्माण हो सकते हैं, वैसी कार्यपद्धति ग्रहण करके अवगुणों से अछूते रहते हुए हम अपनी रचना पूर्ण करें, यह कल्पना बहुत ही रोचक लगती है। ......परंतु इस रोचकता और आकर्षण का सत्य स्वरूप क्या है, यह हमें समझ लेना चाहिए अन्यथा अन्यों की कार्य क्षेत्र में जो दुर्दशा हुई है वैसी ही हमारी भी दुर्दशा हुए बिना न रहेगी।"

समय की चुनौती, चेतावनी, चिंतन, कार्य और कार्यपद्धति की ओर एकांतिक निष्ठा से श्रीगुरूजी द्वारा बार-बार ध्यान आकृष्ट करते रहने का एकमेव कारण यह है कि सर्वांगीण राष्ट्रोत्थान हेतु शाखा के माध्यम से संघ-स्थान पर की जा रही सतत और मौन साधना में बाधा न पड़े। राष्ट्रदेव का साक्षात्कार करने के लिए की जा रही तपस्या भंग न हो। राष्ट्रभक्त नागरिक निर्माण करने के हेतु किया जा रहा शाखा-कार्य का अनुष्ठान कभी रुके नहीं। राष्ट्र के विविध क्षेत्रों में राष्ट्रीय अस्मिता का रक्त-संचार सदा होता रहे। राष्ट्र

की नस-नाड़ी के रूप में स्वसंसेवक रक्तवाहक का कार्य करते रहें। गाँव-गाँव और गिरि-कंदरा तक राष्ट्र-समर्पित, संगठित, स्वावलंबी समाज की रचना की जा सके। एक ऐसा राष्ट्रीय समाज बने जिसमें सैनिक भी हों, शिक्षक और साहित्यकार भी। बुद्धिजीवी भी हों और श्रमजीवी भी। वैज्ञानिक भी हों और कलाकार भी। राजनेता भी हों और समाज-चिंतक भी। भौतिक समृद्धि के लिए प्रयत्नशील लोग हों तो आध्यात्मिक साधना में रत साधक भी। और इन सबको मिलाकर बने समाज की पुञ्जीभूत शक्ति एक गरिमामय, समृद्धि-सम्पन्न, परंतप राष्ट्र के रूप में उदित हो।

यही है शाखा-दर्शन। यही है संघ-कार्य। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ संघ-स्थान-शाखा—पर मूर्तरूप धारण करता है। शाखा में आने वाले लोग स्वयंसेवक बनकर राष्ट्र-समर्पित नागरिक के नाते समाज के साथ समरस हो जाते हैं। समाज के सहयोग से, सामाजिक प्रेरणा जगाकर, सामूहिक रूप से राष्ट्र की सेवा करने की प्रवृत्ति का ही नाम है—संघ शाखा में दिये जाने वाला संस्कार। संघ-स्थान पर की गई तपस्या में से "मैं नहीं, तू ही" का मंत्र उत्पन्न होता है। शाखा के कारण ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राष्ट्रीय लालसा की पूर्ति का कल्पवृक्ष बना है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा महर्षि वशिष्ठ की "नंदिनी" है। संघ-स्थान पर की जाने वाली साधना राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति करने वाले संघरूपी कल्पवृक्ष को बल प्रदान करती है। शाखा के शक्ति केन्द्र के रहते कोई विश्वरथ (विश्वामित्र) वशिष्ठ के आश्रम (राष्ट्र) को उजाड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। मान्यताओं की साक्षी है कि चाहे नंदिनी हो या कल्पवृक्ष, ये सहानुभूति और याचना से नहीं, तपस्या और साधना से ही प्राप्त होते हैं।

अभिलाषा और कामना की तत्काल पूर्ति कर देने वाले कल्पवृक्ष की कथा का मर्म ही शाखा का भी मर्म है। इस संबंध में एक प्राचीन लोककथा है। एक बार एक सम्राट भटकते-भटकते एक आश्रम में पहुँचा। वह बहुत ही थका और भूखा था। युद्ध में अपना राज्य हारकर आया था। आश्रम के ऋषि के पास गया। दण्डवत प्रणाम किया। ऋषि ने कुशल-क्षेम के पश्चात् राजा के आगमन का कारण पूछा। राजा ने कहा, "ऋषिवर! मैं युद्ध में अपना राज्य हार आया हूँ। पराजित हूँ। बहुत ही भयभीत, थका और भूखा हूँ। मेरी सहायता करने की कृपा करें।" ऋषि स्मित हुए। बोले—"राजन्! सामने के उस वृक्ष के नीचे जाइए। वहाँ अपनी अभिलाषा व्यक्त कीजिए। आपकी इच्छा पूरी होगी।" राजा उक्त वृक्ष के नीचे गए। अपनी इच्छा व्यक्त की। उनका हारा हुआ राज्य उन्हें वापस मिल गया। सुस्वाद भोजन मिला। थकावट दूर हो गई। प्रसन्न मन वापस आए। ऋषि को प्रणाम किया। किंतु उन्हें एक प्रश्न परेशान कर रहा था। एक जिज्ञासा उनके मन को मथ रही थी। वे हटे नहीं, वहीं बैठे रहे, तो ऋषि ने पूछा—"अब क्या चाहिए, राजन्? राजा बोला, "एक प्रश्न का उत्तर, एक जिज्ञासा का समाधान।" ऋषि का संकेत मिला। राजा ने प्रश्न किया—"ऋषिवर! आपके आश्रम में यह कल्पवृक्ष होते हुए भी आप और आपके

आश्रमवासी इतने दुर्बल क्यों हैं? आप यह कष्टमय जीवन क्यों भोग रहे हैं? ये प्रश्न सुनकर पहले ऋषि मुस्कराए, फिर बोले—"राजन! जब तक हम यह कष्टमय जीवन जी रहे हैं, यह तपस्या और साधना कर रहे हैं, तभी तक यह कल्पवृक्ष है। जिस वक्त हम अपनी तपस्या और साधना का त्याग कर देंगे इस कल्पवृक्ष की शक्ति समाप्त हो जायगी। इस कल्पवृक्ष की महिमा का कारण है हमारी साधना, हमारा तप, परिस्थिति निरपेक्ष हमारी एकान्तिक निष्ठा।"

डॉक्टर हेडगेवार जी और श्रीगुरूजी ने भी संघ के इस कल्पवृक्ष को अपने जीवन-रक्त से सींचकर बड़ा किया है। हजारों साधक स्वयंसेवकों की परिस्थितिनिरपेक्ष सतत् साधना ने इसे शक्ति दी है। यह काल-सापेक्ष, तात्कालिक और अनित्य कार्य नहीं, परिस्थिति-निरपेक्ष नित्य कार्य है। राष्ट्रजन को उनकी अभीप्सा प्राप्त कराने वाले इस कल्पवृक्ष को अपनी नित्य साधना और श्रम द्वारा महिमामय और बलवान बनाए रखना ही सर्वोत्तम राष्ट्रीय कार्य है। शाखा की साधना-भूमि पर जैसा मनुष्य बनेगा, वैसा ही इस राष्ट्र का भी भविष्य होगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय पुनर्जागरण का न कोई दूसरा मार्ग है, और न कोई दूसरी कार्यपद्धति। यह एकमेव है, और यह एकमेवता केवल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पास है। डॉक्टर जी ने इसी कार्यपद्धति और शाखा को, उसकी शैशवावस्था में श्रीगुरूजी को सौंपा था और श्रीगुरूजी ने इसी का बहुआयामी विकास किया। परिस्थिति के दबाव में इस अमोघ साधन की उपयोगिता और सामयिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाना, तात्कालिकता और उतावलेपन के कारण किसी और माध्यम की बात करना इसलिए निरुपयोगी होगा कि शेष सभी रास्ते अपनाए जा चुके हैं। यह शाखा-मार्ग और माध्यम पूर्व के सभी मार्गों-माध्यमों से प्राप्त अनुभवों और अनुभूतियों का पुञ्जीभूत प्रगट रूप है। यह कार्यपद्धति राष्ट्रीय संस्कार प्रदान करने वाला सततप्रवाही स्रोत है। इसका सातत्य ही इसकी शक्ति है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कल्पवृक्ष इसी में से जीवन-रस प्राप्त करता है। नित्य शाखा के प्रति पूर्ण आग्रह और उसे अक्षत रखते हुए ही संघ हिंदू समाज और हिंदू राष्ट्र के योगक्षेम का चिंतन और चिंता करता है। संघ-शाखा पर संस्कारित स्वयंसेवकों को, संघ उनकी रुचि, प्रवृत्ति और प्रतिभा के अनुसार राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में योजनाबद्ध तरीके से कार्य करने की प्रेरणा देता है। संघ की यह इच्छा और योजना है कि संघ के स्वयंसेवक समाज को जागृत करके, संघ के विचारों के प्रकाश में, राष्ट्र-जीवन के विविध क्षेत्रों में परिवर्तन करने का प्रयास करें और संघ अपनी शाखा पर स्वयंसेवक अर्थात् संस्कारित मनुष्य, अर्थात् राष्ट्रभक्त चारित्र्य-सम्पन्न नागरिक निर्माण करने की अखण्ड साधना में रत रहे। शाखा विद्युत-गृह हैं। स्वयंसेवक इस विद्युत-गृह में निर्माण होने वाली विद्युत ऊर्जा हैं। जब तक शाखा है, तभी तक संघ भी है। संघ और शाखा अभिन्न हैं।

एक स्पष्टीकरण। यह शाखा और संघ की कार्यपद्धति पर क्रमबद्ध ढंग से लिखी

पुस्तक नहीं, मात्र संकलन है। अपने सरसंघचालकत्व के तैंतीस वर्षों में स्वर्गीय श्रीगुरूजी ने संघ-शाखा और संघ की कार्यपद्धति के विषय में समय-समय पर जो विचार व्यक्त किए, केवल वे विचार ही इस पुस्तक में संकलित हैं। स्वीकार करें।

—भानुप्रताप शुक्ल

२

"एष: पंथा:"

सन् १८५७ के पश्चात् इस देश में कई महापुरुषों का जन्म हुआ। राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने अपनी-अपनी संकल्पना के अनुसार महाकार्यों का निर्माण किया। परंतु अनुभव यह आया कि आद्यप्रणेत्ता के निर्वाण के पश्चात् उसके कार्य की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, धीरे-धीरे कार्य परागति की ओर जाता है, और अन्ततोगत्वा निष्प्राण हो जाता है। कार्य की मूल प्रेरणाएं तथा परम्पराएं प्रथमत: विकृत हो जाती हैं और बाद में खण्डित। इस प्रकार के सभी महापुरुषों के नाम-निर्देश करने की आवश्कता नहीं है, वे सब सुप्रसिद्ध हैं। केवल उदाहरण के लिए हम लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी की ही बात लें। दोनों की श्रेष्ठता सर्वविदित है।किन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् उनकी विचार-प्रणाली तथा कार्यप्रणाली का क्या हुआ, यह एक अध्ययनीय विषय है। गांधीजी के पाश्चात् गांधीवाद की अवनति इतनी तेजी से क्यों हुई, इस प्रश्न की मीमांसा आचार्य विनोबा जी ने की है। तिलक जी अपने जीवन के अन्तिम चरण में कहा करते थे कि "मेरे कंधों पर पांव रखकर ऊपर चढ़ने वाला कोई युवक मैं मेरे जीवनकाल में देखूंगा, ऐसा मुझे अब लगता नहीं।" उनके निर्वाण के पश्चात् कितनी शीघ्रता से उनकी परम्परा दुर्बल हो गई यह सब जानते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक परमपूज्यनीय डॉक्टर जी के विषय में इससे एकदम विपरीत अनुभव आया। उनके निर्वाण के पश्चात् कार्य, प्रेरणा तथा परम्परा दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बलवान तथा प्रभावशाली होती गई। अनेक बार आए हुए प्राण-संकट भी इसकी प्रगति को रोक नहीं सके। श्री बापू साहेब भिशीकर ने ठीक कहा है कि, "जिनकी मृत्यु के पश्चात् कार्यकर्ताओं में किंचित् भी विचलितता नहीं आई, और

जिनका कार्य सुसूत्र रूप से चलता रहा, आधुनिक भारत में डॉक्टर जी ऐसे एकमेव नेता थे।"

इस अभूतपूर्व उपलब्धि का श्रेय डॉक्टर जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को है। इस अलौकिक व्यक्तित्व द्वारा राष्ट्र को प्रदान किया गया सबसे बड़ा साधन तथा साधना अर्थात् "शाखा" है। एक ही समय संजीवनीमंत्र तथा पाशुपतास्त्र की भूमिका का निर्वाह करने वाली—"शाखा"। "परम् वैभवम्" की श्रेष्ठतम राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति करनेवाला राष्ट्रीय कल्पवृक्ष—"संघ-शाखा"।

पूज्यनीय डॉक्टर जी के इस जीवनकार्य का प्रारंभ सन् १९२५ की विजयादशमी के शुभ मुहूर्त पर हुआ। किंतु उस समय कार्य का नामकरण नहीं किया गया। प्रारम्भिक दिनों में न संघ स्थान था, न कार्यालय, न संविधान, न आज्ञाएं, न प्रार्थना, न प्रतिज्ञा, और न दैनंदिन कार्यक्रम। उस कार्य का "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ" नामकरण १७ अप्रैल, १९२६ को हुआ। कार्यक्रम के लिए किसी विशेष गणवेश की कल्पना का आंशिक प्रकटीकरण उसी वर्ष रामनवमी के अवसर पर हुआ। उन दिनों केवल इतनी अपेक्षा रहती थी कि सभी को किसी न किसी व्यायामशाला में जाना ही चाहिए। केवल रविवार को सुबह पाँच बजे एकत्रीकरण होता था, और रविवार तथा गुरूवार को नियमित रूप से भाषण का कार्यक्रम हुआ करता था। उन दिनों इस कार्यक्रम को "राजकीय वर्ग" कहा जाता था। उसे "बैद्धिक वर्ग" की संज्ञा सन् १९२७ के पश्चात् प्राप्त हुई।

संघ में दण्ड की (लाठी की) शिक्षा २८ मई, १९२६ से नियमित रूप से शुरू हुई। तभी से दैनंदिन एकत्रीकरण तथा प्रार्थना का भी प्रारंभ हुआ, और तभी हर महीने के प्रथम रविवार को बैठक का कार्यक्रम भी शुरू हुआ।

संघ के प्रथम वार्षिकोत्सव पर पथ संचलन का कार्यक्रम नहीं हुआ था; क्योंकि तब तक उसके लिए आवश्यक संख्या तथा अनुशासन का निर्माण पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ था। सन् १९२६ में सर्वप्रथम "रक्षा बंधनोत्सव" बैठक के रूप में मनाया गया। उसी वर्ष दिसम्बर से हर रविवार की सुबह सैनिकी शिक्षा देने का उपक्रम हुआ। सन् १९२७ में अल्पस्वरूप में पथ संचलन होने लगा। तभी लोगों के मन में घोष का विचार आया। सन् १९२७ में (मुस्लिम दंगे के कुछ पूर्व) ग्रीष्मकाल में पहला "अधिकारी शिक्षण वर्ग" (ओ०टी० सी०) हुआ। संघ की प्रतिज्ञा का सर्वप्रथम कार्यक्रम मार्च १९२८ में हुआ। उसी वर्ष विजयादशमी के दिन सर्वप्रथम गणवेशधारी स्वयंसेवकों का पथ संचलन हुआ। और उसी वर्ष संघ-विस्तार की दृष्टि से शिक्षा के निमित्त भैय्याजी दाणी आदि तीन विद्यार्थी स्वयंसवकों को वाराणासी भेजा गया। सन् १९२८ में श्री गुरुदक्षिणा उत्सव पहली बार मनाया गया।

"बिगुल" आदि आंशिक घोष का काम उन दिनों चल रहा था, किन्तु नियमित घोष

का प्रारंभ सन् १९२९ में हुआ। १० नवम्बर, १९२९ को "सरसंघचालक" पद का निर्माण किया गया।

संघ-कार्य के प्रारंभ के लगभग छह महीने तीन सप्ताह के पश्चात् इसका नामकरण हुआ। "सरसंघचालक" पद का निर्माण लगभग चार वर्ष और डेढ़ महीने के पश्चात् हुआ।

विभिन्न कार्यों का संचालन करने वाले नेताओं में प्राय: दो तरह की कार्यशैलियां दिखाई देती हैं। एक, अपने मन में कार्य की दिशा निश्चित होने के पश्चात् उसके विषय में अपने अनुयायियों को बताना और मार्गदर्शन का औचित्य समझने की क्षमता उन अनुयायियों में न रही तो भी तदनुसार उन्हें कार्य करने का आदेश देना। इस शैली के फलस्वरूप तात्कालिक कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न हो सकता है, और शायद श्रद्धा के कारण लोगों में भी यह भाव निर्माण नहीं होता कि हमारे ऊपर यह निर्णय थोपा जा रहा है। किन्तु अनुयायियों में स्वयं विचार करने तथा ठीक निष्कर्ष पर पहुँचने की क्षमता इस शैली के कारण निर्माण नहीं हो पाती।

दूसरी शैली ऐसे नेताओं द्वारा अपनाई जाती है जिनके विचारों में स्पष्टता न होने के कारण आगामी योजना या निर्णय के विषय में भी स्पष्टता नहीं रहती। 'हमने लिया हुआ निर्णय ही उचित है', दृढ़ता के साथ ऐसा वे मन में भी नहीं सोच सकते। इसलिए यह चिंता उनके मन में रहती है कि यदि निर्णय के कुछ विपरीत परिणाम निकले तो उनके लिए हमें जिम्मेवार न ठहराया जाय, इसका आसान रास्ता है—स्वयं कुछ भी निर्णय न करने का। इस दृष्टि से उन्हें लोकतांत्रिक प्राणाली उपयुक्त दिखाई देती है। अपना खुद का निर्णय कुछ नहीं, स्पष्ट मार्गदर्शन करने की अपनी क्षमता नहीं, इस स्थिति में लोकतांत्रिक पद्धति के नाम पर निर्णय की जिम्मेवारी लोगों पर डालना, परिणाम अच्छा निकला तो श्रेय में अपनी साझेदारी है ही, परिणाम बुरा निकला तो उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर नहीं। "आपने ही यह सामूहिक निर्णय लिया था" यह कहकर पूरी जिम्मेवारी और लोगों की ही है यह बताने के लिए पर्याप्त गुंजायश, और फिर इस तरह निर्णय की जिम्मेवारी टालते हुए यह श्रेय लेने के लिए भी पूरी गुंजायश कि हमारा स्वाभाव लोकतांत्रिक और उदार है।

ये दोनों शैलियां पूजनीय डॉक्टर जी के विचार तथा दूरदर्शिता के अनुकूल नहीं थीं।

दूरदर्शिता अर्थात् शेखमहंमदी स्वप्नरंजन नहीं है। कुछ बातें निश्चित होती हैं। ध्येय या अधिष्ठान, वहां तक जाने की दिशा, उपयुक्त साधन, आवश्यक विधि-निषेध आदि मौलिक बातों में निश्चितता होती है। किन्तु समय-समय पर निर्माण होने वाली परिस्थितियों में अनिश्चितता रहती है। अपने सहयोगियों के स्वभाव विशेष, विरोधकों के स्वाभाव विशेष तथा क्षमताएं, अकस्मात् आने वाली प्राकृतिक या मनुष्य निर्मित बाधाएं और घटित होने वाली घटनाएं, सर्वसाधारण जनमानस का झुकाव, जिन पर अपना

नियंत्रण नहीं, ऐसी विविध तत्वों और ताकतों की गतिविधियां आदि बातों के कारण परिस्थितियां किस समय कैसा मोड़ लेंगी यह अनिश्चितता हमेशा बनी रहती है। उनके प्रभाव में आकर कुछ लोग केवल प्रवाह-पतित बनना स्वीकार कर लेते हैं, यह उचित नहीं। किन्तु भविष्य की दिशा के विषय में मन में केवल एक ही अनुमान रखकर योजनाएं बनाना भी उचित नहीं है। आने वाली परिस्थितियों के कितने विभिन्न विकल्प हो सकते हैं इसका सर्वंकष विचार करना, सभी वैकल्पिक परिस्थितियों की सम्यक् कल्पना करना, और हर एक वैकल्पिक परिथिति में कार्य को आगे कैसे बढ़ाया जा सकता है इसकी विभिन्न योजनाएं मन में तैयार रखना दूरदर्शिता का लक्षण है। नेपोलियन कहा करता था कि—''परिथिति ने कैसी भी करवट ली तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होता, मैं उसके लिए पहले से ही तैयार रहता हूँ, क्योंकि मै सभी वैकल्पिक परिथितियों की पहले ही कल्पना कर लेता हूँ।'' मास्को अपने हाथ में आने के बाद वहाँ का प्रशासन किस तरह का होना चाहिए, इसका प्रारूप एक जेब में रखना, और साथ ही रूसी सेनाएं बर्लिन में घुस आईं तो बर्लिन का बचाव कैसे करना, इसका प्रारूप दूसरी जेब में रखना, यह दूरदर्शिता है। निश्चित बातों के प्रकाश में सर्वथा अनिश्चित भविष्य काल के विषय में बनाने वाली योजनाओं में लचीलापन होना चाहिए, यह स्पष्ट है। यह लचीलापन याने प्रवाहपतितत्व नहीं हैं। यह निश्चयात्मिका बुद्धि का अभाव नहीं, परिपक्वता है।

जन्मजात देश-भक्ति, समकालीन सभी सार्वजनिक कार्यों में प्रत्यक्ष सक्रिय सहभाग, विभिन्न देशी-विदेशी विचारधाराओं का अध्ययन और इन सब बातों के चलते हुए स्वयं अपना गहन, मौलिक और दूरदर्शी चिंतन, पूजनीय डॉक्टरजी की विशेषता थी और इसी के फलस्वरूप राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का निर्माण हुआ, यह तथ्य अब सब जानते हैं।

सभी सम्बन्धित विषयों पर उनके अपने निश्चित विचार थे, किन्तु उनको प्रकट करने में उन्होंने कभी भी जल्दबाजी नहीं की।

उनकी अपनी विशिष्ट कार्यशैली थी। संघ के ध्येय आदि अपरिवर्तनीय विषयों की बात अलग है। उनके बारे में तो समझौते का प्रश्न ही नहीं था। वे जानते थे कि "Compromisation is an umbrella, not a roof."—समझौता केवल छाता है, छत नहीं। कार्यपद्धति की बात ही अलग थी। ऐसी स्थिति थी कि अपनी कोई भी पूर्वनियोजित बात यदि वे सबके सामने सीधे रखते तो सभी उसको सहर्ष स्वीकार करते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। हर विषय में उचित निर्णय हो, यह चिंता तो उन्हें अवश्य थी, किन्तु वे सोचते थे कि किसी भी विषय में पहले ही स्वयं अपना मत प्रकट न करके अपने सहयोगियों की समझदारी का स्तर इतना ऊँचा किया जाय कि वे स्वयं अपने ही विचार से अभिप्रेत निर्णय पर पहुँच सकें, फिर यह प्रक्रिया पूरी होने में विलम्ब भले ही हो जाय। डॉक्टर जी का विचार था कि उतनी देर प्रतीक्षा करना अधिक लाभदायक होगा, बनिस्वत इसके कि अपना विचार कार्यकर्ताओं और सहयोगियों पर थोपा जाय। इस शैली

के लिए धीरज और इस आत्मविश्वास की भी आवश्यकता थी कि धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से मैं अपने सहयोगियों को अपने निष्कर्ष पर ले आऊंगा।

कार्य का नामकरण १७ अप्रैल, १९२६ को हुआ। इसके लिए हुई बैठक का प्राध्यापक दादा साहेब सावलापूरकर द्वारा दिया हुआ वृतान्त उद्बोधक है। बैठक में नाम के विषय में तीन सुझाव आये। भारतोद्धारक मण्डल, जरीपटका मण्डल और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। इस पर खुली चर्चा हुई और सबकी सहमति से तीसरा नाम स्वीकृत किया गया। प्रा० सावलापूरकर लिखते हैं, "डॉक्टर जी ने संस्था का नाम अपने मन में पहले ही निश्चित किया हुआ था।" प्रथम अपने साथियों की समझदारी का स्तर बढ़ाना और फिर सम्बन्धित विषय चर्चा के लिए लाना, उनकी कार्यशैली का क्रम था।

सन् १९२८ में यह सुझाव आया कि ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को (शिवाजी राज्याभिषेक दिन) नागपुर में स्वयंसेवकों का विशाल एकत्रीकरण किया जाय, इससे स्वयंसेवकों का आत्मविश्वास बढ़ेगा। डॉक्टरजी का मत था कि इससे विरोधी अधिक सतर्क तथा सक्रिय हो जायेंगे। किन्तु उन्होंने अपना विचार प्रकट नहीं किया। वे कार्यकर्ताओं को प्रारंभ में ही निराश नहीं करना चाहते थे। उन्होंने कहा—"इस सुझाव पर प्रदेश के प्रमुख संघचालकों की प्रतिक्रिया जानने के पश्चात् ही निर्णय लेना ठीक रहेगा"। पत्र लिखे गए। सभी के उत्तर विशाल कार्यक्रम करने के सुझाव के प्रतिकूल थे। अतएव यह विचार छोड़ दिया गया।

संघ कार्य की नींव मजबूत बनाने की दृष्टि से यह शैली बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई। डॉक्टर जी की यह मान्यता थी कि किसी भी संगठन में अनुशासन की गारंटी उसके संविधान की धाराओं में नहीं, अपितु सदस्यों की समझदारी के स्तर में है।

पूजनीय डॉक्टर जी के प्रदीर्घ गहन चिंतन और तपश्चर्या का परिपक्व फल है—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। उनका चिंतन मूलगामी भी था तथा दूरगामी भी। इस कारण बड़े से बड़े राष्ट्रीय प्रश्नों से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यक्तिगत मनोव्यापारों तक सभी बातों पर उनका चिकित्सक तथा रचनात्मक ध्यान रहता था।

सर्वसाधारण व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग की छोटी सी बात ही लीजिए।

"हिंदी" नहीं "हिन्दू"। "हिंदभूमि" नहीं, "हिन्दुभूमि"। "वयं संघीयाः" नहीं, "वयं हिन्दू राष्ट्रांङ्गभूताः"। "संघ की जय" नहीं, "भारतमाता की जय"। "संघ की बैंक" नहीं, "बैंक में संघ"। "संघ संस्था" नहीं, "अपना संघ रूपी राष्ट्र"। "राष्ट्र सेनापति" नहीं, "सरसंघचालक"।"सैनिकी संगठन" नहीं, "पारिवारिक संगठन"। "सभासद" नहीं, "स्वयंसेवक"। "राजकीय वर्ग" नहीं, "बौद्धिक वर्ग"। "मैं" नहीं, "हम"। "हमारे संघ का उत्सव" नहीं, "अपने संघ का उत्सव"। "अहिन्दू विरोध" नहीं, "हिन्दू संगठन"। "आपसी भेद नष्ट करो" नहीं, "हम सब एक हैं"। "शिवाजी

सुसंगठित अवस्था में लाना चाहता है, किन्तु संस्थाभाव (Institutionalism) मनुष्य स्वभाव-सुलभ होते हुए भी उसका सम्पूर्ण अभाव रह सके इस दृष्टि से समर्थ संस्कारों की योजना करना और मनसा-वाचा-कर्मणा इस विषय में सदैव सतर्कता रखी जा सके इस तरह की कार्यपद्धति का सूत्रपात करना, डॉक्टरजी की योजना की एतिहासिक विशेषता है। डॉक्टर जी के जन्म शताब्दी वर्ष (१९८९) में इस पहलू पर पूरा प्रकाश डाला गया है, इसलिए यहां इसका विस्तृत, सोदाहरण विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।

जिसके मन में संस्थाभाव (Institutionalism) है वह व्यक्ति क्या निम्नलिखित विचार अपने अनुयायियों को बता सकेगा ?

- In our country there are so many colleges of arts, but there are no colleges of heart.—अपने देश में कला के तो अनेक महाविद्यालय हैं किन्तु हृदय का महाविद्यालय एक भी नहीं है। मेरी अभिलाषा है कि हृदय परिवर्तन का भी महाविद्यालय बने।
- "लोगों से आत्यांतिक प्रेम करो। कांग्रेस, सोशलिस्ट, हिन्दू सभा आदि संस्थाओं के लोग अपने ही हैं। अतः उनसे शुद्ध मन से व्यवहार करो। कांग्रेस का कोई भी व्यक्ति हमसे द्वेष नहीं कर सकता। द्वेष का कारण ही कहां है ? दल भिन्न रहे तो भी मित्र के नाते हम व्यवहार में खुले दिल से एकत्र आ सकते हैं। हमें अपने ही मत के लोगों में काम नहीं करना है, तो विरोधकों को भी अपना बनाना है। इसलिए संघ के विषय में उनकी भावना शुद्ध चाहिए। अपना ध्वज तथा विचार-प्रणाली उन्हे अमान्य होगी तो भी हमको उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए। उन्हें हमारा द्वेष करने के लिए कोई कारण हमारी ओर से नहीं मिलना चाहिए। सभी बातें सुव्यवस्थित हों इसलिए अपना व्यवहार प्रेममय ही चाहिए। प्रेम के अलावा दूसरा मार्ग है ही नहीं। प्रेम तथा आदर बढ़ाते-बढ़ाते अपनी शक्ति बढ़ाते रहना चाहिए"।
- "देशकार्य कहीं भी रुक गया और उसे आगे ले जाने की क्षमता अपने पास है तो उस स्थिति में वह कार्य किस दल का है यह न देखते हुए उसको पूरा करने के लिए हमें आगे बढ़ना चाहिए।"
- "हम भगवान से प्रार्थना करें कि वह सबको सद्बुद्धि दे। किन्तु अपनी सद्विवेक बुद्धि और परमेश्वर का स्मरण करते हुए हमने कार्य किया तो भी यदि कोई नाराज हो जाय और अपना विरोध करे तो उसका कोई इलाज नहीं है। ऐसी बातों से डरकर हम कितने दिन चल सकते हैं ?"

यह वृत्ति पूजनीय डॉक्टरजी के पश्चात् भी कायम रही। प्रथम प्रतिबंध के पश्चात् पूज्य श्रीगुरुजी का "वयं पंचाधिकं शतम्" और द्वितीय प्रतिबंध के पश्चात् पूजनीय बालासाहेब का "भूल जाओ और क्षमा करो" (forget and forgive) का निर्देश इसी

वृत्ति का परिचायक है।

इसी मनोभूमिका में से संघ के साध्य-साधन-विवेक का उदय हुआ।

साध्य—"परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्"।

उसका आधार—"विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः"।

हिन्दुओं की विजयशालिनी संगठित कार्यशक्ति याने सम्पूर्ण हिन्दू समाज का विजयशाली संगठन कार्य का आधार, उसके द्वारा धर्म का संरक्षण, और उसके फलस्वरूप हिन्दू राष्ट्र का परम वैभव। यह है साध्य-साधन विवेक।

इसमें से आधारभूत कार्य, अर्थात् समाज संगठन, संघ करेगा। एक-एक हिन्दू के साथ सम्पर्क प्रस्थापित करना, उसके हृदय पर समाज के साथ एकात्मता और अंगांगीभाव का संस्कार अंकित करना, इस प्रकार के सुसंस्कारित हिन्दुओं अर्थात् स्वयंसेवकों का अनुशासनबद्ध संगठन निर्माण करना, और उस संगठन की सीमाएं बढ़ाते-बढ़ाते इतना बढ़ाना कि संघ स्थान की सीमाएं और हिन्दुस्थान की सीमाएं समव्याप्त हो जायं, और उस स्थिति में संघ समाज में विलीन हो जाय और समाज संघमय हो जाय। जिस तरह कोई भी जख्म जब तक पूरी तरह अच्छा नहीं होता तब तक उसके ऊपर झिल्ली बनी रहती है और जख्म पूरा अच्छा होते ही झिल्ली स्वयंमेव गल जाती है, उसी तरह जब तक विघटन का जख्म कायम है तब तक "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ" नाम की विशेष झिल्ली रहेगी। विघटन का जख्म जैसे ही भर जायगा वैसे ही "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ" नाम की झिल्ली भी स्वयंमेव गल जायेगी। और उस अवस्था में संघ और समाज एकरूप हो जायेंगे।

इस आधारभूत कार्य का समर्थ साधन, अर्थात् कार्यपद्धति—का डॉक्टर जी ने निर्माण किया। हर दिन हिन्दू कुछ समय के लिए एकत्रित आएं, एकत्रित आकर सामूहिक कार्यक्रम करें, सामूहिक समष्टिगत कार्यक्रमों के माध्यम से सामूहिक समष्टिगत मानसिकता निर्माण होती है, इस मनौवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार अपने-अपने हृदय में सामूहिकता का, समष्टि का संस्कार ग्रहण करें, और यह संस्कार ग्रहण की पुनरावृत्ति हर दिन करते रहें। जैसे पीतल के बर्तन को हर दिन मांजना पड़ता है, इस कार्यपद्धति का भी यही केन्द्र बिन्दु है। इस पद्धति का नाम है "शाखा"। कई दशकों के अनुभव के आधार पर सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सम्पूर्ण समाज को सुसंगठित करने की दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति दोनों अर्थों में स्वयंपूर्ण है। यदि इस कार्यपद्धति को लेकर चलें तो संगठन कार्य की सिद्धि के लिए दूसरी किसी भी पूरक कार्यपद्धति की आवश्कता नहीं है, और किसी भी मोह के कारण इस कार्यपद्धति का त्याग किया तो दूसरी कोई भी वैकल्पिक कार्यपद्धति ऐसी नहीं हो सकती, जो समाज संगठन का कार्य सिद्ध कर सकेगी। समाज संगठन के लिए समर्थ एक मात्र कार्यपद्धति अर्थात "शाखा"। "एषः पंथाः"।

कार्य-सिद्धि के लिए प्रमुख आधारभूत साधन है—शाखा। किन्तु "पर वैभवम्" तक पहुँचने की दृष्टि से राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न उपयुक्त कार्यों की रचना तथा विचारों का विकास करने की आवश्कता है। यह सब कैसे होगा? संघ अपने को सम्पर्क, संस्कार, स्वयंसेवक, संगठन तक ही सीमित रखेगा तो ये सब कार्य कौन करेगा? इन प्रश्नों के उत्तर में बताया गया कि ये सब कार्य होकर रहेंगे। कोई भी ऐसा कार्य नहीं बचेगा जो करणीय हो, किन्तु किया नहीं गया हो। किन्तु संघ अपनी निश्चित परिधि के बाहर नहीं जायगा। सम्पर्क, संस्कार, स्वयंसेवक, संगठन कितना कठिन कार्य है, यह बाहर के लोग नहीं जानते। वे समझते नहीं कि "स्वयंसेवक" और "मतदाता" में कितना गुणात्मक अंतर है। एक-एक स्वयंसेवक का निर्माण बहुत ही परिश्रम के फलस्वरूप होता है। संघ अपनी पूरी शक्ति इसी पर केन्द्रित करेगा तो भी इसको पूर्ण करने में बहुत समय लगेगा। यदि संघ अपना ध्यान इधर-उधर जाने देगा तो यह आधारभूत कार्य कभी पूरा होगा ही नहीं। इसलिए संघ तो इसी पर अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करेगा। किन्तु संघ से प्रेरणा और संस्कार प्राप्त किए हुए स्वयंसेवक अपनी रुचि, प्रकृति, प्रवृत्ति के अनुसार राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे और अपने-अपने क्षेत्र में संघ द्वारा बताये हुए पथ्य तथा निषेधों का पालन करते हुए उपयुक्त कार्यों की रचना तथा विचारों का विकास करेंगे। इस प्रकार राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य सम्पन्न होगा। मानो एक तरह से यह श्रम-विभाजन है। संघ स्वयंसेवकों का निर्माण करेगा, स्वयंसेवक विविध कार्यों तथा विचारों का विकास करेंगे। यह करते समय बरतने की सावधानियां, पालन करने के पथ्य, विविध कार्यों के तौलनिक महत्व की प्रमाणबद्धता (Sense of proportion) तथा प्राथमिक-क्रम (Order of priorities) आदि सभी बातों पर सूक्ष्मता से दूरदर्शी विचार करते हुए राष्ट्र-पुनर्निर्माण की संघ की सर्वंकष योजना (All out Scheme) सोची गई। योजना सर्वसमावेशक है; किन्तु साथ ही यह भी आग्रहपूर्वक कहा गया कि इसका मूलाधार शाखा ही है। इन सभी कार्यों की रचना पिरामिड के समान रहनी चाहिए। पिरामिड में चूना, सीमेंट आदि का उपयोग नहीं किया गया। केवल बड़े-बड़े पत्थर एक के ऊपर एक रखकर पिरामिड बनाए गए। फिर भी वे ३-४ हजार वर्षों से जैसे के वैसे खड़े हैं। इसका रहस्य क्या है? इसका रहस्य है उनका पहला स्तर सबसे विस्तृत होना, दूसरा उससे छोटा, तीसरा दूसरे से छोटा, और चौथा तीसरे से छोटा, इस तरकीब से सारे पत्थर एक दूसरे पर जमाकर (Standing) रखे गए हैं। यदि कोई व्यक्ति सोचे कि मैं उल्टा पिरामिड (Inverted Pyramid) बनाऊंगा, जिसका पहला स्तर सबसे छोटा होगा और ऊपर का स्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत होने वाला होगा, तो ऐसा पिरामिड बनते-बनते ही गिर जायगा। संघ-सृष्टि के पिरामिड का पहला आधारभूत स्तर याने शाखा है। यह स्तर छोटा रहा और इसके ऊपर के विभिन्न संस्थाओं के स्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत बनने वाले रहे तो इस सृष्टि का यह पिरामिड बनते-बनते ही टूट

जायेगा, सारे पत्थर गिर जायेंगे। योजना सर्वंकष है, किन्तु क्रियान्वयन का मूलाधार, केन्द्र-बिन्दु, शाखा है। जिस तरह संघ-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु ''हिन्दू राष्ट्र'' है, बिना हिंदू राष्ट्र के संघ-दर्शन अर्थात् बिना प्रिन्स ऑफ डेन्मार्क के ''हॅम्लेट'' नाटक, वैसे ही संघ-योजना का केन्द्र-बिन्दू शाखा है, बिना शाखा के संघ-योजना अर्थात् बिना छेना के रसगुल्ला या बगैर पौरुष के पुरुष।

* * * *

औषधि कितनी भी गुणकारी क्यों न हो, उसके साथ बताए हुए पथ्यों का पालन नहीं किया तो उसकी गुणकारिता कम हो जाती है। संघ की कार्यपद्धति की भी बात ऐसी ही है। इसकी परिणामकारकता इस बात पर अवलम्बित है कि स्वयंसेवक पथ्यों का पालन कहां तक करते हैं। पथ्यों का पालन दो कारणों से कठिन हो जाता है। एक, मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ। इसके कारण स्वतंत्रतापूर्व काल में भी कठिनाइयां आती थीं। और दूसरा, स्वातंत्र्योत्तर कालखण्ड में सार्वजनिक जीवन में निर्माण हुए विशेष कीटाणु, जिनके संस्पर्श से खुद को बचाना अच्छे-अच्छे लोगों के लिए भी दुष्कर हो जाता है। जहाँ गलत जीवन-मूल्य, गलत प्रतिष्ठानिकष, ध्येयवादिता का ह्रास, व्यक्तिवाद का बोलबाला, सस्ती लोकप्रियता की होड़, तात्कालिक व्यक्तिगत लाभ के लिए चिरकालीन राष्ट्रीय क्षति को स्वीकार करने की प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष कार्यविरहित प्रसिद्धि प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदि कई बातों के कारण देश के सार्वजनिक जीवन में विषैला वायुमण्डल फैल गया हो वहां सही व्यवहार करने वालों को व्यवहार-शून्य पागल कहा जाता है। किन्तु हर एक गलत बात के दुष्परिणाम आगे चलकर भुगतने ही पड़ते हैं। तत्काल तो उससे लाभ ही लाभ दिखाई देता है।

ऐसी सभी वर्तमान तथा संभाव्य बातों का दूरदृष्टि से विचार करते हुए उनके बारे में स्वयंसेवकों को सचेत करने का काम सन् १९२५ में ही प्रारंभ हुआ था और अभी भी वह चल ही रहा है।

वैसे तो अपने आचार, व्यवहार तथा जीवन-पद्धति से पूजनीय डॉक्टर जी द्वारा उपस्थित किए हुए आदर्श उनके जन्म-शताब्दी वर्ष (१९८९) में पर्याप्त मात्रा में सबके ध्यान में आए हैं। उदाहरणार्थ, यह सब जानते हैं कि विशुद्ध प्रेम के कारण पूज्य डॉक्टरजी लोगों के सुख-दु:ख के साथ एकात्म हो जाते थे। व्यक्ति-जीवन तथा पारिवारिक जीवन में कुछ प्रसंग भौतिक महत्व रखते हैं। जैसे पुत्र-जन्म, नामकरण विधि, उपनयन, परीक्षा के लिए जाने का समय, परीक्षा पास होना या न पास होना, प्रथम वर्ग या डिस्टिंक्शन प्राप्त होना, बीमारी-रुग्णावस्था, अपघात (Accident), विवाह, मृत्यु, शवयात्रा, तेरहवीं, मासिक श्राद्ध, शिशु का नर्सरी में प्रथम प्रवेश, हाई स्कूल या कालेज में प्रथम प्रवेश, छात्रावास में रहने या स्वतंत्र कमरा लेकर रहने का प्रारम्भिक दिन, ऐसे कुछ

व्यक्ति-परिवार में किसी के बीमार होने के कारण जिनको रात-रात जागरण करना पड़ रहा है, दुर्घटना के कारण जो शोकाकुल है, शारीरिक अक्षमता, मंदबुद्धि या मानसिक रुग्णावस्था के कारण जो सार्वजनिक उपहास का विषय बने हैं, दुर्लक्षित तथा उपेक्षित, या जिनके मन में यह भावना है कि "हम दुर्लक्षित, उपेक्षित है", समाज के दुर्बल घटक या ऐसे घटक जो स्वयं अपने को दुर्बल मानते हैं—इस प्रकार के सभी प्रसंगों में और सभी व्यक्तियों को डॉक्टर जी के हार्दिक प्रेम का अनुभव आता था। उनका सम्पूर्ण जीवन इस प्रकार के नानाविध आदर्श प्रस्तुत करने वाला था। किन्तु इसके अलावा भी कार्यपद्धति तथा कार्य की दृष्टि से संभाव्य गलतियों के विषय में स्वयंसेवकों को पहले से ही सावधान करने का कार्य भी उन्होंने दूरदर्शितापूर्वक प्रारंभ से किया।

* * * *

केशव उवाच :-

- किसी भी परिस्थिति की चिंता न करते हुए कम से कम एक स्थान पर प्रतिदिन इकट्ठा होने के कार्यक्रम पर बल दिया जाय।
- Sangh does not take part in day-to-day politics. (संघ दिन-प्रतिदिन की प्रचलित राजनीति में भाग नहीं लेता है।)
- शिशुओं का गणप्रमुख त्यागी होना चाहिए। शिशुओं को खिलाना सरल काम नहीं है। उन्हें खिलाते-खिलाते कभी-कभी नीरसपन एवं ऊब आने लगती है। किन्तु ये ऊबानेवाले काम राष्ट्र के लिए करने ही पड़ते हैं। आज के नेतागण ये काम नहीं करते। राष्ट्रीय संगठन का काम अत्यन्त कष्ट और कसाले का है। परन्तु उसमें से ही तेज निर्माण होता है। नागपुर की शाखा में पहले जो शिशु आते थे वे ही आज उत्साही तरुण कार्यकर्ता बनकर काम कर रहे हैं। इसी प्रकार आज के बाल स्वयंसेवक हमारी भावी शक्ति हैं।....बाल स्वयंसेवकों के कारण ही आज संघ की शोभा है।
- स्वयंसेवक-वृद्धि की कला हमें अवगत कर लेनी चाहिए तथा कोई भी बात अभ्यास से सिद्ध हो सकती है।
- हमारा आग्रह लेखन, भाषण, प्रकाशन आदि पर न होकर सब-का-सब बल कार्य करने पर है।
- हमें जो सफलता मिली है वह स्वयंसेवकों की निष्ठा और अध्यवसाय के बल पर है, सामाचारपत्रों के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता था।
- लाखों लोगों का सुसम्बद्ध रूप से संग्रह करने वालों के लिए श्रीसमर्थ रामदास द्वारा

ग्रंथित संगठन के सूत्र व्यवहार में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

- काम बढ़ाओ अन्यथा विशाल कार्यालय बना दोगे और उसमें अंग्रेज ठाठ के साथ अपनी कचहरी लगाकर बैठेंगे।
- संघ केवल शब्दों का खेल न होकर एक आचरणीय जीवन-पद्धति है तथा मन और तन को उस पद्धति की आदत लगाने के लिए संघ के दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रम अत्यंत प्रभावी साधन हैं।
- लोगों की मनोवृत्ति पर परिणाम करने के लिए समाचारपत्रों का थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य है, किन्तु एक टिकाऊ एवं अनुशासनपूर्ण संगठन निर्माण करने में उनका कोई उपयोग एवं महत्त्व नहीं है। इसके लिए तो स्वयंसेवकों को नित्य एकत्र करके खेल-कूद, लाठी-काठी, संचलन, गीत, बौद्धिक और प्रार्थना द्वारा संस्कार करने वाले कार्यक्रम ही प्रभावी होते हैं।
- मेरी इच्छा सफेद को काला (कागजी कार्य) न करते हुए हिन्दुओं का अभेद्य एवं अजेय संगठन निर्माण करने की है।
- निरंतर बढ़ने वाला प्रत्यक्ष कार्य ही बिना कारण आघात करने वालों को सही उत्तर होता है।
- सत्याग्रह में जो लोग भाग लेना चाहते हैं वे व्यक्तिगत रूप से भाग ले सकते हैं।
- आपने जिन व्याख्याताओं की योजना की है वे बहुत तरुण हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में भाषण देने की लत अभी से लग जाना उनके लिए ठीक नहीं होगा। यह हो गया तो उनकी मनोवृत्ति में अपनी दृष्टि से अवांछनीय परिवर्तन हो सकता है।
- आपके यहां के समाचारपत्रों में संघ के विरुद्ध उठा हुआ तूफान हम सबके लिए खूब विनोद का विषय बन गया है। हमारे मन पर इन बातों का कोई परिणाम नहीं होता। आप इस विषय में निःशंक रहें। किन्तु आप इस बात की चिंता अवश्य करें कि इस प्रकार के अपप्रचार से आपके यहां के कार्य को किसी प्रकार का धक्का न लगने पाए। इस प्रकार की बातों से अपने कार्य की निश्चित वृद्धि होगी, इसमें कतई शंका नहीं है।
- इस तरह प्रसिद्धि हुई तो कार्य के प्रथमारम्भ में ही तरह-तरह के विघ्न आयेंगे। इस कारण हमें अपने कार्यारंभ में ही प्रसिद्धि नहीं चाहिए। लोगों के सामने दृश्य स्वरूप में कार्य आता है तो अपने आप उसकी प्रसिद्धि होती है और वह संगठन के लिए हितकारक हुआ करती है।
- इसमें कतई शंका नहीं कि (आप निकाल रहे) इस पत्र के द्वारा सदैव अपनी ही विचार-सरणी का प्रतिपादन होगा। किन्तु संघ पर विभिन्न लोगों द्वारा किए जाने वाले आरोप तथा उनके उत्तर-प्रत्युत्तर के झगड़े में आप बिल्कुल न पड़ें। आजकल

आपके यहां के पत्रों में संघ पर अनेक प्रकार के झूठे आरोप पढ़ने को मिलते हैं। ये आरोप चाहे समाचरपत्रों में हों अथवा सार्वजनिक सभाओं में, हमें उनका उत्तर न देते हुए उनकी ओर पूर्णतः दुर्लक्ष्य करना चाहिए।

- मान लीजिए किसी घर में आग लगने पर कुछ व्यक्ति घर के आदमियों को बचाने की कोशिश कर रहे हैं, उस समय यदि कोई कहने लगे कि "बरामदे की बल्ली में भी आग लगी है, यदि आप उसे नहीं बचा सकते तो आपके प्रयत्नों का क्या उपयोग?" तो उसका यह कहना ठीक होगा क्या? आज देश की ऐसी ही स्थिति है। संघ ने समाज-जागरण का कार्य अपने हाथ में लिया है। जिन्हें दूसरे भाग जलते हुए दिख रहे हैं तथा उनके सम्बन्ध में उनके मन में वेदना है तो वे अवश्य काम करें, किन्तु संगठित समाज निर्माण होने तक संघ ही सब कुछ करेगा, ऐसी अपेक्षा किसी को नहीं रखनी चाहिए। हम वह स्थिति निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि जिसके बाद "संघ क्या करेंगा" यह प्रश्न पूछने की आवश्यकता ही न रह जाय।
- क्षणमात्र के लिए उत्साहवर्धक तथा तात्कालिक वीरता प्रगट करने वाले कार्यक्रम से संघ अलिप्त रहे, क्योंकि उनसे संगठन की मजबूती को धक्का लग सकता है।
- संघ का प्रत्येक अधिकारी संघ की सम्पूर्ण शिक्षा का तज्ञ होना चाहिए।
- स्वयंसेवक के जीवन में यदि कोई हर्ष का प्रसंग उपस्थित हो तो उसका परिणाम संघ-कार्य की वृद्धि में होना चाहिए।
- राष्ट्र-सेवा में लीन व्यक्ति में यदि प्रसिद्धि की कामना जग गई तो फिर उसकी दृष्टि सेवा से हट जाती है।
- देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए आत्मीयता से अपना सार सर्वस्व अर्पण करने के लिए सिद्ध नेता को हम स्वयंसेवक समझते हैं तथा संघ का लक्ष्य इस प्रकार के स्वयंसेवकों के निर्माण का है। इस संगठन में स्वयंसेवक और नेता में भेद नहीं है। हम सभी स्वयंसेवक हैं यह जानकर ही हम एक दूसरे को समान समझते हैं तथा सबसे समान रूप से प्रेम करते हैं। हम किसी प्रकार के भेद को प्रश्रय नहीं देते। धन तथा अन्य साधनों का आधार न होते हुए भी संघकार्य की इतने थोड़े समय में इतनी वृद्धि का यही रहस्य है।
- संघ बंद करना सरकार के लिए संभव नहीं। सरकार संघ बन्द नहीं कर सकती, क्योंकि यह तो अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना ही होगा। जिस दिन सरकार संघ को गैर-कानूनी बताकर बन्द करेगी उसी दिन नागपुर में दो सौ शाखाएं हो जाएंगी। संघ में जितने स्वयंसेवक हैं उतनी ही शाखाएं संघ बन्द करने के बाद निर्माण होंगी। मैंने यह सब सभी स्वयंसेवकों के भरोसे, उनके कर्तृत्व पर विश्वास रखकर कहा है।
- काशी विश्वेश्वर के पास मस्जिद तथा गंगा के घाट पर मीनार क्यों खड़ी है? हिन्दू

मन में तो यह प्रश्न ही नहीं पैदा होता और न उसकी पीड़ा ही उसे अनुभव होती है। मत भूलिये कि संघ इस अवस्था को बदलना चाहता है।

– सस्ती लोकप्रियता के पीछे लगकर लोकमत के प्रवाह में बहते जाना सरल है, किन्तु सच्चे नेता का काम तो यह है कि यदि स्वतः की सद्विवेक बुद्धि को लोकमत की बात नहीं जंचे तो लोकमत के प्रवाह के विरुद्ध खड़ा रहकर भी अपना मत छाती ठोककर जनता के सामने रखे। प्रवाह के साथ-साथ बहना नेता का नहीं, अनुयायी का लक्षण है। सच्चा नेता तो वह है जो अपने मत के अनुसार परिस्थिति को बदलकर लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। नेतृत्व की कसौटी लोकमतानुवर्तित्व नहीं, लोकनियंत्रण है। अवसर पड़ने पर लोकमत के विरुद्ध जाने में भी न हिचकना ही सत्यनिष्ठा है।

– संघ ने चालू आंदोलन में भाग लेने का निर्णय अभी नहीं किया है। व्यक्तिशः जिस किसी को भाग लेना हो उसे अपने संघचालक की अनुमति से भाग लेने में कोई प्रतिवाद नहीं है। संघ के कार्य के लिए जो रीति पोषक हो ऐसी रीति से ही वह कार्य करें।

– संघ की स्थापना से जनवरी १९३० तक और तब से आज तक का सब हिसाब, इस प्रकार जांचकर ठीक-ठीक तैयार करना कि कोई भी आलोचक उसमें दोष न निकाल सके। कारण इसके आगे इस व्यवस्थितता की अत्यंत आवश्यकता है।

– परंतु मेरे इस काम के लिए अयोग्य होने के कारण मुझसे संघ का नुकसान होता है ऐसा यदि आपको लगे तो दूसरा योग्य मनुष्य इस स्थान के लिए ढूंढ निकालिये। आपकी आज्ञा से जितने आनन्द के साथ मैंने यह पद स्वीकार किया है उतने ही आनन्द से आपके द्वारा नियोजित व्यक्ति के हाथ में सब अधिकार-सूत्र देकर उसी क्षण से उसके आज्ञापालक स्वयंसेवक के नाते चलूंगा।

कारण, मेरे लिए अपने व्यक्तित्व का मूल्य नहीं, संघ कार्य का मूल्य है, और संघ के हित के लिए कोई भी बात करने में मुझे किसी भी प्रकार का अपमान कभी प्रतीत नहीं होगा।

संघचालक की आज्ञा का किसी भी परिस्थिति में स्वयंसेवक के द्वारा बिना ननु-नच किए पालन होना आवश्यक है तथा ''नाक से भारी नथ'' वाली स्थिति संघ में कभी न उत्पन्न होने देने में ही संघकार्य का रहस्य है।

अतः स्वतः वह आज्ञापालन करना तथा दूसरे स्वयंसेवक से भी उसका पालन करवाना, प्रत्येक स्वयंसेवक का कर्तव्य है।

– राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ किसी भी व्यक्ति को गुरू न मानकर परम पवित्र भगवद्ध्वज को ही गुरू मानता है। व्यक्ति कितना भी महान हो फिर भी उसमें अपूर्णता रह

सकती है। इसके अतिरिक्त यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति सदैव ही अडिग रहेगा। तत्व सदा अटल रहता है। उस तत्व का प्रतीक भगवाध्वज भी अटल है।

– बताया हुआ काम करने के लिए हुआ करता है, उसका ढोल पीटने के लिए नहीं। यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि यदि अकेले मैंने काम से जी चुराया तो कौन सा बड़ा बिगड़ने वाला है। यह काम की सही पद्धति नहीं है।

केवल उदाहरण के नाते डॉक्टरजी के ये वचन यहां उद्धृत किए हैं। वैसे तो उनके मुख से निकलने वाला हर एक शब्द और शरीर द्वारा होने वाली हर एक क्रिया स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करने वाली थी कि हर क्षण किस-किस पथ्य का पालन करना कार्य-सिद्धि के लिए आवश्यक है।

*　　*　　*　　*

पूजनीय डॉक्टरजी ने ही २१ जून, १९४० के पश्चात् श्रीगुरूजी के रूप में अपना अभीष्ट कार्य आगे बढ़ाया।

दोनों के परस्पर संबंधों की कल्पना संत ज्ञानेश्वर के इन शब्दों में दी जा सकती है–

"हृदया हृदय एक जाले। ये हृदयींचे ते हृदयीं घातले।
द्वैत न मोडितां केलें। आपणारो से अर्जुन।।"

हृदय से हृदय एक हुआ। इस हृदय को उस हृदय में डाला।
द्वैत न मोडते हुए, किया अपने जैसा अर्जुन को।।

*　　*　　*　　*

माधव उवाच :–

- राष्ट्र पुनर्निर्माण की पूर्व नियोजित सर्वंकष योजना का जैसे-जैसे समयानुकूल उत्तरोत्तर उन्मीलन होने लगा वैसे-वैसे नवनवीन परिस्थितियों में मूल योजना तथा उसके लिए आधारभूत कार्यपद्धति का स्वरूप पूर्ववत् अक्षुण रहे, मनुष्य स्वभाव सुलभ दोषों से अस्पृश्य रहे, इस हेतु पूर्व चिंतित पथ्यों का जो नवनवीन विवेचन श्रीगुरूजी को करना पड़ा, उसका पूरा विवरण यहां संभव नहीं, अपेक्षित भी नहीं है। नमूने के तौर पर कुछ बातें यहां रखना पर्याप्त होगा। मनु महर्षि ने कहा है कि प्राकृतिक दुर्बलताओं के वशीभूत होकर मनुष्य स्वाभाविक रूप से व्यवहार करता है।

"प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्–निवृत्तिस्तु महाफला।।"

इस कारण निवृत्ति के पथ्यों के विषय में बार-बार चेतावनी देनी पड़ती है।

- भले ही कुछ लोग अलग-अलग पार्टियों में हों, क्या वह लोग हिन्दू नहीं हैं? हां, वे

अवश्य हिन्दू हैं, अतएव हमें उनसे मिलना ही होगा। सब लोगों को अपना बनाना ही तो हमारा धर्म है।

- अभी कुछ दिन पूर्व हम लोगों ने जनसंपर्क किया। जनसंपर्क का कार्यक्रम अल्पमात्रा में हुआ। विचार करना चाहिए कि किसी समय जनसंपर्क करने के लिए हमें विशेष रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है? अपना नित्य का जनसंपर्क नहीं होता, इसलिए। नित्य का संपर्क रहना चाहिए, यह अपने कार्य का स्वरूप है।

अभियान (कॅम्पेन) शब्द मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। कॅम्पेन यानी तात्कालिक (टेम्परेरी) याने थोड़े समय के लिए चलाना और फिर उसे भुला देना। हमें जनता का संपर्क जीता-जागता, नित्य के लिए बनाकर रखना है। अभियान अपने लिए उपयोगी नहीं है।

हां, यदि विवेकानन्द शिला स्मारक जैसे अवसर पर धन इकट्ठा करने के लिए थोड़ा अभियान है, तो ठीक है; क्योंकि वह नित्य कार्य नहीं है। वह अनित्य है। पर संघ कार्य, संघ का जनसंपर्क कार्य तो नित्य है। इसलिए वहां अभियान की भावना रखनी ही नहीं चाहिए।

तात्कालिक हेतु लेकर काम करना (अभियान इत्यादि) मुझे पसंद नहीं, किसी तात्कालिक हेतु का, संघ के नित्य कार्य से कोई मेल नहीं।

किसी तात्कालिक हेतु को लेकर जैसे-जैसे काम होता है, वैसे-वैसे मनुष्य स्वयं को एक छोटी-सी दीवार के अंदर बंद करने लगता है। यानी कार्य का पंथ बनने लग जाता है। फिर बाहर देखने की, समाज के अंदर अन्य लोगों की ओर देखने की प्रवृत्ति कम होती है।......अपना तो संगठन है। अपना कोई पंथ नहीं, सम्प्रदाय नहीं।

- प्रतिदिन शाखा में जाना, यह तो अपने यहां एक "मिनिमम लेव्हल" (न्यूनतम स्तर) के रूप में रखा गया है। मिनिमम लेव्हल न छोड़ते हुए अपने यथार्थ गुणों का उपयोग संघ के लिए करना है। शास्त्र में दो प्रकार के कार्य बताए गये हैं। एक नित्य कर्म और दूसरा नैमित्तिक कर्म। यदि कोई कहे कि नैमित्तिक कर्म मैं कर सकता हूं, नित्यकर्म नहीं, तो यह धारणा हानिकारक होगी।

- संघ के कार्य का अन्यान्य क्षेत्र के कार्य से वैसा ही सम्बंध है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने अपना सम्बंध चराचर सृष्टि से बताया है।......समझने के लिए यह जरा जटिल बात है। इसी प्रकार का अपना भी संबंध विभिन्न कार्यों से है कि इसमें से हम किसी में नहीं और वे हमारे में नहीं। इस आधार पर हमारी उनसे अपेक्षा क्या है? संघ के कार्य, सिद्धांत, अनुशासन, सुव्यवस्था, ध्येयवाद आदि श्रेष्ठ भावों की इन विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति होती रहे, यह अपेक्षा है। अपने-अपने क्षेत्र को संघकार्य के लिए भर्ती का क्षेत्र "रिक्रूटिंग ग्राउंड" बनाएं। उनका संघकार्य के पोषण एवं अभिवृद्धि की दृष्टि से उपयोग करें।

- सर्वसाधारण नियम है कि जो अत्यंत प्रिय और आवश्यक मूल्यवान वस्तु हमें लेनी है

उसके लिए जो कुछ मूल्य देना होता है उसे हम सर्वप्रथम स्थान देते हैं, और फिर बचे हुए धन में से अपनी अन्य कम आवश्यकता की वस्तुओं का क्रय करते हैं। अपने सामने जीवन की सर्वशक्ति लगाकर जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है वह संघ-कार्य है। उसके लिए अपनी सर्वशक्ति लगाने की अपनी सिद्धता चाहिए।

- समाज संगठित करने के लिए उसके (शाखा के) दृढ़ आधार पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने विभिन्न गुणों का उपयोग करूंगा यह विचार हर एक स्वयंसेवक के मन में दृढ़ करना और उसको प्रोत्साहित करना आवश्यक है।
- अन्य क्षेत्रों में काम करते समय पालन करने के तीन पथ्य हैं–
  (१) अपने क्षेत्र में कार्य की रचना तथा विचारों का विकास संघ के सिद्धांतों-आदर्शो के प्रकाश में हो।
  (२) संघ में सिखाई हुई रीति-नीति और पद्धति को अपने-अपने क्षेत्र में प्रविष्ट किया जाय।
  (३) सामान्य स्वयंसेवक की तुलना में अधिक तत्परता से दैनंदिन, नित्य शाखा से सम्पर्क रखा जाये।
- संघ के स्वयंसेवक के नाते से विभिन्न क्षेत्र में काम करने वाले हम सभी के विचारों, भावनाओं एवं श्रद्धा का अधिष्ठान भी अधिक बलिष्ठ बना रहना चाहिए।
- एक ही राष्ट्र के लिए परंतु विभिन्न क्षेत्र में काम करने वाले हम लोगों को एक दूसरे के साथ मेल करके चलना है तथा एक राष्ट्रत्व का बोध अपने हृदय में जागृत रखना है। अपने विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा अपने साथ जो-जो लोग आते हैं उनको राष्ट्रभक्ति का योग्य संस्कार देने के लिए अपने संघ-कार्य की ओर आकृष्ट करना अपना धर्म है। लोगों के मन में किसी प्रकार की अन्यथा भावना उठने न देते हुए यह कार्य कुशलता से धीरे-धीरे करना है।
- किसी बड़े परिवार के कुछ युवक अनेक क्षेत्रों में यदि काम करने के लिए जाएं, तो उनका कर्तव्य है कि अपने खर्च मात्र के लिए घर से पैसा मंगवाकर अपने पराक्रम से अधिकाधिक मात्रा में सम्पत्ति, समृद्धि व सम्मान प्राप्त करें, उसके द्वारा अपने कुल की प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य वृद्धि, श्रेष्ठत्व तथा प्रभाव बढ़ाएं। उसी प्रकार हम लोग भी विभिन्न प्रकार से चलने वाले इन कामों के विषय में सोचें कि अपना मूल कुल "संघ" है। उसकी सभी प्रकार से उन्नति होने के लिए जिस-जिस क्षेत्र में काम करेंगे, उस-उस क्षेत्र का उपयोग करते हुए अपने इस संघ-कार्य को समृद्ध करेंगे। इस कार्य का ही सब प्रकार से विस्तार और प्रभाव बढ़ायेंगे।
- हम स्वयंसेवक हैं। जिस प्रकार कहीं भी रखे गए अंगारे अपने आसपास ऊष्णता

फैलाते हैं, उसी प्रकार एक-एक अग्निपुंज के समान अपना प्रत्येक स्वयंसेवक हर क्षेत्र में जाकर अपने गुण, अपनी तेजस्विता, अपने व्यवहार-माधुर्य से प्रभाव उत्पन्न करने वाला चाहिए, अपने चारों ओर संघ के लिए योग्य वायुमण्डल तथा अत्यंत श्रद्धा का भाव उत्पन्न करने वाला चाहिए। इसके विपरीत यदि अन्य क्षेत्रों में पाई जाने वाली कई प्रकार की न्यूनताओं को हमने अपने अंदर आने दिया और वहां दिखाई देने वाली व्यक्तिगत ईर्ष्या और स्पर्धा का स्वयं को शिकार बनने दिया तो कहना पड़ेगा कि स्वयंसेवक का कर्तव्य हमने नहीं निभाया।

- यदि अन्य क्षेत्रों के वर्तमान गुणावगुणों को लेकर हम चलें तथा सोचने लगें कि संघ से अपना कोई सम्बन्ध नहीं, तब तो स्वयंसेवक के नाते किसी अन्य कार्य में जाना कदापि उपयोगी नहीं होगा।
- इसलिए अपने विभिन्न कार्यों में भी अपने मन का पूर्ण संतुलन रखकर मूलकार्य के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए उन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के कार्य का हम अपने इस मूल कार्य के परिपोषण के लिए अधिकाधिक मात्रा में उपयोग करें।
- अपने कुछ मित्रों से कहा कि राजनीति में काम करो। तो इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें उसके लिए बड़ी रुचि या प्रेरणा है। यदि, उन्हें राजनीति से वापस आने को कहा तो उसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। अपने को गंदगी उठाने को कहा तो गंदगी उठाना चाहिए। उसी में संघकार्य होगा। जहां रख दिया जाय वहीं काम करना चाहिए—"विदाउट रिजर्वेशन"। तभी कार्य करने की पात्रता उत्पन्न होती है।
- अपने कुछ स्वयंसेवक राजनीति में काम करते हैं। उन्हें कार्य की आवश्कयता के अनुरूप जलसे, जुलूस आदि करने पड़ते हैं। इन सब बातों का हमारे काम में कोई स्थान नहीं है। परंतु नाटक के पात्र के समान जो भूमिका ली उसका योग्य निर्वाह तो करना ही चाहिए। किन्तु इस नाटक की भूमिका से आगे बढ़कर कभी-कभी लोगों के मन में उसका अभिनिवेश उत्पन्न हो जाता है। यहां तक कि फिर इस कार्य में आने के लिए वे अपात्र सिद्ध हो जाते हैं। यह तो ठीक नहीं।
- संघ के अतिरिक्त अन्यत्र कार्य करने वालों की दिशा में मोड़ उत्पन्न न हों, सिद्धांतों में भी ढीलापन न आए तथा राष्ट्रीय विचारों की तीव्रता किंचित भी कम न हो, यह अत्यंत आवश्यक है।
- समग्र समाज को अपने स्नेह के, आत्मीयता के, ध्येयवाद के, नियंत्रण में अपने साथ लेकर चलने वाला प्रबल, संगठित, सामर्थ्यशाली, हिन्दू समाज यदि राष्ट्रव्यापी बनकर खड़ा रहा तो राजसत्ता नियंत्रित रहेगी। चाहे कोई भी दल राजसत्ता पर बैठे, परन्तु सबको प्रणाम यहीं करना होगा, जहां समाज की नि:स्वार्थ सेवा मूर्तिमंत प्रकट हुई है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करना है।

- तात्कालिक चुनावों की सफलता कार्य का मापदण्ड नहीं है। वास्तविक रूप से जनसाधारण के विचार परिवर्तन, उनका स्थायी होना, सच्चाई से विचारों पर दृढ़ रहना, ''राष्ट्रीय'' चारित्र्य युक्त होने के फलस्वरूप सामयिक भावनाओं की लहरों में न बहने की शक्ति रहना, आदि बातों में कितनी सफलता मिली है, यही विचारणीय है, ऐसा मुझे लगता है।''
- अन्य यूनियन के कुशल कार्यकर्त्ताओं से आत्मीयता के सम्बन्ध प्रस्थापित करो।
- कांग्रेसी आदि नामों से प्रसिद्ध अपने बन्धुओं को अपनाकर नगरपालिका में पूर्ण सहयोग का वातावरण निर्माण करें।
- राजनीति में रूचि लेने वालों या उसके अनुकूल विचार करने वालों की अपेक्षा अपना अनादिकाल से चलता आ रहा समाज जीवन और उसके आदर्शों को अपनाकर अपनी संस्कृति को जीवन में चरितार्थ करने वाले और इसी दृष्टिकोण को जनसाधारण के पास योग्य शब्दों में पहुँचाने की कामना करने वाले पुरुषों की संघ को अधिक आवश्यकता है।
- ''सिख और हिन्दू'' भेदभाव निर्माण करने वाले शब्द प्रयोगों का सर्वथा त्याग कर ''हिंदू'' शब्द में शैव, वैष्णावादि, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाज आदि सबका अन्तर्भाव है, इस तथ्य के अनुरूप ही बोलने-लिखने से सत्यानुकूल बरतने की दक्षता अपने सब कार्य करने वाले महानुभाव व्यवहृत करें।
- नये कार्य में कभी-कभी स्वार्थपरता, अहंकार, बड़प्पन की चाह, स्पर्धा, ईर्ष्यादि अवगुण, अन्य सबको हीन मानकर उनकी खिल्ली उड़ाने की अनिष्ट प्रवृत्ति आदि बातें पैदा होती हैं। स्वपक्ष का मंडन, दूसरों का खंडन आदि करते समय अनेक बार अपने अनजाने ये और ऐसे अनेक अवगुण हृदय में प्रवेश करके बढ़ने लगते हैं। तथापि आपके पूर्वायुष्य की संस्कार-निर्माण तथा दृढ़ीकरण की योजना से आपका नित्य, नियमित दैनिक सम्पर्क रहने से आप सुरिक्षत रहकर कार्यकर्ताओं का आचरण और आदर्श सार्वजनिक समझे जाने वाले कामों में भी कैसा शुद्ध रहता है, यह आप अपने व्यवहार से सिद्ध करेंगे, यह मुझे विश्वास है।
- परस्पर के दोषदर्शन की प्रवृत्ति स्वभाव सुलभ है, परंतु कार्य-पोषक नहीं। जो विषय मुझे सूचित किया गया है, वह योग्य दायित्व के साथ संबंधित काम करने वाले कार्यकर्ताओं के सामने खुले मन से, कटुता-वैमनस्य आदि निर्माण नहीं होगा, इस ढंग से रखा जाता, तो ठीक होता। संबंधित कार्यकर्त्ताओं को जान-बूझकर टालकर व्यवहार करने की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक हो तो भी कार्य विघातक हो सकती है, यह नित्य ध्यान रखें।
- ग्रीष्म के परिणामस्वरूप कुछ स्थानों की शाखाएं बंद पड़ जाती हैं, ऐसा पुराना

अनुभव है। परन्तु इसका विशेष विचार किसी ने नहीं किया है। ..... इसलिए अभी से ध्यान रखकर ग्रीष्मकाल में ही नहीं, तो निरन्तर शाखाओं का दायित्व संभाल सकने वाले स्वयंसेवक बंधु स्थान-स्थान पर रहेंगे, ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

- जो उद्देश्य हम प्राप्त करना चाहते हैं उसे हम राजनीति द्वारा अथवा सत्ता के द्वारा पा सकेंगे ऐसा संभ्रम हमारे मन में थोड़ा भी न रहे। अपना कार्य राजनीति को उच्छृंखल न होने देने के लिए उस पर अंकुश रखने वाली शक्ति के निर्माण का कार्य है। परंतु उसके लिए शर्त यह है कि हम अपने कार्य को खूब बढ़ाएं और हम सब अपने निजी गुणों का उपयोग कार्य-वृद्धि में करें। और अभिमान रहे कार्य की श्रेष्ठता का, न कि अपने व्यक्तिगत गुणों का।

• I have had to write this because on my way I had a very unpleasant experience. At Vindhyachala Station, there was such shouting of 'Jai' and other exuberance of undisciplined enthusiasm that I did not feel quite happy and our worker in that district Shri............... was visibly affected by the whole affairs. He could not possibly control it. Anyway, we have to gradually guide peoples love and enthusiasm into proper channels. No use getting merely upset or annoyed, workers concerned may be intimated about this.

(मुझे यह इसलिए लिखना पड़ा क्योंकि रास्ते में मुझे एक बहुत ही अप्रिय अनुभव हुआ था। विन्ध्याचल स्टेशन पर ''जय'' के इतने जोर से नारे लगे, शोरगुल हुआ तथा अनुशासनहीन उत्साह कुछ इस प्रकार फूट पड़ा कि मुझे यह देखकर प्रसन्नता नहीं हुई और उस जिले में हमारे कार्यकर्त्ता श्री .... पर भी पूरे मामले का असर पड़ा, जो उनके चेहरे पर देखा जा सकता था। संभवत: वे यह सब नियंत्रित नहीं कर पाए। बहरहाल, हमें लोगों के प्रेम और उत्साह को धीरे-धीरे उचित स्वरूप में ढालना चाहिए। सिर्फ परेशान होने या गुस्सा करने से कोई लाभ नहीं है। हां, सम्बंधित कार्यकर्त्ताओं को इस बारे में बता देना चाहिए।)

• ....As you know my frame of mind, I would prefer to remain a small stone dug and pressed in the foundation of our great National edifice.

(.... .... जैसा कि आप मेरी मन:स्थिति समझते हो, मैं अपने महान राष्ट्रीय भवन की नींव का पत्थर बना रहना पसन्द करूंगा।)

• ....Especially in the present atmosphere of elections eating into the basic solidarity of our people and driving wedges to divide one part from another, effecting numerous cleavages and creating feelings of mutual distrust and hostility. In this vicious atmosphere we have to take particular care that our workers are not a prey to the prevailing poisonous atmosphere and also that our work grows in extent and strength so as to be able to re-educate the minds of the people into a firm belief in the Truth of our National Solidarity.

• (...........विशेषकर चुनावों के वर्तमान वातावरण में, जो हमारे नागरिकों की आधारभूत एकता को ही नष्ट किए दे रहे हैं और एक हिस्से को दूसरे से विभाजित करने के लिए दरारें पैदा कर रहे हैं, जिसके कारण अनेक मतभेद तथा परस्पर अविश्वास और शत्रुता पैदा हो रही है, इस विषैले वातावरण में हमें यह विशेष सावधानी बरतनी है कि हमारे कार्यकर्ता इस विषैले माहौल के शिकार न बनें और यह भी कि हमारे कार्य की व्यापकता और शक्ति में वृद्धि होती रहे ताकि इस राष्ट्रीय एकता के सत्य में अचल निष्ठा हेतु लोगों को पुनः संस्कारित (दीक्षित) कर सकें।

- इसलिए दिन-प्रतिदिन सुसंस्कारों का आदान-प्रदान करना, स्वयं अनुकूल वायुमण्डल निर्माण करके अन्य लोगों को भी संस्कार देना, इसी में से शाखा का स्वरूप निर्धारित हुआ। दिन-प्रतिदिन एकत्र जीवन, स्नेहपूर्ण व्यवहार आदि की शिक्षा देने वाले कार्यक्रम, अनुशासन, प्रार्थना के रूप में राष्ट्रचिंतन, हृदय में गहराई तक भावना का आरोपण हो सके इस तरह का आवाहन, यह नित्य करते रहने की योजना निरंतर चलाना, संघटन की दृष्टि से आवश्यक ऐसी रचना डॉक्टरजी ने की। कार्य योजना का यह सम्पूर्ण मर्म हमने समझना चाहिए।

* * * *

ब्रह्मलीन होने के पर्याप्त समय पूर्व पूजनीय श्रीगुरूजी आगामी घटनाक्रम की कल्पना कर चुके थे।

सन् १९७३ की प्रतिनिधि की बैठक के समारोप का उनका भाषण उसी मानसिक पृष्ठभूमि पर दिया गया। उनका वह अन्तिम सार्वजनिक भाषण था। उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों तथा निष्कर्षों का निचोड़ उन्होंने इस बिदाई के भाषण में सबके सामने रखा था। अपने अन्तिम संदेश का समारोप श्रीगुरूजी ने इन शब्दों में किया था—"साथ ही हमें ध्यान रखना चाहिए कि शाखा के बिना हम भिन्न-भिन्न कार्य नहीं कर पाएंगे। जहां

अपनी शाखा अच्छी प्रकार से चलती है वहां कोई भी कार्य उठाया तो उसे हम निश्चयपूर्वक सफल कर सकते हैं। अत: संघशाखा के कार्यक्रम, उसकी आचारपद्धति, स्वयंसेवक का व्यवहार, स्वभाव तथा उनके गुणोत्कर्ष आदि की ओर हम ध्यान दें और उनका प्रसार तथा दृढ़ीकरण करने का एकाग्रचित्त से प्रयत्न करें। इतना यदि हम करेंगे तो सब क्षेत्रों में हम लोग विजय प्राप्त करेंगे और जितना यह कार्य सुदृढ़ता से चलेगा और उसे हम एक अन्त:करण से करेंगे, उतनी अपने लिए सर्वदूर ''विजय ही विजय'' है, ऐसा मैं पूर्ण विश्वास से कहता हूं।''

—दत्तोपंत ठेंगड़ी

३

चिरन्तनता और तात्कालिकता

बीच में एक ऐसा कालखण्ड बीता कि अनेक लोगों को निर्श्चितता से भिन्न-भिन्न विचार-प्रवाहों का मूलगामी अध्ययन करने का अवसर मिला। मैं सोचता हूं कि उन्होंने इस बात पर भी विचार किया होगा कि उन विचार-प्रवाहों की पृष्ठभूमि में अपने कार्य का स्थान क्या है या उन विचार प्रवाहों के रहते अपने कार्य की आवश्यकता है भी या नहीं। अकर्मण्यावस्था में विचारों की ऐसी प्रेरणा होना, अपने आचरण पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। साथ ही यह बात भी दृष्टिगोचर होती है कि अपने दैनिक कार्यपद्धति के कारण जो स्वाभाविक रचना बनती गई वह भी इस कालखण्ड में नहीं रही। सम्पर्क भी कम हो गया। कार्यक्रमों में से स्वाभाविकतया पैदा होने वाले कुछ गुण अभ्यास के अभाव में कम हो गए। जब फिर से कार्य की रचना करने का अवसर प्राप्त हुआ तब अनेक अड़चनें और अनेक समस्याएं सामने आईं।

भिन्न-भिन्न विचारप्रवाहों के चिंतन के परिणामस्वरूप अपने कार्य के विषय में पहले जो एक दृढ़ धारणा थी उस पर अनेक प्रकार के आघातो का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हुआ। अनेक प्रश्न पूछे गए। उन प्रश्नों का संकलित उत्तर देने का प्रयास भी हुआ। बीच के कालखण्ड में इस प्रकार का जो आघात अपनी धारणाओं पर हुआ उस पर विचार करने के लिए वास्तव में ऊपर कहे ये कार्यक्रम हुए। उनका फल क्या निकला, यह कहना कम से कम मेरे लिए कठिन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि निष्कर्ष निकलना ही चाहिए, कुछ न कुछ विचार दृढ़ होना ही चाहिए। परन्तु इस अवस्था में मैं मात्र स्वाभाविकता से सोचता हूं कि ऐसी क्या बात हुई है जिससे भिन्न-भिन्न विचार अनेक लोगों के मन में पैदा होकर मतभेदों को अवसर मिला। मैंने बहुत सोचा, परन्तु अब तक मुझे कोई निश्चयात्मक

उत्तर नहीं मिला है। साधारणत: एक विचार आता है कि अनेक लोगों के अंत:करण में यह शंका आती हो कि अपने देश की परिस्थिति को देखते हुए पूर्व पद्धति से काम करने की कुछ आवश्यकता है या नहीं, इसका क्या हमें विचार नहीं करना चाहिए?

इस बारे में प्रथम प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या अपने देश की परिस्थिति में सचमुच परिवर्तन हुआ है? मेरी दृष्टि से तो परिस्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। एक स्थूल परिवर्तन मात्र दीखता है। पहले यहां विदेशियों का प्रत्यक्ष राज्य था, वे अब चले गए, इसलिए अनेकों को यह आभास होता है कि परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है। प्रत्यक्ष यहां जो विदेशी सत्ताधारी थे वे आज नहीं हैं, यह घटना सत्य है, इसके विषय में कोई विवाद नहीं है। इस घटना का अप्रत्यक्ष परिणाम क्या होगा यह धीरे-धीरे ज्ञात होगा ही। जनसाधारण पिछले दो वर्षों से विदेशी सत्ता का निर्मूलन करने संबंधी स्तुति स्तोत्र गाने में मशगूल है। परन्तु इस विषय पर भी जनसाधारण में अनेक बार परस्पर विरोध दिखाई देता है। उदाहरणार्थ १५ अगस्त, १९४७ को स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। उस अवसर पर एक स्थान पर एक फलक पर लिखा हुआ था, ''युद्ध किए बिना हमें स्वतंत्रता मिली है, रक्त की एक बूंद भी बहाये बिना हमने स्वतंत्रता प्राप्त की। विश्व के इतिहास में हमने अभूतपूर्व कार्य कर दिखाया है।'' दूसरी ओर यह कहा जा रहा था कि अपने पराक्रम, अपने त्याग और रुधिराभिषेक से हमने स्वतंत्रता प्राप्त की। इन परस्पर विरोधी विधानों की ओर क्षण भर दुर्लक्ष करके एक समान बात जनसाधारण अभिमान से बार-बार कह रहा है कि विदेशी सत्ता का निर्मूलन हुआ है। इस वायुमण्डल के कारण ऐसा लगता है कि परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है। पहले के समान प्रत्यक्ष रूप से विदेशी सत्ता आज अपने मार्ग में रोड़ा नहीं बन सकती है।

परन्तु इसके सिवा परिस्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है? संघ-स्थापना के प्रारंभ में देश में जो अवस्था थी उसमें से यह स्थूल रूप में हुआ एक परिवर्तन घटा दिया जाय, तो बाकी परिस्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है? हिन्दुस्थान में रहने वाले समाज वे ही हैं। उनके साथ के सम्बन्धों में भी परिवर्तन नहीं हुआ है। लोगों का अभिप्राय है कि परिवर्तन हुआ है। परंतु उसे मैं मानने को तैयार नहीं हूं। इतना ही कह सकते हैं कि ५० वर्ष पूर्व भिन्न-भिन्न समाज एक हो जाने का जो भ्रामक दृश्य और वातावरण निर्माण हुआ था वैसा ही आज पुन: एक बार पैदा हो गया है। उस समय इस वातावरण का प्रभाव इतना बढ़ा था कि हकीम अजमलखान रहीम एक राजनीतिक हिन्दू संस्था हिन्दू महासभा के स्वागताध्यक्ष नियुक्त हुए थे। अंग्रेजों के सार्वभौम शासन के कारण एक राष्ट्र भावना निर्माण होने का जो दृश्य उस समय दीखता था वह झूठा साबित हुआ। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे लोगों को उसकी असत्यता अनुभव हुई। आज वही ५० वर्ष पूर्व का भ्रामक दृश्य दिखाई दे रहा है। यहां रहने वाले भिन्न-भिन्न समाजों को आपस में लड़ने के लिए उद्यत करने वाले अंग्रेज चले गए हैं। इस आशा से कि अब सब कुछ ठीक हो जायेगा,

ऐसा मानना बड़ी भारी भूल होगी कि समाज सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ है। इस समस्या का फैसला तो कालगति द्वारा होगा। परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है यह भ्रामक धारणा अपने हृदय में जड़ जमा बैठी है। यदि वास्तविकता का ज्ञान हमें नहीं हुआ तो यह दिखावटी एकता छिन्न-विच्छिन्न होने का पुराना दृश्य हमें पुनरपि देखने को मिलेगा, पुराने अनुभव की पुनरावृत्ति होगी। समाजों—समाजों के परस्पर सम्बन्धों में कम से कम मुझे तो किसी तरह का परिवर्तन दिखाई नहीं देता।

इसके साथ ही संघ स्थापना के समय जो अन्य समस्याएं थीं वे ज्यों की त्यों हैं। वे समस्याएं क्या हैं आप भली-भांति जानते हैं। इस विश्व में अपना भी एक विशिष्ट जीवन है, इसका हमें ज्ञान नहीं है। ज्ञानशून्य, आशाशून्य, अपराक्रमीवृत्ति सारे समाज में दिखती है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिन-जिन दुर्गुणों के कारण अपना समाज निःसत्व और दुर्बल बना उनमें से प्रत्येक दुर्गुण ज्यों का त्यों है, तो अतिशयोक्ति प्रमाद नहीं माना जायेगा। १९२५ में जिस परिस्थिति में संघकार्य की आवश्यकता मालूम हुई उसमें और आज की परिस्थिति में यदि कोई अंतर हो तो वह यह है कि उस समय यह आवश्यकता समझने वाला एक ही पुरुष था और आज उसका विचार करने वाले अनेक लोग सर्वत्र दिखाई देते हैं। यदि यह सच है कि परिस्थिति में दृश्य मात्र का अंतर है, मूलभूत ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, तो मन पर जो आघात-प्रत्याघात होते हैं, संदेहपटल निर्माण होते हैं, उनका मूल कारण क्या है, इस विषय पर गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

मन में संदेह और शंकाओं का निर्माण होना कोई बुरी बात नहीं है। परंतु अपने प्रश्नों का उत्तर खोजने की दृष्टि से उनकी ओर देखा जाय और उन पर विचार किया जाय। जिसे हम परिवर्तित परिस्थिति मानते हैं, क्या उसमें यह दिखाई देता है कि हममें एकता और राष्ट्र-भावना निर्माण हुई है? क्या समाज के परस्पर सम्बन्धों पर वास्तव-दृष्टि से सोचने की क्षमता निर्माण हुई है? क्या विशुद्ध राष्ट्र-वृत्ति निर्माण हुई है? क्या सुसंगठित समाज-जीवन निर्माण हुआ है? इस प्रत्येक प्रश्न का उत्तर है—नहीं। अवांछित बातों को दूर कर, सुव्यवस्थित, सुसंगठित, राष्ट्रीय भाव से ओतप्रोत समाज-रचना, समाज के व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन और उस पर आधारित व्यवहार निर्माण करना, इनमें से कोई एक बात भी पूरी हुई है क्या? अंशतः सफलता मिली है ऐसा आभास होता है, कुछ आशा पैदा होती है परंतु यह सत्य है कि पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। अतः अपने मन को विचलित करने वाले भिन्न-भिन्न आघात क्यों होते हैं? मेरे मत से इसका एक संभवनीय कारण यह दीखता है कि दैनिक जीवन की समस्याओं को हाथ में न लेकर, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान होने पर भी उनकी ओर दुर्लक्ष कर, उन्हें अपने व्यवहार की सीमा के परे रखकर काम चालू रखना सफलता प्राप्ति की दृष्टि से कहां तक लाभदायी होगा इस विचार से आघात होता होगा। इन कारणों का सम्यक् विचार होना चाहिए।

पहली बात यह है कि क्या जब अपना कार्य प्रारंभ हुआ तब आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं या वर्तमान विविध विचार-प्रणालियां नहीं थीं? ये समस्याएं हल करने के प्रयत्न में ही फल प्राप्ति है ऐसा सोचने वालों और उपदेश देने वालों की उस समय क्या कमी थी? मुझे स्मरण होता है कि विविध कार्यों के लिए उस समय संघ का आह्वान किया जाता रहा। तुम लोगों में नेतृत्व के योग्य कोई न हो तो हम नेता होने को तैयार हैं, हमारे पीछे आओ, ऐसा कहने वाले अनेक लोग थे। आज भी उनकी कमी नहीं है। उस समय विदेशी शासन प्रत्यक्ष था। यह बात बर्दाश्त करना किसी भी राष्ट्रभक्त के लिये असंभव था। इसलिए राजनीतिक समस्याएं तथा अन्य समस्याएं आज से भी उग्र रूप में सामने थीं। फिर भी उन समस्याओं का प्रत्यक्ष विचार न करके काम करना उस समय उचित लगा। आज तो विदेशी शासन नहीं रहा है, फिर यह नयी भावना अपने अंतःकरणों में क्यों पैदा हुई?

संभवतः दो कारणों से यह भावना आई होगी। एक तो आज चारों तरफ सत्ता के लिए स्पर्धा हो रही है। इतने वर्षों तक कठिन परिस्थिति में काम करने के बाद हम उस स्पर्धा से क्यों दूर रहें, सत्ता ग्रहण का प्रयास क्यों न करें ऐसा विचार मन में आता हो। परंतु इससे अधिक अच्छा दूसरा भी विचार हो सकता है—अपने सिवा सत्ता का सदुपयोग करने वाला दूसरा कोई नहीं है, इसलिए हमें सत्ता ग्रहण करनी चाहिए। यह दूसरा विचार बड़ा रोचक और मन को संतोष देने वाला लगता है। उसका विश्लेषण मैं आज नहीं करूंगा। आप सोचें और तय करें कि संसार से ही पृथक रहने वाले, सत्ता यंत्र विशुद्ध रखने वाले, परंतु कठिन समय पर सत्ता ग्रहण कर समाज-धारणा करने वाले जो महापुरुष हैं उसके समान अपनी योग्यता है क्या, अपना व्यवहार इतना विशुद्ध है क्या?

अब इस भावना से मन में भिन्न-भिन्न तरंग उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसा भी लग सकता है कि अपने कार्यक्षेत्र में प्रगति के लिए अब गुंजाइश नहीं है। एक अच्छे स्वयंसेवक ने मुझसे कहा था, "अब रास्ता तो बंद हो गया है। मानो हम एक बंद गली (ब्लाइंड लेन) के मुहाने पर आ पहुंचे हैं और इधर-उधर मार्ग ढूंढे बिना अब हम आगे जा ही नहीं सकते। भिन्न-भिन्न कार्यप्रणालियों को स्वीकार करके काम किये बिना प्रगति नहीं हो सकती।" मैंने पूछा—"तो क्या फिर अपने कार्य को ताला लगाकर बंद कर डालें?" उसने कहा—"वर्तमान स्वरूप बंद कर कबाड़खाने में डाल देना ही उचित होगा। यह समाप्त होना चाहिए।" बहुतों ने यह मत प्रकट किया है कि अन्य पद्धतियां और विचार-प्रणालियां स्वीकार करना आवश्यक है। आज ही यह मत व्यक्त हो रहा है ऐसा नहीं। पांच-छह वर्षों से यह मत व्यक्त हो रहा है। उन्हें लगता है कि आज की कार्यपद्धति से काम करने से प्रगति नहीं होगी। उन लोगों को लगता है कि परिस्थिति पांच-छह वर्षों के पूर्व ही बदल चुकी है, केवल दो वर्षों पूर्व नहीं। विचार करने के इस पहलू का भी हमें निरीक्षण करना है।

एक और प्रश्न मैं विचारार्थ रखता हूं। जिन समस्याओं को समाज के प्रश्न के नाते सामने रखकर हमने कार्य का प्रारंभ और प्रसार किया उन्हें राजनीतिक या आर्थिक विचारधाराओं के आघात के फलस्वरूप अपनी कार्यप्रणाली में परिवर्तन कर क्या दूर कर सकते हैं? क्या सामाजिक अवगुणों का विनाश करके आवश्यक गुण समाज में पैदा कर सकते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि संघ की कार्यप्रणाली द्वारा वे गुण कितनी मात्रा में पैदा होते हैं? समाज में सब दूर दिखाई देने वाले अप्रामाणिकता आदि अवगुण क्या अपने में नहीं हैं? यह प्रश्न मुझसे पूछा गया है। २४ वर्षों (१९२५-१९४९) से हम संघ-कार्य कर रहे हैं। संघ के अनेक कार्यकर्ता हैं, परंतु सर्वसाधारण स्वयंसेवकों के जीवन में क्या संघ कोई परिवर्तन लाया है? इस प्रकार के प्रश्नों का रुख यही रहता है कि वर्तमान कार्यप्रणाली से ये गुण पैदा नहीं होते हैं। फिर तुरंत फलदायी, तत्काल सफलता देने वाली अन्य कार्यप्रणाली का सहारा हम लोग क्यों न लें? इन प्रश्नों का विचार करना है। इन प्रश्नों में जो कुछ कहा गया है वह सत्य ही होगा, स्वयंसेवक की ओर देखने का एक दूषित दृष्टिकोण उनमें नहीं होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। आप भी उसका विचार करें। जो विशिष्ट गुण स्वयंसेवकों में पैदा होना चाहिए, ऐसा हम कहते आए हैं, वे इन २४ वर्षों की अवधि में कुछ अंश तक पैदा हुए हैं क्या? या अन्यत्र दिखाई देने वाला दूषित और अवगुणों से भरा हुआ वायुमंडल यहां भी दिखाई देता है कि कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ? केवल प्रवाह में गिर पड़े इसलिए एक प्रवाह-पतित के समान जीवन जी रहे हैं? सही क्रियाशील जीवन अन्य मार्ग पर चले बिना पैदा नहीं होगा, यह सच है क्या? समाज के अन्य लोग स्वार्थी, झगड़ालू, केवल एकाध बार उत्साह से घोषणा कर देने के अतिरिक्त देश के प्रति उदासीन हैं। क्या अपने स्वयंसेवक भी उनके ही समान हैं? इन सारी बातों का विचार करें। और फिर आप इस निष्कर्ष पर पहुंचें कि २४ वर्षों में इस दृष्टि से कुछ भी सफलता नहीं मिली है तो यह कार्यप्रणाली निरुपयोगी है यह कहना उचित होगा और फिर अन्य कार्यप्रणालियों की बात सोची जायेगी।

एक और बात विचारणीय है। मनुष्य कार्यपद्धति का मूल्यांकन इस कसौटी पर करता है कि वह तुरंत फलदायी है या नहीं। वह सोचता है कि वर्तमान समस्याएं हल करने में ही कृतार्थता है। अतः कार्य की रचना ऐसी हो जिससे व्यावहारिक समस्याएं हल करने में सफलता मिल सके। परंतु क्या इन तात्कालिक समस्याओं पर ही राष्ट्र का सारा जीवन निर्भर है? भीषण गरीबी, आर्थिक विषमता आदि अनेक समस्याएं सामने हैं। उन्हें हल करने के लिए राजनीतिक शक्ति के प्रयोग और उपभोग की प्रवृत्ति पैदा होती है, परंतु उसके कारण क्या सभी समस्याएं हल होंगी? वे वर्तमान समस्याएं हल हुईं भी तो क्या राष्ट्र के सामने और समस्याएं नहीं रहेंगी? समस्याएं बदलेंगी, रोज नयी उपाय-योजना करनी पड़ेगी। परंतु प्रयत्न करने की परम्परा न हो तो वह कैसे संभव होगा? प्रयत्न करने की अविच्छिन्न परम्परा निर्माण करने के प्रयासों में ही अन्तिम कल्याण है या नहीं? यदि

उसमें कल्याण न हो तो सारे परिश्रम व्यर्थ हैं। फिर तात्कालिक लाभ के लिए जो-जो उपयोगी हो वह करते हुए जीवन बिताना तथा उसमें से अपने-आप कुछ परम्परा निर्माण हुई तो हुई, उसकी ओर ध्यान देने की जरूरत नहीं है, ऐसी भूमिका स्वीकार करनी पड़ेगी।

वे सर्वसाधारण प्रश्न अनुभव से मैंने आपके सामने रखे हैं। आप ही बतला सकेंगे कि इनमें से कितने गलत हैं और कितने सही? परंतु मूलभूत प्रश्न यह है कि कार्यपद्धति में परिवर्तन आवश्यक है क्या? अपनी पद्धति सफल हुई है क्या? परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है क्या? प्रास्ताविक के रूप में ये प्रश्न विचारार्थ रखे हैं।

(श्री गुरुजी समग्र दर्शन, पृ० १०६-१११)
(अक्टूबर १८, १९४९, नागपुर)

* * * *

४

हमारा राष्ट्रजीवन

अपने स्वयंसेवकों के मन में जो विचार आते होंगे उनकी कल्पना करके उन्हें आप लोगों के सामने रखने का मैंने प्रयास किया है। जब सर्वसाधारण रीति से आपके मन में भिन्न-भिन्न विचार आ रहे हों, तब श्रेष्ठ तत्वज्ञान की बातें कहने के बजाय अपने कार्य के बारे में एक बार पुनर्विचार करना फलदायी होगा। विद्वत्तापूर्ण रीति से अनेक विभिन्न विचारों का खण्डन-मंडन करते हुए संघ-तत्वज्ञान बतलाने वाले अन्य लोग हैं ही। मैं नया विशेष कुछ बतलाने वाला नहीं हूं। परन्तु जिस प्रकार हम लोग आज तक विचार करते आये हैं उसी प्रकार फिर से एक बार विचार करने का प्रयत्न करें।

संघ की आवश्यकता क्या है? पहले यह प्रश्न पूछा जाता रहा और आज अधिक आग्रहपूर्वक पूछा जाता है। इसका उत्तर अनेक प्रकार से पहले भी दिया गया था और आज भी दिया जाता है। जब संघ-कार्य का प्रारंभ हुआ तब भिन्न-भिन्न संस्थाएं राजनीतिक क्षेत्र में कार्य कर रही थीं। राजनीतिक विचार करने वालों की उस समय कोई कमी नहीं थी। इसके उपरांत भी भिन्न-भिन्न राजनीतिक क्षेत्रों का प्रत्यक्ष अनुभव लेकर, समस्त पहलुओं का परिपूर्ण विचार कर इस संघ-कार्य की स्थापना हुई।

वह कौन सी बात है जिससे इस कार्य की आवश्यकता अनुभव हुई? इस प्रश्न का एक पहलू यह दिखता है कि जब संघ की स्थापना हुई तब चलने वाले भिन्न-भिन्न कार्य राष्ट्र के नाम पर तो चलते थे परन्तु राष्ट्र के बारे में सुस्पष्ट मूर्त चित्र किसी की आंखों के सामने नहीं था। उस समय विदेशी सत्ता का विरोध राष्ट्रीय कल्पना का आधार था। उस कल्पना में प्रत्यक्ष राष्ट्रीय भावना है या नहीं इसका विचार नहीं था। बहुतों को लगता है कि नकारात्मक रीति से (निगेटिव) कभी-कभी राष्ट्र प्रेम पैदा होता है। इससे भी एक कदम

सम्मान या अपमान हिन्दुओं पर ही निर्भर है, हिन्दू समाज का जीवन वैभवशाली होने से ही इस राष्ट्र का गौरव बढ़ने वाला है, यह निश्चयपूर्वक समझकर यह सत्य संघ ने प्रतिपादित किया। इतने वर्षों से हम यह कार्य करते आये हैं। अतएव किसी के मन में इस विषय में कुछ भ्रान्ति रहने का कारण नहीं है।

कोई कहेगा कि विदेशी शासन में रहते समय की कल्पनाएं और आज की कल्पनाएं समान कैसे रह सकती हैं? इसका उत्तर यह है कि राष्ट्र-कल्पना परिस्थिति के अनुसार बदलने वाली वस्तु नहीं है। मनुष्य का मनुष्यत्व नौकरी पर निर्भर नहीं करता है। किसी ने अपना व्यवसाय बदला तो उसका शरीर और गुणधर्म नहीं बदलता है। विदेशी सत्ता रहने से उस सत्ता के सहारे ही अन्य समाज उदण्ड होते रहे इसलिए हिन्दू राष्ट्रवाद का मण्डन प्रतिक्रियात्मक बात समझी गई। हिन्दू राष्ट्र की कल्पना एक सत्य है। इस दृष्टि से संघ ने उस भावना का जागरण किया। विदेशी शासन से संघर्ष रहते हुए भी हिन्दू राष्ट्रीयत्व की घोषणा संघ ने की। उस भावना की जागृति से समाज को संगठित करके बलशाली और चैतन्ययुक्त करने का प्रयास किया। आज जब विदेशी सत्ता नहीं रही है तब ये प्रयास और अधिक जोर से होने चाहिएं, यही विचार परिस्थिति में हुए स्थूल परिवर्तन के कारण अपने अंतःकरण में आना चाहिए। उस समय मुसलमान समाज भी था। वह आज हतबल हुआ है। अतः उसे अपने में मिला लेना (अब्सॉर्ब) चाहिए। परंतु इस सामर्थ्य की पाचनशक्ति—आत्मसात कर डालने की ताकत—कायम है या नहीं, इसका विचार न करते हुए यह सब कहा जाता है। आज विदेशी सत्ता चली जाने से हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय स्वरूप में कुछ भी अंतर नहीं पड़ा है। अंतर इतना ही है कि पहले हमें मानो रस्सी से बांधकर रखा गया था अब वह रस्सी टूट चुकी है। शरीर वही है। जीवन के अधिष्ठान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। राष्ट्र-धारणा स्थायी रखकर अन्यान्य समाज के व्यवहार परखकर, अपना मार्गक्रमण करने में ही राष्ट्र की भलाई है। भारत के इस स्पष्ट, निःसंदिग्ध राष्ट्र-जीवन की चिरंजीवी भावना सामने रखने के बाद यह विचार मन में आता है कि ऐसी प्रेरक शक्ति जिसमें है वह दुर्बल क्यों हुआ, उसने विदेशी सत्ता के सामने बारम्बार हार क्यों खाई?

अपने देश के इतिहास का समालोचन करने पर एक विचार यह आता है कि विच्छिन्नता से पैदा हुई दुर्बलता के कारण ही हार हुई। पचास वर्ष पूर्व ऐसा कहा जाता था कि विदेशी कूटनीति के कारण ही भेद और अन्य अवगुण अपने समाज में पैदा हुए। परंतु विचार करने की यह रीति ठीक नहीं है। विदेशी सत्ता आने से पूर्व यदि भेद नहीं थे तो यह विशाल, अभिन्न, अभेद्य शक्ति, छोटे-छोटे पराये आक्रमणों से कैसे पराजित हुई? इतिहास कहता है कि प्रथम भेद, और उन भेदों से दुर्बलता और बाद में विदेशियों को विजय प्राप्त हो ऐसी अवस्था, पैदा होती है। भेद कैसे पैदा होते हैं इसके कारण इतिहास में देखने को मिलते हैं। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थ की ओर आकर्षित होता है और स्वार्थ के

समक्ष बड़े-बड़े गुण भी मिट्टी-मोल होते हैं। व्यक्तिगत मान-सम्मान, गौरव के लिए विदेशियों से हाथ मिलाकर स्वकीय देश-बाधवों पर ही प्रहार करने की प्रवृत्ति अपने इतिहास में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है। विगत हजार-दो हजार वर्षों का इतिहास इस प्रकार की असंख्य घटनाओं से भरा पड़ा है। इसके फलस्वरूप दु:खकारक पराजय देखने को मिला। एक ही उदाहरण देता हूं। सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर पर आक्रामकों के सैन्य में से पहला प्रहार करने वाले कौन थे? वे भगवान शिव का जयजयकार करने वाले शिवभक्त ही थे। गजनी की सेना ने उन्हें नाना प्रलोभन दिखाये तथा उन प्रलोभनों के वश होकर उस सुप्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग पर प्रत्यक्ष शिवभक्तों ने मार्ग बतलाकर आक्रमण किया। स्वार्थ की परिसीमा तथा उसमें से पैदा होने वाली राष्ट्रंभक्ति शून्यता का यह एक बड़ा विदारक उदाहरण है।

सम्पूर्ण राष्ट्र की सुस्पष्ट कल्पना आंखों के सामने न होने से समाज इतना छिन्न-विच्छिन्न हुआ तथा स्वार्थ-भावना इतनी प्रबल हुई कि व्यक्ति और उसके परिवार के परे व्यापक दृष्टि और आत्मीयता से विचार करने की प्रवृत्ति और योग्यता नष्ट हुई। इसीलिए अपने पवित्र स्थलों और अपने बंधुओं पर प्रहार करने के लिए अपने में से ही लोग प्रवृत्त हो सके। यह देखकर अनेक लोग अनुभव करने लगे कि राष्ट्र का सम्यक् ज्ञान न होने से जो छिन्न-विच्छिन्नता, स्वार्थ-भावना समाज में पैदा हो गई है उसे समाप्त किये बिना देश का बेड़ा पार नहीं हो सकेगा, स्थायी रूप से देश को कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

छिन्न-विच्छिन्नता में ही स्वराज्य मिला है, अप्राप्य प्राप्य हुआ है, परंतु प्राप्त का रक्षण करना कठिन काम है। इसके लिए विच्छिन्नता नष्ट कर स्वाभाविक राष्ट्रीयता के साक्षात्कार से सामर्थ्य का आविष्कार करना आवश्यक है। सही राष्ट्र-भावना जागृत नहीं की, वह भावना अस्पष्ट या विकृत रही तो राष्ट्रमूर्ति के हमेशा के लिए बंधन में जकड़े जाने का भय सदा बना रहेगा। जिस दुर्बलता के कारण मूलतः हम अपनी स्वतंत्रता से वंचित हुए उसे दूर करना चाहिए, विच्छिन्नता समाप्त करनी चाहिए, सम्यक् राष्ट्र-दृष्टि का अभाव है तो उसे निर्माण करना चाहिए। संकुचित स्वार्थ का प्राबल्य समाप्त करना चाहिए। वे सारे दुर्गुण जिससे समाप्त होंगे ऐसे कार्यक्रम सामने रखने पड़ेंगे।

कहा जाता है कि अपने देश में सब दूर राजनीतिक जागृति (पोलिटिकल कॉन्शसनेस) पैदा हुई है। यदि ऐसा है तो फिर कुछ इने-गिने व्यक्तियों को ही क्यों देशभक्त सम्बोधित किया जाता है? क्या वे व्यक्ति ही देशभक्त हैं और बाकी के देशभक्त नहीं हैं? अन्य देशों में तो ऐसा नहीं दीखता। चर्चिल को भी इंग्लैंड में किसी ने देशभक्त नहीं कहा। वहां तो कोई भी यही बतायेगा कि सर्वसाधारण मनुष्य को देशभक्त होना चाहिए। देशभक्ति एक उल्लेखनीय गुण है यह कल्पना अपने देश में ही क्यों आई? कारण यह है कि यहां सर्वसाधारण जनता राष्ट्रभक्ति आदि कुछ नहीं जानती। किसी तरह जी रही है, मरी नहीं इसलिए जीवित है। राष्ट्र के घटक होकर भी उनको न तो राष्ट्रीयता का स्पष्ट ज्ञान है और

आगे जाकर अनेक विद्वानों ने ऐसा कहा है कि सर्वसाधारण संकट की कल्पना राष्ट्र को एक सूत्र में बांधती है और राष्ट्र-भावना जागृत करती है। इससे अगली सीढ़ी अर्थात् इस प्रकार के विचार की कि राष्ट्रीय एकता और शक्ति स्थायी रखने के लिए सर्वसाधारण संकट की कल्पना जागृत रखना आवश्यक है। यह विचार अपने देश में भी फैला और उसकी पकड़ से अब भी सर्व-साधारण जनता का मन मुक्त नहीं हुआ है। राष्ट्र-कल्पना सत्यस्वरूप में सामने न रहने के कारण भारत में विदेशी सत्ता के भक्ष्य बने हुए समाज के परस्पर सम्बन्ध कैसे भी हों, उन्हें एक राष्ट्र का अंग माना जाय, यही सही उदार दृष्टिकोण है, यह मानने का रिवाज अपने देश में चल पड़ा। उसके परिणामों का विचार अभी करने की आवश्यकता नहीं है। परंतु विचार करने की इस पद्धति में से यह धारणा पैदा हुई कि हिन्दुस्थान में विदेशी सत्ता प्रस्थापित होने के बाद से ही यहां राष्ट्रभावना का उदय हुआ है, अर्थात् पहले वह यहां नहीं थी। आज भी हमें यही सुनने को मिलता है कि पाश्चात्यों के संपर्क से ही हमने देशभक्ति सीखी। "ए न्यू नेशन इन द मेकिंग", "ए नेशन न्यू बॉर्न" इस तरह के शब्द प्रयोग होते हैं। यहां राष्ट्रीय भावना नयी है, पहले यह भावना नहीं थी, इस धारणा से काम करना, यह नया विचार राष्ट्र आत्मसात् करे, इसके लिए अपना इतिहास भूलने को बाध्य करना, या नया इतिहास निर्माण करने की बात कहना, उन्होंने सुविधाजनक माना।

परंतु जो विचारवान थे वे यह नहीं भूल सके कि हमारे यहां एक विशिष्ट भारतीय राष्ट्र-जीवन है तथा विदेशी सत्ता के आगमन के पूर्व भी वह था। ऐसा कहकर कि इतिहास भूल जाओ, इतिहास द्वारा किए गए संस्कार अन्तःकरण से कदापि नहीं मिट सकते। वे संस्कार प्रगट होने ही चाहिएं। विदेशियों के कारण भारतीय राष्ट्र-जीवन निर्माण हुआ है, इस बात को अस्वीकार करके वह प्राचीन है यह विचार विचारकों के मन में आना, नयी राष्ट्र-कल्पना की आवश्यकता नहीं है, ऐसा उनका सोचना स्वाभाविक ही था।

वह भारतीय राष्ट्र-जीवन क्या है? वह भारतीय राष्ट्र-जीवन अर्थात् हिन्दू राष्ट्र है। अपने समाज में नानाविध भेद, सम्प्रदाय, गुणावगुण रहने के उपरांत भी वह प्राचीन, एकसूत्र राष्ट्र-जीवन है। उसमें संस्कृति का समान सूत्र है। हृदय के सूक्ष्म संस्कारों का समीकरण, राष्ट्रीय जीवन को प्रेरणा देने वाली जीवन-शक्ति—संस्कृति है। इस देश में अनादिकाल से जो समाज-जीवन रहा उसमें अनेक महान व्यक्तियों के विचार, गुण, तत्व, समाज-रचना के सिद्धांत तथा जीवन के छोटे-छोटे सामान्य अनुभवों से जीवन-विषयक एक स्वस्फूर्त जो स्वाभाविक दृष्टिकोण निर्माण होता है वह सर्वसाधारण दृष्टिकोण—संस्कृति है। यह संस्कृति अपने राष्ट्र की जीवन-धारणा है, विश्व की ओर देखने की पात्रता देने वाली प्रेरणा-शक्ति है, एक सूत्र में गूंथनेवाला सूत्र है। भारत में आसेतु हिमाचल यह संस्कृति एक है। उससे भारतीय राष्ट्र-जीवन प्रेरित हुआ है। यही भारतीय राष्ट्र-जीवन अर्थात् हिन्दू-राष्ट्र जीवन है। प्रगट रूप से सब लोग यह बात

स्वीकार न करते हों, कदाचित् राजनीतिक चाल की दृष्टि से अलग भाषा का प्रयोग करते हों, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि हर एक को यह बात स्वीकार है। एक जाने-माने संघ-विरोधी किन्तु श्रेष्ठ विचार रखने वाले व्यक्ति के साथ हुए संभाषण के समय मुझे इसी बात का अनुभव हुआ। हिन्दू राष्ट्रजीवन इस भारतवर्ष की वास्तविकता है। इस विषय में किसी भी प्रकार की मत भिन्नता रहने का कोई कारण नहीं है। राष्ट्र की अस्पष्ट कल्पना, यहां जो आयेगा और रहेगा उसे राष्ट्र-घटक मानने की अव्यवहारी कल्पना, बिल्कुल आज भी कोई पराया आकर यहां रहा तो भी वह राष्ट्रीय होगा इस सीमा तक विचारों की अस्पष्टता, ऐसी अवस्था में उस समय सुस्पष्ट और निर्भयपूर्वक अंततोगत्वा मान्य होने वाली स्वाभाविक राष्ट्रीयता की कल्पना सामने रखने की आवश्यकता प्रथमतः संघ को ही प्रतीत हुई। उस समय भी लोगों ने संघ को जातीयतावादी, साम्प्रदायिक, संकुचित कहा और आज भी कहते हैं। केवल हिन्दुओं के विषय में विचार करना अंतःकरण की संकुचितता का लक्षण है, यह धारणा बन जाने से हिन्दूपन के प्रति एक लज्जा का भाव भी पैदा हुआ। हर बार दुनिया क्या कहेगी, लोग क्या कहेंगे इसका विचार किया जाए, विश्व की आंखों में अभिनंदन का भाव प्रकट होता हो तो यह बात की जाए, जब इस तरह की चारों ओर अंतःकरण की परावलम्बी दासवृत्ति दिखाई दे रही थी तो उस समय संघ ने ही यह घोषणा की कि 'यह हिन्दू राष्ट्रहै', यही सत्य है, फिर अन्य समाज देश में हों या न हों। हिन्दू शब्द जातिवाचक नहीं, राष्ट्र वाचक है। अनादिकाल से यहां का यह समाज अनेक सम्प्रदायों को उत्पन्न करके भी एक ही मूल से जीवन-रस ग्रहण करता आया है। उसके द्वारा यहां जो समाजस्वरूप निर्माण हुआ है वह हिन्दू है। यह व्यापक कल्पना संघ ने सबके सामने रखी कि यह विशाल हिन्दू-समाज अनादिकाल से यहां अपना जीवन बिता रहा है। भले ही यहां अलग-अलग राजा रहे हों, राज्य रहे हों, अनेक सम्प्रदाय रहे हों, अनेकता और भिन्नता रही हो, परंतु सांस्कृतिक एकता है, एकसूत्र व्यावहारिक जीवन है। यहां यही और ऐसा ही राष्ट्रीय जीवन रहेगा। इतिहास की ओर इस दृष्टि से देखने की योग्यता निर्माण हो और हिन्दू के नाते इस प्रकार का सम्पूर्ण साक्षात्कार हम करें, तब यही राष्ट्र की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता आज भी है। संघ ने प्रथम इस बात का साक्षात्कार किया। स्वयं को हिन्दू कहलाने वाली अन्य संस्थाएं भी थीं, परंतु केवल हिन्दू-हित को खतरा पैदा न हो, दूसरों को अमर्याद लाभ न मिलने पाये, इतना ही प्रतिक्रियात्मक विचार वे करती थीं। हिन्दू राष्ट्र-जीवन के विषय में इस प्रकार की निर्भय घोषणा कि "यह हमारा राष्ट्र है", किसी ने नहीं की। दुनिया चाहे जो कहे परंतु यह सत्य है तथा दुनिया को कल यह मानना पड़ेगा, ऐसा कहने का साहस उनमें नहीं था।

अस्पष्ट राष्ट्रकल्पना, अज्ञान, साहस का अभाव, पराभूत मनोवृत्ति आदि से व्याप्त वातावरण में मात्र संघ ने स्पष्ट तथा निर्भयपूर्वक घोषणा की। यह अपने कार्य का प्रथम गुण है। यह हिन्दू राष्ट्र है, इस राष्ट्र का दायित्व हिन्दू समाज पर ही है, भारत का दुनिया में

क्या हम अपनी राष्ट्र कल्पना छोड़ दें? वास्तव में उसमें तो परिवर्तन असंभव है। वह अटल रहना ही चाहिए। उस राष्ट्र कल्पना की पूर्ति के लिए मात्र निरंतर कठोर परिश्रम आवश्यक है। अमुक मनुष्य देशभक्त है ऐसा कहने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति देश में न हो, इतनी उद्यमशीलता उत्पन्न कर महान संगठित समाज-जीवन के लिए भेदविरहित भूमिका पर खड़े रहने की प्रतिदिन वर्धिष्णु आवश्यकता हम समझें, तो प्रतिदिन मन में उठने वाली नाना प्रकार की शंकाओं का अपने-आप उत्तर मिलेगा। बाकी के अनेक प्रश्न सामने आएं तो भी अंतःकरण व्यथित नहीं होगा। कितने ही विचार-प्रवाह आकर टकरायें तो भी अंतःकरण विचलित नहीं होगा। थोड़ा मनन-चिंतन कर यह एक ही विचार या धारणा अंतःकरण में दृढ़ जमायें। उत्तम तत्वज्ञान सुलभ होता है इसीलिए अनेक बार वह कठिन लगता है। इस कार्य में शीघ्रता से सफलता कैसे मिलेगी इसका भी विचार करें। चिंतन में अंतःकरण पर संस्कार होंगे और मार्ग भी स्पष्ट होगा।

(श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० १११-११८)
(१९ अक्तूबर, १९४९, नागपुर)

५

विधायक कार्य

यदि अपने मन में यह दृढ़ धारणा हो कि यह राष्ट्र अपना है और यहां अपना राष्ट्र-जीवन है, यह राष्ट्र-जीवन श्रेष्ठ और उन्नत बने इसका दायित्व अपने ऊपर ही है, तो यह समझना कठिन नहीं होगा कि यह दायित्व पूर्ण करने के लिए केवल वर्तमान बातों की ओर ध्यान न देते हुए चिरंतन रूप से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में राष्ट्रभक्ति की भावना जागृत करने के हेतु एक सुव्यवस्थित तथा राष्ट्रीय भावना से प्रभावित कार्य खड़ा करना पड़ेगा।

यह आवश्यकता स्वीकार कर लेने के बाद भी यह प्रश्न शेष रहता है कि भिन्न-भिन्न मार्ग लोगों की दृष्टि के सामने आते हैं। बहुतों का यह मत है कि दैनिक जीवन की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को हाथ में लेकर समाज-कल्याण का प्रयास करना कार्य के लिए आवश्यक है। कुछ लोगों का कहना है कि बड़ी-बड़ी राजनीतिक समस्याएं हाथ में लेकर उनका समाधान किये बिना लाभ नहीं होगा। अन्य कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान युग में हाथ में सत्ता रहे बिना कुछ भी करना संभव नहीं है। अत: सत्ता प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। उसके द्वारा समाज की कठिनाइयां दूर की जा सकेंगी। इसलिए व्यवहार में हमें यह दिखाई देता है कि हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना आंखों के सामने रहने पर भी लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से जाते हैं।

कुछ शब्द ऐसे होते हैं कि हरएक को आकर्षित करते हैं। उदाहरणार्थ, ''विधायक कार्य'' (कन्सट्रक्टिव वर्क) शब्द प्रयोग। हर एक रट लगाता है कि ''विधायक कार्य' करो। हमें या समाज के अन्य लोगों को भी यह शब्द एकदम आकर्षित करता है। इस शब्द-प्रयोग की स्पष्ट परिभाषा इतने वर्षों में मैंने नहीं देखी है। परंतु समाज के रोजमर्रा

न राष्ट्रीयत्व पर श्रद्धा ही। इसलिए किसी ने विशेष रीति से देशकार्य की ओर ध्यान दिया, थोड़ा बहुत त्याग किया तो उसका जय-जयकार किया जाता है, उसका गौरव होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यहां सर्वसाधारण रूप से राजनीतिक जागरण नहीं हुआ है। शब्द और घोषणाएं लोगों को मालूम हैं। स्वार्थ के लिए घातक वृत्ति से कार्य कैसे किया जाय, यह उन्हें मालूम है। परंतु उन्हें सत्प्रवृत्त राष्ट्रभक्ति की शिक्षा नहीं मिली है, इसीलिए कुछ लोगों को देशभक्त कहना ही पड़ता है।

देश की इस अवस्था में स्वाभाविकतः राष्ट्र के मूर्त स्वरूप का प्राचीन हिन्दू राष्ट्र के नाते साक्षात्कार कराकर, उसी का सत्य स्वरूप प्रत्येक के अन्तःकरण में जगाकर, इस राष्ट्र के जीवन को कायम रखने के लिए हरएक का अन्तःकरण राष्ट्रभक्ति से प्रेरित कर, उस राष्ट्रभक्ति की विशुद्ध भावना के आधार पर भेदों को मिट्टी में गाड़कर, सुसंगठित, तेजस्वी तथा प्रभावशाली जीवन समाज में पैदा करने का महान प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्र क्या है यह ज्ञान हुए बिना राष्ट्रभक्ति पैदा नहीं होती है। राष्ट्रभक्ति की भावना के बिना स्वार्थ को तिलांजलि देकर राष्ट्र के लिए परिश्रम करना संभव नहीं है। इसलिए विशुद्ध राष्ट्र-भावना से परिपूर्ण, श्रद्धायुक्त तथा परिश्रमी लोगों को एक सूत्र में गूंथना, समान प्रवृत्ति के लोगों की परम्परा निर्माण करने वाला संगठन खड़ा करना तथा इस संगठन के बल पर राष्ट्र-जीवन के सारे दोष समाप्त करने का प्रयत्न करना मूलभूत और महत्वपूर्ण कार्य है। सैकड़ों दैनिक समस्याओं को हम कैसे सुलझाते हैं इस पर यह कार्य निर्भर नहीं करता है। समाज की विच्छिन्नता और भेद समाप्त कर राष्ट्र-भावना से प्रेरित एकरस समाज—जीवन निर्माण किया तो अनेक दैनिक और तात्कालिक समस्याएं सुगमता से हल होती हैं। सभी तात्कालिक समस्याओं का विश्लेषण कर देखा जाये तो विदेशी सत्ता समाप्त करने, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं सुलझाने आदि के लिए जो सामर्थ्य और आत्मविश्वास चाहिए वह भी राष्ट्रीय वृत्ति का समाज जीवन निर्माण करने के प्रयास की ओर ही संकेत करता है। कश्मीर समस्या का उदाहरण देखें। कुछ लोगों के साथ हुए वार्तालाप से ज्ञात हुआ कि भारत के पास इतनी सुसज्जित सेना है कि कश्मीर का प्रश्न सात दिन के भीतर सुलझ सकता है। मैंने कहा, एक वर्ष में भी हल निकल आये तो भी बहुत है। अब तो (१९४९) दो वर्ष बीत चुके हैं परंतु वह प्रश्न ठंडे बस्ते में पड़ा हुआ है। समस्या को निर्भयतापूर्वक सुलझाने के लिए जिस राष्ट्रीय सामर्थ्य का आधार और विश्वास चाहिए उसका अपने राष्ट्र में अभाव है, इसलिए साहस नहीं है। समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। कोई मदद देगा क्या? किसी की सहानुभूति मिलेगी क्या? इसके लिए दौड़-धूप चल रही है। अपनी शक्ति के जागरण का साक्षात्कार नहीं है। पग-पग पर दुर्बलता का अनुभव हो रहा है। अंग्रेज थे तब भी मदद ढूंढने की आत्मविश्वासशून्य अवस्था थी। कुछ लोग यह सोचकर कि अंग्रेजों का राज हिन्दुओं के अलावा अन्य समाजों पर भी है (कॉमन डेंजर) मुसलमान आदि समाजों का सहयोग प्राप्त करने के प्रयास में लगे हुए थे। कुछ लोग

यह सोचकर कि अंग्रेज केवल डेढ़-दो सौ वर्ष के पूर्व यहां आये हैं, हजार वर्षों पूर्व आये हुए मुसलमानों की उद्दण्डता से निपटने के लिए अंग्रेजों की सहायता प्राप्त करने के प्रयास में जुटे हुए थे। परंतु दोनों प्रकार के लोगों को ऐसा नहीं लगता था कि किसी की मदद के बिना कुछ किया जा सकेगा। अपनी-अपनी दुर्बलता पर कितना आत्मविश्वास है? संघ स्थापना के समय इस विषय में जो अवस्था थी वही आज भी है। इस मूलभूत समस्या – दुर्बलता – को ढंकने के लिए न्याय, नीति, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा आदि बड़े-बड़े शब्द-प्रयोग किये जाते हैं। परंतु यह सत्य है तथा उसका अनुभव भी होता है कि अपने पैरों पर खड़े रहने का आत्मविश्वास अपने राष्ट्र में अब भी नहीं है। बड़े-बड़े शब्द-प्रयोग करना सरल है, परंतु इससे चलने वाली भाग-दौड़ छिपती नहीं है। शक्तिशाली जीवन का अनुभव होने के बजाय विच्छिन्नता में से उत्पन्न होने वाले दुर्बल और आत्मविश्वासशून्य जीवन का हम अनुभव कर रहे हैं। अनेक लोग कहते थे कि विदेशी सत्ता ने भेद निर्माण किए और उसी ने उनको बढ़ावा दिया। परंतु आज विदेशी सत्ता प्रत्यक्ष रूप में इस देश में नहीं रही है तथा हमें अब अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद बढ़ाने की खुली छूट मिली है, ऐसा दु:खदायी दृश्य दिखाई देता है। सुसंगठित, समर्थ तथा राष्ट्र-भक्तिपूर्ण समाज जीवन की जितनी आवश्यकता पहले थी उतनी ही आवश्यकता समाज की विच्छिन्नता दूर करने के लिए आज भी है। सारे भेदों को एक उच्च भूमिका पर दूर करने वाले कार्य की परम आवश्यकता है।

स्वराज्य प्राप्ति एक घटना है, क्रिया है। स्वतंत्र समाज जीवन सदा सुरक्षित और सम्पन्न रखना चिरंतन महत्व का प्रश्न है। उसके लिए राष्ट्र सदैव सिद्ध रहना चाहिए। वह सिद्धता रहने के लिए राष्ट्र-जीवन में से हानिकारक अवगुण मिटाकर सुसूत्र, सामर्थ्यशाली समाज जीवन निर्माण करने की दृष्टि से अपना कार्य खड़ा किया गया है। हिन्दू राष्ट्र जीवन की कल्पना निर्भयपूर्वक सामने रखकर उसके गौरववृद्धि के लिए सारा समाज एकसूत्र में संगठित करने का कार्य अपने सामने है। इसीलिए संघ के नाम सहित प्रत्येक बात का सूक्ष्मता से विचार करके कार्य की रचना की गई, सुस्पष्ट राष्ट्र कल्पना सामने रखकर, स्वार्थमूलक भावना को तिलांजलि देकर, भेद मिटाकर, एक प्रभावशाली सम्पन्न राष्ट्र के निर्माण की दृष्टि संघ के प्रारंभ से ही है। उसका विस्मरण आप लोगों को नहीं हुआ होगा। फिर कौन-सा परिवर्तन हुआ है? मुझे तो कई बार ऐसा लगता है कि नाना प्रकार के स्वार्थमूलक भेद पैदा कर दुर्बलता बढ़ाने के लिए ही हमें सारी छूट मिली है। किसी रोगी पर यदि कड़ा नियंत्रण रहे तो वह विशेष कुपथ्य नहीं कर सकता है, परंतु यह देखते ही कि अब नियंत्रण नहीं रहा है, चाहे जो भक्षण करने का कुपथ्य कर वह अपनी मौत बुला लेता है, वैसी ही कुछ अपनी अवस्था है। स्वार्थ के लिए ही क्यों न हो अपने पर अंकुश रखने वाले चले गए और बिलकुल अनियंत्रित कुपथ्य करने के लिए मानो सब दरवाजे खुल गए हैं। अतः इस अवस्था में हमें सोचना पड़ेगा कि किन बातों में परिवर्तन हो?

ही नहीं रहा है। समाज सुरक्षिता का अनुभव कर रहा है। जिस स्थान पर पहले यह होता था कि स्त्री के अकेले बाहर निकलने पर उससे छेड़खानी की जाती थी; वहां अब दिन या रात को कभी भी स्त्री कहीं भी इक्की-दुक्की निःसंकोच आ-जा सकती है और किसी को भी किसी तरह का दुर्व्यवहार करने का साहस नहीं होता है। जिन्हें अतिशयोक्तिपूर्वक कहने की आदत नहीं है, ऐसे अपने कार्यकर्ताओं ने भी इस तरह का वृत्त दिया है। इस परिस्थिति का अर्थ यह है कि कार्य व्यावहारिक सीमा के निकट पहुंच चुका है। कार्य के अस्तित्व के कारण वहां समाज-जीवन का नियमन हो रहा है। संघ के अस्तित्व के कारण जीवन सुरक्षित हुआ है, इसका सम्पूर्ण जनता को ज्ञान है। दुर्व्यवहार करने वालों पर धाक जमाकर उनकी हरकतें बंद हो गई हैं तथा सद्व्यवहारानुकूल वातावरण छा गया है। अतः कार्य का समाज-हृदय पर इस प्रकार का प्रभुत्व होने के लिए कार्य की उचित मात्रा में व्याप्ति बढ़नी चाहिए। इस सीमा तक हमें पहुंचना ही होगा।

परंतु बहुतों को इस मर्यादा तक पहुंचने की बात दुष्चक्र सी लगती है। उनका प्रश्न यह होता है कि व्यावहारिक मर्यादा तक पहुंचने के बाद कार्य प्रारंभ किया जाय या कार्य करते-करते व्यावहारिक मर्यादा तक पहुंच जाय? दोनों कथनों में सत्य है, यह तो मानना ही पड़ेगा। परन्तु फिर भी हमें ध्यान रखना होगा कि एक विशिष्ट मर्यादा तक शक्ति सम्पन्नावस्था प्राप्त होने के पूर्व कोई भी कार्य करने का प्रयास किया तो दोनों ओर से असफलता प्राप्त होगी। संगठन और कार्य इनमें से कुछ भी हाथ नहीं आयेगा। कार्य करो परंतु तत्पूर्व पर्याप्त व्यावहारिक सीमा तक प्रभाव निर्माण हुआ है या नहीं इसका भी प्रथम विचार करो।

तीन-साढ़े तीन वर्ष पूर्व उत्तर के एक प्रांत में साधारणतः यह कहा जाने लगा कि कार्य बहुत बढ़ चुका है। कुछ लोगों के मत से इस वृद्धि का कारण यह बताया गया कि स्थानीय मुसलमान समाज के कारण एक संघर्ष का वातावरण पैदा हुआ था तथा संघ के सिवाय संरक्षण करने वाला कोई नहीं था, इसलिए समाज में संघ के प्रति प्रेम निर्माण हुआ। विपुल स्वयंसेवक, कार्यकर्ता, प्रचारक, कार्य की उत्तम व्यवस्था रहने से यह विचार पैदा हुआ कि अन्य कार्य भी सुगमता से कर सकते हैं। तब ऐसी योजना बनी कि जो अपने स्वयंसेवक नहीं हैं उन्हें ''दक्ष-आरम'' के अतिरिक्त अन्य शिक्षा दी जाय। केवल साक्षरता प्रसार याने शिक्षा ऐसी मेरी धारणा नहीं है। साक्षरता प्रसार के पीछे मतदान का प्रश्न प्रमुख रहता है। वह संकट अपने यहां नहीं है। अपने को सत्ता की आकांक्षा नहीं है। कौन सी शिक्षा दी जाय इस पर विचार हुआ। उस शिक्षा का साक्षरता प्रसार एक पहलू था ही। व्यावहारिकता, कार्य के लिए दृढ़ भावना, निर्माण करना प्रमुख हेतु था। ''नो दाय सेल्फ'', भारतवर्ष क्या है, उसमें अपना स्थान क्या है, विश्व में अपना स्थान क्या है, उसकी उन्हें जानकारी देने की दृष्टि से शिक्षा की रचना करने को मैंने कार्यकर्ताओं से कहा। यह योजना बनी कि शिक्षा में भूगोल, इतिहास, धर्म, तत्वज्ञान सभी का समावेश होगा। यह भी

विचार हुआ कि शिक्षा विधि क्या हो? मैंने विचार रखा कि साधारण शिक्षित स्वयंसेवकों की सहायता लेकर अनौपचारिक वार्तालाप और कथा-कथन के द्वारा यह शिक्षा दी जाय। अपने देश में कथाओं द्वारा शिक्षा देने की प्राचीन परिपाटी है। ग्रंथ पढ़ना न भी आता हो तो भी समाज के व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न और कार्य करने की दृष्टि से योग्यतासम्पन्न हो सकते थे। इसके लिए ही मन पर उत्कृष्ट संस्कार करने वाला प्रचुर धार्मिक कथा साहित्य अपने पूर्वजों ने निर्माण किया तथा समाज के सभी स्तरों में उसका प्रचार किया। मनुष्य कर्तव्य परायण और व्यवहार-चतुर बने इसके लिए हजारों वर्ष उनका उपयोग होता रहा है। अब वातावरण बदलने तथा अनेक नयी बातें सामने आने के कारण यह परिपाटी कुछ कम हो गई है। उसे पुनरुज्जीवित कर कथाओं द्वारा कर्तव्य परायणता के संस्कार तथा उसके साथ ही राष्ट्रभक्ति का विशेष जागरण का प्रयास हो इस दृष्टि से प्रयत्न किये गए। उन प्रयत्नों का कुछ फल भी मिला। परंतु अकस्मात् निर्माण हुई बाधा के कारण वह प्रयास अधूरा ही रह गया। इस प्रकार जहां कार्य व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त सीमा तक पहुंचता है, वहां अन्य कार्य हाथ में लिए जाते हैं, तो स्वयंसेवक तथा अन्य लोग भी सहयोग देते हैं। वे अपना कहना मानते हैं तथा समाज पर विशिष्ट प्रभाव भी पड़ता है। इस प्रकार यदि कार्य को प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो ही कह सकेंगे कि समाज सेवा की अवस्था आई है।

अन्यथा वर्तमान समाज सेवकों का अनुभव हम लोगों के सामने है ही। स्वच्छता मुहिम शुरू होती है, भाषण किये जाते हैं, परंतु सारा एक तमाशा ही साबित होता है। स्वच्छता करने वाले आते हैं, लोग उन्हें देखते हैं, उनके भाषण सुनते हैं और फिर से अस्वच्छता निर्माण करने में प्रवृत्त होते हैं। किसी ने उन्हें यदि टोका तो उनसे विचित्र उत्तर सुनने को मिलते हैं कि शहर से आने वाले मेहतर पुनः साफ कर डालेंगे। यह अनादर, अश्रद्धा का भाव क्यों है? इसका कारण यह है कि बोलने वालों पर उनकी श्रद्धा नहीं है। उनके उपदेश सुनकर उसके अनुसार जीवन में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति नहीं है। जब यह परिस्थिति है तब हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अपने कार्य की पहले ऐसी अवस्था निर्माण करें कि हम जो कहेंगे उसे श्रद्धा से सुनने और उसके अनुसार आचरण करने की लोगों को इच्छा होगी। ऐसी स्थिति के अभाव में एक ओर समाज जीवन का यह अनुभव है कि वर्षों तक स्वच्छता के पाठ दिये तो भी पाठ देने वालों के पीठ फेरते ही जैसी की वैसी स्थिति हो जाती है और दूसरा अपना अनुभव यह है कि संस्कार, भावना, विचार आदि सब दृष्टियों से योग्य बिलकुल अनपढ़ स्वयंसेवक, जो अपना नाम तक नहीं लिख सकता है, प्रचारक के नाते काम कर सकता है, उत्तम कार्यकर्त्ता बन सकता है और जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। भारत क्या है? दुनिया कैसी है? अपना कर्तव्य क्या है? इसका स्पष्ट ज्ञान उसे रहता है। ऐसे कार्यकर्ता का उदाहरण अपने पास है कि अनपढ़ होते हुए भी वह जानता था कि गांव में अच्छे जीवन की प्रवृत्ति कैसे निर्माण की जाय। लोगों के परम्परागत विश्वासों का उसने चातुर्यपूर्वक उपयोग किया। राष्ट्र-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान उसे था।

की कठिनाइयों की ओर ध्यान देने के अर्थ में ही उसका विशेष प्रयोग होता है। भारतवर्ष के लोगों को समाज सेवा की शिक्षा देने के लिए प्रारंभ हुई "स्काउट" संस्था का उदाहरण लें। भले ही उसके जन्म का इतिहास कुछ भी हो। इस संस्था ने समाज संपर्क तथा समाज सेवा के लिए अनेक नियम निश्चित कर दिये हैं। रास्ते पर पड़े हुए पत्थर हटाना, किसी थके-मांदे बोझा ढोने वाले का बोझ उठाने में सहायता करना, वृद्धों और अंधों को रास्ता दिखाना या चलने में सहायता करना आदि। ये सारे सेवा के आकर्षक प्रकार मानकर लोगों के सामने रखे गए। इसमें संदेह नहीं कि इन सेवा कार्यों से समाज के प्रति प्रेम प्रगट होता है। परंतु इनसे हृदय में कुछ विशेष परिवर्तन होता है या समाज का उद्धार होता है यह हम कह सकें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार के विधायक कार्यों के बारे में अन्य भी अनेक कल्पनाएं सामने रखी जाती हैं। संघ एक सबल संगठन है। अतः समाज में रहकर उसे समाज सेवा करनी चाहिए, ऐसा कहने वाले लोग जो नाना प्रकार की कल्पनाएं बतलाते हैं उनमें से एक कल्पना बतलाता हूं। कुछ लोगों का यह मत है कि संघ के समाज-प्रेमी और समाज-सेवी स्वयंसेवकों को नगरों और देहातों की स्वच्छता का कार्य सौंपा जाय। कल्पना अच्छी है। परंतु यह प्रश्न पैदा होता है कि प्रथम आवश्यकता किस बात की है। रास्ता साफ करने की या हृदय साफ करने की ? इसका क्या उत्तर है? यह तो ऐसा कहने के समान है कि किसी दुर्बल मनुष्य को लोहा किए हुए स्वच्छ वस्त्र पहिनाने से वह निरोगी हो जायेगा। आज इस तरह की कल्पनाएं अनेक विचारवान लोगों को भी प्रभावित करती हैं। उसका खूब बोलबाला होता है। उनका परिणाम होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से अनेक लोगों ने अपने को सूचनाएं दीं। उनकी इच्छा और पद्धति के अनुसार सूचनाओं का विचार नहीं हुआ तब यह टीका होने लगी कि संघ कुछ काम नहीं करता है, संघ के लोग केवल अंधानुकरणी हैं, अपने संकुचित क्षेत्र के बाहर झांकते नहीं हैं, उनका दृष्टिकोण संकुचित है। आलोचना और अनेकविध सूचनाओं के बावजूद उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न संघ ने क्यों नहीं किया? क्या संघ ने यह माना है कि इन सारी बातों और समाज के प्रश्नों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है? संघ की ऐसी धारणा कभी भी नहीं थी, परंतु संघ ने तरतम भाव से यह सूक्ष्म विचार अवश्य किया कि किन बातों को अग्रक्रम देना चाहिए, किन बातों पर प्रथम अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप अन्य बातें साध्य हो सकें।

चार साल पूर्व मैं बिहार के प्रवास पर गया था। वहां कुछ सज्जनों के साथ, जो स्वयंसेवक नहीं थे, वार्तालाप करने का अवसर मिला। उनमें कांग्रेस के एम.एल.ए. भी थे। उन्होंने और उनके मित्रों ने मुझसे यह प्रश्न पूछा—"आप इतने युवक इकट्ठा करते हो तो उनके द्वारा कोई विधायक कार्य क्यों नहीं करवाते?" मैंने उनसे कहा, "अपने इस समाज में संस्कारपूर्वक समष्टि परायणता निर्माण कर, उसके अंतःकरण में एकात्मक-भाव निर्माण कर एक सुव्यवस्थित, व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय की समष्टि

परायणता के आधार पर स्थित संगठनात्मक रचना खड़ी करना क्या विधायक कार्य नहीं है?" उस सज्जन को मेरा कथन जंचा। समष्टि में व्यक्ति-व्यक्ति के गुणावगुणों की भी विशेष रचना कर उन्हें स्वार्थ-परायण नहीं तो समष्टि-परायण बनाने से समाज के सामने की अन्य भी समस्याएं स्वाभाविकतः सुगम होंगी यह विचार उन्हें मान्य हुआ। जो सद्भावपूर्ण विचार करने वाले लोग थे, और हैं, वे यह कार्य विशिष्ट पद्धति से, तात्कालिक समस्याएं बाजू में रखकर चल रहा है, इस यथार्थता को जानते हैं और वे इस कार्य की महत्ता समझ सकते हैं।

वास्तव में यह कार्य पूर्ण होना राष्ट्रीय जीवन-चैतन्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस कार्य की पूर्णता की कल्पना भी बहुत व्यापक है। यह कार्य व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुंचाना और उनका हृदय परिवर्तन कर उन्हें समष्टि परायण बनाना, कार्य के पूर्णत्व की कल्पना है।

परन्तु फिर यह प्रश्न निर्माण होता है कि इस अर्थ में काम पूर्ण करने के लिए कितना समय लगेगा? तब तक क्या समाज के सामने की आज की समस्याओं की ओर से आंखें मूंद कर बैठे रहना चाहिए। इसलिए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार में उपयुक्तता के दृष्टिकोण से पूर्णता का और भी एक अर्थ किया जा सकता है। उस अर्थ को ध्यान में रखकर ही हम कार्य के सम्बन्ध में बोलते हैं। वह अर्थ यह है कि कार्य को इतना व्यापक बनाएं कि समाज के अंग-प्रत्यंग प्रभावित और नियंत्रित करने के लिए वह सबल और सक्षम हो।

स्थान-स्थान पर हम अपना कार्य करते हैं। संख्या बढ़ाते हैं। अनुशासनादि गुण पैदा करते हैं। परंतु क्या ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि वहां के अपने अस्तित्व से सर्वसाधारण जनता के मन पर प्रभुत्व प्राप्त किया है? यदि यह कहा जा सके तो ऐसा मानना चाहिए कि कार्य की व्यावहारिक सीमा तक हम पहुंच चुके हैं। अन्यथा यह मानना पड़ेगा कि उस सीमा तक पहुंचने में अभी विलम्ब है। हर स्थान का हिसाब करके इस सीमा तक पहुंचने के लिए आवश्यक संख्या आदि बतलाना कठिन है; परंतु कल्पना शक्ति से वह सीमा हम सहज समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी स्थान पर ऐसी स्थिति प्राप्त हो गई कि गुंडागर्दी और समाजविरोधी कार्यों में ही जो महानुभाव सार्थकता मानते हैं उनकी समाजविरोधी हरकतों को बिलकुल गुंजाइश नहीं रही, केवल अपने अस्तित्व से सामाजिक जीवन शांततामय और सुव्यवस्थित हो गया है, ऐसे स्थान पर कार्य प्रभावी है, ऐसा कह सकेंगे।

दो वर्ष पूर्व उत्तर के एक प्रांत से मुझे इस आशय के पत्र मिले कि केवल शाखा के अस्तित्व के कारण ही समाज शांति और सुरक्षितता से जीवन बिता रहा है। किसी भी तरह का उपद्रव नहीं हो रहा है, समाज विघातक प्रवृत्ति के लोगों की हरकतों को अवकाश

६

मूलभूत कार्य

मनुष्य जब कार्यक्षेत्र में कदम रखता है तब संकट टूट पड़ते हैं और उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। पथभ्रष्टता का उदाहरण ढूंढने के लिए अपने को बहुत दूर की यात्रा करने की आवश्यकता नहीं है। बड़े-बड़े सिद्धांत सामने रखकर, बड़ी-बड़ी आदर्शा की बातें बताकर तथा उपलब्ध सभी साधनों का उपयोग कर जिस कार्य का अपने देश में डिंडिम पीटा गया उसे करने वाले सर्वसाधारण व्यक्ति की क्या अवस्था है, यह हम आज देख रहे हैं। सभी किसी न किसी स्वार्थ के पीछे पड़कर पथभ्रष्ट हो गए हैं। सच्ची सद्भावना से राष्ट्रभक्ति करने वाले बिलकुल बिरले ही हैं। सर्वसाधारण समाज स्वार्थ के परे देश या राष्ट्र का विचार भी नहीं करता। इन उदाहरणों से सहजता से ज्ञात होगा कि जिस पद्धति से आवश्यक व्यक्तिगत गुण-विकास होता है उस पद्धति से कार्य न होने से समाज-रचना योग्य रीति से करना संभव नहीं है। हम अपने प्रयत्नों का विचार करें तो दिखाई देगा कि सब प्रकार के संकटों से पृथक रखकर व्यक्तिगत गुणों के सम्पूर्ण विकास की जैसी योजना अपनी कार्य-प्रणाली में है वैसी अन्य कहीं भी नहीं है। अपने भारतवर्ष में प्रचलित धार्मिक विचार में एक विचार यह है कि परिपूर्ण आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को पारिवारिक बंधन तोड़ डालना चाहिए। सर्व विषयों से विमुख होकर, संन्यस्त होकर ईश्वर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इसकी अनेक लोगों ने आलोचना भी की है। उनका कहना है कि संसार में रहकर भी विरक्त रहने में ही सच्ची शूरता और श्रेष्ठता है। अपनी संसारासक्ति छिपाने के लिए, संसार त्याग करने को वे भीरूता कहते हैं। उनका तर्कवाद बाह्यतः बड़ा ही आकर्षक और रोचक लगता है। उन आकर्षक शब्दों में सीधा-सादा मनुष्य फंसता है और उसे भी लगने लगता है कि संसार त्याग कर मोक्ष प्राप्ति के प्रयास में क्या पुरुषार्थ है? संसार के माया-मोह सामने रहते हुए भी उनका मन पर

असर न होने देना ही परम श्रेष्ठता है। अपने कार्य के बारे में भी ऐसी ही कल्पना रहती है। जिस कार्य-पद्धति में गुण-विकास रुककर राष्ट्र-प्रीति की विशुद्ध भावना में बाधा डालने वाले स्वार्थ, अहंकार, वैयक्तिक मानापमान, सत्ताभिलाषा या अन्य अवगुण अनेक रूपों में निर्माण हो सकते हैं वैसी कार्य-पद्धति ग्रहण कर अवगुणों से अछूते रहते हुए हम अपनी रचना पूर्ण करें यह कल्पना बहुत ही रोचक लगती है। ऐसा कहा जाता है कि चौबीस वर्षों के कार्य के बाद भी इन अवगुणों का अपने पर परिणाम होगा क्या? इन अवगुणों को अवसर न देते हुए भिन्न-भिन्न विचार-प्रणालियों को अपनाकर प्रत्यक्ष कार्य को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ने में बड़प्पन नहीं है क्या? इसमें बड़प्पन है यह विचार एकदम अपने को अच्छा लगता है, आकर्षित करता है। इसी विचार से मिलता-जुलता और भी एक रूप अनेक लोगों के मन में आता है कि इस रीति से कार्य करके एक तरह से हम कर्तव्य पूर्ति कर रहे हैं, समाज सेवा कर रहे हैं, स्नेह और सौहार्द से ओतप्रोत अंतःकरण से जनता के दैनिक दुःख हम दूर कर रहे हैं, यह कल्पना एक प्रकार से लुभावनी लगती है और मन को आकर्षित भी करती है।

परंतु इस रोचकता और आकर्षण का सत्यस्वरूप क्या है यह हमें समझ लेना चाहिए। अन्यथा अन्यों की कार्य क्षेत्र में जो भीषण दुर्दशा हुई वैसी ही हमारी भी हुए बिना नहीं रहेगी। हमने चौबीस वर्षों (१९४९) तक तपस्या की है, सब प्रकार की कठिनाइयों में काम किया है। इसमें अनेक गुण निर्माण हुए हैं, फिर किसी भी पद्धति से कार्य किया तो दूसरों को जैसा नाना अवगुणों ने धर दबाया वैसा अपने बारे में होना संभव नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है। इसमें वृथा अहंकार है। चूंकि कार्य करने के पूर्व अन्य लोगों में गुण नहीं थे इसलिए वे कुप्रवृत्तियों के शिकार हुए यह कहना आत्मश्लाघा होगी। यह भाव अयोग्य है। संकटों के व्यूह में फंसने की यह पहली सीढ़ी है। इसलिए शांतिपूर्वक तथा दक्षतापूर्वक इस बात पर विचार होना चाहिए और यदि विचारोपरांत सही लगता है कि कार्य विशिष्ट मर्यादा तक जब तक नहीं पहुँचता है तब तक सारे आकर्षक लगने वाले विचार आने पर भी हृदय पर संयम रखकर, जिस कार्य ने हमें वैयक्तिक दोषों से दूर रखकर निःस्वार्थ राष्ट्रचिंतन, विशुद्ध राष्ट्र-प्रीति का गुण दिया वही कार्य इस मर्यादा तक बढ़ाने के लिए अखण्ड प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। मुझे लगता है कि इसमें न समझने जैसा कुछ भी नहीं है। थोड़ा विचार किया तो यह सत्य सहजता से समझा जा सकता है।

संसार में रहकर संसार के माया-मोह सामने रहते हुए भी उनके परिणामों से अछूते रहते हुए ईश्वर प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेने में श्रेष्ठता है, ऐसा जो लोग कहते हैं, वह सत्य है, यह मान भी लें तो भी ऐसे उदाहरण कितने हैं? खूब खोज करने पर भी मात्र एक ही उदाहरण लोगों के सामने आता है। सर्वसाधारण मनुष्यों में वैसा उदाहरण नहीं मिलता है। इसके विपरीत उदाहरण दीखते हैं। जिन्होंने वर्षानुवर्ष तपस्या की है, एकांतवास का सेवन किया है, निवृत्ति का अभ्यास किया है उनके मन भी सांसारिक सुख सामने आते ही वे

लोगों से हिल-मिल कर रहना, मनोविनोद, कथा-कथन आदि बातों में उसकी विशेष योग्यता थी। गांव के बड़े-बड़े घरों में भी उसका प्रभाव था। केवल आंतरिक योग्यता रहने के कारण अनपढ़ होकर भी वह यह सब कर सका। कार्य करने के लिए स्वयंसेवकों में योग्यता चाहिए। यदि योग्यता न हो तो समाज को क्या दोगे? कुएं में जल न हो तो बर्तन में कहां से आयेगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि जहां लोग अपने कार्यकर्ता की बातें श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, कार्य को समाज में अच्छी प्रतिष्ठा रहती है, सर्वत्र यह अनुभूति रहती है कि यह एक अनुशासित शक्ति है, जनता स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से यह अनुभव करती है कि इस संगठन के घटक समाज के अन्य घटकों से विशेष गुण सम्पन्न हैं, यह माना जा सकता है कि वहां वे कार्य, जिसे जनसाधारण जनसेवा मानता है, करने में अनुकूलता है।

विगत ५० वर्षों से अपने देश में "कन्स्ट्रक्टिव्ह वर्क", रचनात्मक कार्य, की रट लगाई जा रही है। परंतु विचार करने पर यह दिखाई देता है कि "कन्स्ट्रक्शन" की अपेक्षा "डिस्ट्रक्शन" ही अधिक हुआ है। इसका कारण यह है कि प्रथम रचना मनुष्यों की हो इसकी ओर दुर्लक्ष किया गया। यह तो 'पास में पैसा नहीं और चले घर बनाने' जैसी अव्यावहारिक बात हुई। यदि सुव्यवस्थित, सुसंगठित, अनुशासनबद्ध शक्ति हो, संगठन के घटक केवल "दक्ष-आरम्" के सिवाय अन्य भी अनेक बातें अपनी बातचीत और आचरण से समाज को सिखाने के लिए सक्षम हों—इस प्रकार का प्रथम "कन्स्ट्रक्शन" ठीक हुआ हो, तो ही तथाकथित अन्य काम हो सकते हैं। यह संभव है कि कुछ लोग संभाषण-पटु न हों, परंतु उससे कुछ बाधा नहीं आती। आचरण से वे अपने विचार प्रकट कर सकते हैं और समाज पर उनका प्रभाव पड़ सकता है। घंटा भर विचार करने पर भी जो मुख से एक सरल वाक्य भी बोल नहीं पाते हैं, जिन्हें शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है; परंतु जिनके हृदय पर राष्ट्रीय भावना, भारत की एकात्मता, कार्य की आवश्यकता, उसके लिए आवश्यक व्यवहार के परिपूर्ण संस्कार हुए हैं, वे भी जनता के श्रद्धाभाजन बन सकते हैं।

एक स्थान पर अपना ऐसा ही एक दो-तीन कक्षा पढ़ा हुआ स्वयंसेवक गया तथा उसने कार्य प्रारंभ करने की चेष्टा की। वहां कुछ वाकपटु विरोधी भक्तों ने पहले ही घर-घर घूमकर संघ को सब प्रकार से बदनाम करने का उद्योग किया था। इतनी उद्यमशीलता अच्छे कार्य के लिए अपने देशवासियों ने दिखाई होती तो अपने देश का चित्र कब का बदल चुका होता। अपने कार्यकर्ता ने घर-घर जाकर स्वयंसेवक जुटाना प्रारंभ किया। परन्तु विरोधी लोग प्रश्न आदि पूछने की दृष्टि से गांव वालों को उत्तम पाठ पढ़ा चुके थे। अपना कार्यकर्ता सीधा था। वह चालाकी नहीं जानता था। लोग नाना तरह के प्रश्न पूछने और उपहास करने लगे। कार्यकर्ता के सामने विकट समस्या खड़ी हो गई। परन्तु उसकी कार्य पर निष्ठा थी। वह विद्वत्तापूर्ण संभाषण नहीं कर सकता था। उसने लोगों से कहा कि वे कुछ दिनों तक उसके साथ कबड्डी खेलने के लिए आयें, फिर वह उनके सभी प्रश्नों के उत्तर देगा। शाखा शुरू हो गई। ख़ास बात यह हुई कि उस कार्यकर्त्ता पर उसके साथ

खेलने वालों की धीरे-धीरे श्रद्धा बैठने लगी। सबको वह प्रिय हुआ। यह कैसे हुआ? उसका व्यवहार इतना स्नेहपूर्ण था, उसका चारित्र्य इतना उत्तम था कि लोगों के मन में उसके प्रति अपने आप आदर निर्माण हुआ, बोलने की आवश्कता नहीं पड़ी। लोगों को उसके आचरण से दिखाई दिया कि उसे विद्वत्तापूर्ण भाषण करना भले न आता हो; परंतु इसमें अनेकविध गुण हैं, चारित्र्य है। इसके विपरीत विरोधी प्रचार करने वालों का स्वार्थी और दुर्गुण सम्पन्न जीवन बड़े-बड़े शब्दों की आड़ में नहीं छिप सका। उन्हें यह भी दिखाई दिया कि उसके पास जीवनादर्श, त्याग आदि विलोभनीय गुण हैं। स्नेहयुक्त व्यवहार है तथा कार्य पर ही उसकी दृष्टि केन्द्रित है। इसलिए शब्दों और आचरण से चारित्र्य गुण, जिनका अन्यत्र अभाव है, हमने प्रकट किए, कार्य का प्रभाव और विस्तार बढ़ाया तो ही तथाकथित रचनात्मक ''कन्स्ट्रविटव्ह'' कार्य भी हो सकता है।

आज संघ को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई दिखाई देती है वह अधिकतर काल्पनिक है। समाचारपत्रों ने इसे निर्माण की है। लोग समझते हैं कि संघ के पास अपार मनुष्य शक्ति और सामर्थ्य है। जनता को स्वाभाविकतः संघ से बड़ी-बड़ी अपेक्षाएं हैं। परन्तु एक ओर यह अपेक्षा इतनी बढ़ गई है और दूसरी ओर कार्य का प्रत्यक्ष स्वरूप घट गया है। दो वर्ष पूर्व की संख्या, कार्य का उत्साह, वातावरण, प्रचारक आदि बातों से तुलना करें तो कहना पड़ेगा कि कार्य का प्रत्यक्ष प्रभाव घटा है। बीच की अवधि (प्रतिबंध काल १९४८-१९४९) की स्थिति का विचार करने पर इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ नहीं है। परंतु दो वर्ष पूर्व रुका हुआ प्रवाह पुनः परिपूर्ण गति से बहने लगे इसकी आज नितांत आवश्यकता है। इसका हम विचार करें। यह समझकर कि एक विशष्टि प्रकार की संगठन की अवस्था निर्माण होने तक समाज-सेवा के अन्यान्य कार्य नहीं हो सकते हैं, उस मर्यादा तक पहुंचने के लिए अथक प्रयत्नों की आज आवश्यकता है, उस मंजिल की ओर ध्यान देना चाहिए। अपने बोलने से, व्यवहार से, चारित्र्य से सर्वत्र यह भाव निर्माण करना चाहिए कि समाज सेवा करने की पात्रता यदि किसी में है तो वह इनमें ही है। यह कार्य नहीं होगा तो अखण्ड राष्ट्ररूप में समाज कैसे खड़ा रह सकेगा? अपने संपर्क से ऐसी व्यापक भावना समाज में पैदा की, कार्य को प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी, तो ही अन्यान्य समाज-सेवा के कार्यों का विचार करना उचित होगा। आज अपनी जो स्थिति है उसका विचार करते हुए, कार्य की योग्यता विशिष्ठ मर्यादा तक ले जाने के बजाय भिन्न-भिन्न समाज कार्यों को स्वीकार करते बैठना मुझे तो सर्वथा अनुचित लगता है। एक ओर जनता की अपेक्षाएं, अपनी योग्यता के बारे में कल्पना, शतगुणित हुई हैं, और दूसरी ओर कार्य घट गया है। ऐसी स्थिति में हम समाज-रचना कर सकेंगे, यह कहना व्यर्थ है। आज तो सम्पूर्ण शक्ति से, अन्य सभी छोटी-छोटी बातें बाजू में रखकर, अपनी ही पद्धति से तेजस्वी, प्रतिष्ठा-सम्पन्न, प्रभावी तथा व्यापक कार्य का निर्माण शीघ्रातिशीघ्र करें। यदि ऐसा हम नहीं करेंगे तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि हमारा कोई भविष्य नहीं है–(''वी हॅव नो फ्यूचर, एब्सोल्यूटली नो फ्यूचर)।''

(श्री गुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० ११९–१२५) (२० अक्टूबर, १९४९, नागपुर)

विचलित हो जाते हैं। अपने कार्य के संबंध में ऐसा ही विचार किया तो जब तक कार्य को विशेष स्थिरता, विशेष दृढ़ता प्राप्त नहीं होती तब तक अन्य कार्य का विचार करना और अपने में दोष नहीं आयेंगे ऐसी धारणा रखना भूल है, यह स्पष्ट ही होगा। हमने २४ वर्ष (१९४९) तपस्या की, इस प्रकार की भावना भी दोषपूर्ण है। अपनी यह भावना वस्तुस्थिति पर आधारित नहीं है। मैं जो कह रहा हूं उसकी सत्यता के लिए दूर का प्रमाण आवश्यक नहीं है।

चौबीस वर्ष (१९४९) हमने कार्य किया है। विशिष्ट सीमा तक पहुंचने का प्रयत्न किया। अपना मार्ग निश्चयपूर्वक आंखों के सामने रखा। ध्येय दृष्टि दृढ़ रखी। परिश्रम किये। परन्तु उसके बाद एक छोटा सा संकट आते ही, उससे अपने मन विचलित हुए। परस्पर स्नेह, कार्यप्रणाली की श्रद्धा पर कितना आघात हुआ। परस्पर का विश्वास, सहकार्य की प्रवृत्ति कम हुई। दूसरों में भी कार्य के सम्बन्ध में विचार करने की पात्रता है, यह ध्यान में न लेते हुए परस्पर के प्रति संदेह उत्पन्न हुआ। छोटे से संकट में संगठन का सूत्र शिथिल हुआ। आज भी शिथिल ही दिखाई देता है। अत: अपना अभिमान वस्तुस्थिति पर आधारित नहीं है, यह सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है। चौबीस वर्ष तपस्या का अभिमान व्यर्थ है, क्योंकि इतने दीर्घकाल तपस्या की तो भी यह अपूर्ण है। अभिमान व्यर्थ है, क्योंकि इतने दीर्घकाल तपस्या की तो भी यह अपूर्ण है।

जब मैं सब दूर कार्य का स्वरूप देखता हूं तब मुझे ऐसा लगता है कि अभी तो नींव भरने का कार्य भी पूर्ण नहीं हुआ है। वह काम पूर्ण होने के लिए अत्यंत परिश्रम की आवश्यकता है। फिर भी शिखर का विचार क्यों? इतनी जल्दबाजी का क्या प्रयोजन है? एक व्यावहारिक दृष्टिकोण में से यह विचार मैंने आप लोगों के सामने रखा और अन्य रीति से भी हम विचार कर सकते हैं।

बीच में छोटा-सा कालखण्ड बीता। परंतु इतने वर्षों तक काम करके भी उस छोटे से कालखण्ड में परस्पर संपर्क नहीं रखा जा सका। कार्य सुसूत्र रखने की व्यवस्था अपनी कार्यप्रणाली के अनुसार हम कर नहीं सके। इस कालखण्ड की अवस्था का परिणाम भी क्या हुआ? अनेक लोगों के मन में कार्य के विषय में शंकाएं पैदा हुई। कौन जाने कार्य का क्या होगा, अपने व्यक्तिगत जीवन की तो व्यवस्था ठीक-ठाक कर ली जाय, ऐसा विचार करके अनेक लोगों ने व्यक्तिगत सुख की राह नापी। अनेक लोगों को सामने केवल अंधकार दिखाई देने लगा। उनके अंत:करण की अवस्था विचार-शून्य हो गई। यह भी अनुभव हुआ कि इस आपत्तिकाल में परस्पर स्नेह-भाव कम हुआ है। बड़े परिवार पर आपत्ति टूट पड़ने पर जिस प्रकार लोग अलग हो जाते हैं, प्राण गंवाने की स्थिति में अपत्य के प्रति माता का स्नेह भी सूख जाता है, उसी प्रकार का स्नेह-शून्य व्यवहार कुछ मात्रा में पैदा हुआ कि नहीं? सहयोग, समझदारी का अभाव प्रकट हुआ या नहीं? फिर किस आधार पर यह आत्मविश्वास कर सकेंगे कि जिनसे दुर्गुण पैदा होने की संभावना है वैसे अन्यान्य

कार्य या भिन्न समाज-कार्य का प्रयत्न किया तो अपना पतन होगा नहीं, पतन हो ही नहीं सकेगा, इतना अपने अंतःकरण का भाव और संस्कार दृढ़ है इसका क्या हमें विश्वास है? अनुभव तो ऐसा खास नहीं है। चाहे जो परिस्थिति पैदा हो, पचास वर्ष भी कार्य में खण्ड आया—तो भी उसका सूत्र यत्किंचित् भी न टूटने की दृढ़ता प्राप्त हुई या नहीं इसका स्वयं के अन्तःकरण को प्रमाण मानकर निर्णय करें।

इसके सिवाय करने योग्य एक और बात है। अन्यान्य कार्य में यह अनुभव होता है कि व्यक्तियों के स्वार्थ, मत, आग्रह की बाधा पैदा होकर संगठन का—सुव्यवस्थित कार्य का—सूत्र खण्डित होता है। अपने में भी वैयक्तिक विचार-विकार होंगे परंतु समष्टि में कार्य करते समय उन पर संयम रखकर, दूसरों से स्नेहपूर्ण, विश्वासपूर्ण विचार-विनिमय कर, अपने ही आग्रह या हठ पर अड़े न रहकर विचारों का मेल उत्पन्न करने की प्रवृत्ति पूर्णतः है क्या? सहयोगियों पर प्रेम, विश्वास, मत भिन्नता में भी आग्रह त्याग कर एकता की दृष्टि, हममें कितनी मात्रा में आई है? वैसे ही व्यक्तिगत जीवन के आदर्श के बारे में बार-बार कहने पर भी अपने स्वतः के जीवन में उसका कितना अंश उतारने में हम सफल हुए हैं? इस प्रकार विचार करने के बाद ही यदि यह निष्कर्ष निकले, अपना हृदय यह साक्ष्य दे कि परस्पर विश्वास अटल है, सहयोग पर्याप्त है, समष्टि-जीवन के सद्गुणों का निष्ठा से परिपालन की दृढ़ता है, हृदय में कोई चंचलता नहीं है, तो फिर उसके आगे का विचार कर सकते हैं। क्या हम ऐसा कह सकते हैं और यह महत्व की बात है कि क्या हमने अपनेजीवन में इन गुणों के आदर्श का निर्माण किया है।

मैं कदापि नहीं कहूंगा कि साधारण जनसमूह का जो स्तर है उसके आगे एक भी कदम हमने नहीं रखा है। मेरा दृष्टिकोण निष्कारण "आप्टिमिस्टिक"—आशावादी—न हो तो भी वास्तववादी "रियालिस्टिक" है। "आप्टिमिज्म" और "पैसिमिज्म" दोनों छोर छोड़कर जो वास्तविकता है उसका मैं विचार करता हूं। कुछ लोग कहते हैं कि हम लोगों ने बहुत बड़ा संगठन खड़ा किया है। सर्वत्र संघ कार्य का नशा चढ़ा है। उत्साह, आनंद, हर्ष का वायुमण्डल है। परंतु दूसरे, जो सूक्ष्म विचार करने वाले हैं, कहते हैं, इन लोगों ने कौन सा परिवर्तन लोगों के जीवन में लाया है? स्वार्थ प्रवृत्ति वैसी ही है। पारिवारिक जीवन में लोग डूबे हुए हैं। थेड़ा "रूटीन" काम करते हैं। दिन में दो-चार घंटे थोड़ा परिश्रम करते दिखाई देते हैं। प्रत्येक उत्तम भाषण करता है। ऊपर कें लोग हाथ के नीचे वालों से कहते हैं कि काम बढ़ाओ। सच्चा काम कोई नहीं करता है। यह दृष्टि कुछ वास्तववादियों की है। मेरा इनमें से कोई भी अतिरंजित दृष्टिकोण नहीं है।

आज देश का वायुमण्डल स्वार्थ से भरा हुआ है। उसमें परिश्रम करके कुछ समय के लिए क्यों न हो स्वार्थी वायुमण्डल छोड़कर एकाध व्यक्ति भी निःस्वार्थ कार्य करने के लिए सामने बढ़ता है, तो वह सफलता ही है। परंतु गर्व, अभिमान कर सकें ऐसी सफलता हमने प्राप्त की है क्या? इस पर विचार करने से दिखाई देगा कि गर्व करने लायक कुछ भी नहीं

है।हम उनके समान स्वार्थी नहीं हैं, ऐसा कहने में, आशादायी सत्य होने पर भी, कोई लाभ नहीं। वस्तुस्थिति इन शब्दों में रखी जा सकती है कि हमने अंशतः प्रगति की है। अपने में कुछ ऐसे लोग निश्चय ही निर्माण हुए हैं जिन्होंने अपना सारा ध्यान कार्य पर ही केन्द्रित किया है। उन्होंने व्यक्तिगत जीवन निःसार माना है। उसमें रुचि न लेकर केवल कार्य में रुचि ली है। अन्य सब बातों पर से ध्यान हटाकर उसे कार्य पर केन्द्रित किया है। परिश्रम, संकट, भोजन मिले न मिले किसी की भी चिंता नहीं की। आपत्ति में भी अंतःकरण दृढ़ और अविचल रखा। ऐसे व्यक्ति अन्यत्र नहीं दिखते, किन्तु अपने यहां निर्माण हुए। पानी में डूबते-डूबते किसी तरह जीऊंगा ही ऐसा विचार करते-करते डूबकर मरने वाले के विचार के समान यह मूढ़ आशावाद नहीं है। यह वास्तविकता है। प्रगति का अनुभव दिलाने वाला निश्चित कदम है। इच्छानुसार सफलता न मिली हो फिर भी कदम आगे बढ़ा है, और, और आगे बढ़ने की प्रवत्ति है। ऐसा संतोष देने वाला आशादायी चित्र दीखता है।

परंतु इसके साथ ही यह ध्यान रखें कि असंतोष पैदा करने वाली, अधिक प्रगति होनी चाहिए ऐसी प्रेरणा देने वाली अपूर्णता भी अपने में बहुत बड़े पैमाने पर है। हमने इस अपूर्णता को समझा है या नहीं? अपूर्णता है, खूब परिवर्तन करना बाकी है, ऐसा विचार मन में पैदा होता है या नहीं? निरहंकारी वृत्ति, समन्वय की पात्रता, कार्यनिष्ठा के सामने अन्य सारी बातें गौण हैं, यह भावना अपने जीवन में दृढ़ है क्या? क्या केवल अनेक दिनों की आदत के कारण हम संघ में जाते हैं? संघ में क्यों हैं इसका कारण मन में स्पष्ट हो। अन्य कुछ करना आता नहीं इसलिए संघ में आते हैं, यह स्थिति ठीक नहीं। वास्तविक कार्य करने की प्रवृत्ति के लिए जो आवश्यक श्रद्धा और जीवन में परिवर्तन चाहिए वह हममें है क्या? और क्या उसमें हमें सफलता मिली है? इस दृष्टि से बहुत ही प्रयत्न करने के लिए गुंजायश है। यह गुंजायश है इसलिए आज एक ही विचार मन में आना चाहिए कि जिस कार्यप्रणाली द्वारा व्यक्ति के परिपूर्ण विकास पथ के रोड़े दूर होकर श्रद्धायुक्त तथा ध्येयनिष्ठ जीवन की रचना निर्माण हो सकती है, उस अपनी ही कार्यप्रणाली का अनुसरण अधिक से अधिक दृढ़ निष्ठा से हम करें। इसके सिवा अन्य कोई भी विचार परिणामतः लाभदायी सिद्ध होना कठिन है।

कई बार अपने मन में अनेक विचार आते हैं। परंतु सचमुच क्या चाहिए इसकी स्पष्ट कल्पना आंखों के सामने नहीं रहती है। जहां जाना है वहां का पता मालूम नहीं, ऐसी अवस्था होती है। मन की संभ्रमावस्था के कारण पथ पर निष्ठा भी दृढ़ नहीं रहती। साधारण धारणा यह रहती है कि हमें भौतिक जीवन उन्नत करना है। केवल खाना-पीना-वस्त्र आदि समस्याओं को ही हल करना है। उसके लिए सकृत फलदायी परंतु परिणामतः लाभ शून्य मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है। भौतिक फल का ही विचार मन में हो, तो उसमें भारतवर्ष और अपने जीवन की कुछ भी विशेषता नहीं है। मामूली खाना-पीना, ओढ़ना आदि बातों का ही विचार सामने हो, तो इतनी दौड़धूप, परिश्रम की

कोई आवश्यकता नहीं है। हमें राष्ट्र के मनुष्य जीवन में इस प्रकार रचना-निर्माण करना है कि किसी भी प्रकार के बाह्य नियंत्रण के बिना मनुष्य समाज अंतःस्फूर्ति से, स्वयंस्फूर्त स्नेह से, सुव्यवस्थित रीति से, सबके सुख की चिंता करता हुआ अपना जीवन बनाएगा। बाह्य नियंत्रण के बिना इस प्रकार स्वयंस्फूर्त समष्टि जीवन की प्रवृत्ति समाज के व्यक्ति में उत्पन्न करना, उसके अनुसार उसके व्यवहार को बदलना भारतीय संस्कृति के संस्कार अंतःकरण पर दृढ़ हुए बिना संभव नहीं है।

दुनिया में विविध प्रकार से भौतिक सुखवाद का प्रयोग किया गया और उसका यह अनुभव है कि उस प्रकार की रचना में नियंत्रण पूर्व की अपेक्षा बढ़ गया है। लोग एक विशिष्ट सत्ता के उत्तरोत्तर अधिक से अधिक गुलाम बनते जाते हैं। क्योंकि अन्न-वस्त्र आदि के केवल भौतिक विचार में सचमुच स्नेह पैदा करने की ताकत नहीं है। अपना जीवन पंचभौतिक है। और उसमें केवल संयोग से (वाय एक्सिडेंट) जीवन का निर्माण हुआ ऐसे दर्शन की परिणति चार्वाक पंथीय "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" या "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" विचारों में हुई तो कोई आश्चर्य नहीं। अपने सुख के लिए पड़ोसी का खून भी करने के लिए केवल कानून या बदले के भय के सिवाय ऐसे दर्शन में क्या रुकावट है? भौतिक विचार से केवल स्वार्थ का ही विचार पैदा होता है और अनेक बार स्वार्थ के कारण परस्पर कलह, संघर्ष निर्मित होता है। परंतु यह जीवन का "निगेटिव्ह एस्पेक्ट"—नकारात्मक पहलू—है। समाज घटकों में परस्पर आकर्षण क्यों चाहिए? इसका संतोषजनक विचार इसमें नहीं है।

अपनी भारतीय संस्कृति की शिक्षा का विचार करें तो दिखाई देगा कि सम्पूर्ण समाज एकरूप है, व्यक्ति एक ही चिरंतन तत्व का अंग है, सारा जीवन-प्रवाह एक ही है। इससे आत्मीयता बढ़ती है, एकात्म भावना का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार की एकात्मता का परिपूर्ण साक्षात्कार अंतःकरण में होने पर सर्वथा नियंत्रण शून्य, अंतःस्फूर्त, निर्मल स्नेहभाव अंतःकरण में पैदा हो सकता है। इसके बिना वह कदापि संभव नहीं होगा। केवल राजनीतिक या आर्थिक व्यवहार के आधार पर एकात्मता की यह अनुभूति असंभवनीय है। अपने जीवन में इस अनुभूति की नितांत आवश्यकता है। अतः स्वाभाविकतः समाज के अन्य घटकों के साथ स्नेहपूर्ण एकात्म भावना का व्यवहार करते आना चाहिए। इसके लिए समाज में एकात्म भावना का जागरण करना पड़ेगा। वह जागरण अपनी सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर ही करना संभव है। यह सब हमें समझना होगा। आपको ये शब्द कठिन लगते होंगे परंतु थोड़ा समझने का प्रयास करेंगे तो यह सत्य आपको भी सहज प्रतीत हो सकेगा।

अपना यह राष्ट्र दुनिया में बलशाली, सुसम्पन्न, वैभव-सम्पन्न बनकर सम्मान से रहना चाहिए। वैसी पात्रता उसमें आनी चाहिए। उसके लिए समष्टि के अंगभूत व्यक्ति समष्टि में रहकर अपना विकास करते हुए पूर्णत्व की ओर जा सकें ऐसा वातावरण निर्माण

करने वाली समाज रचना हो, अंतःस्फूर्ति से, परस्पर स्नेहपूर्ण, सहयोगपूर्ण एकात्म भाव से प्रभावित ऐसा व्यवहार हो। उस व्यवहार के आधार पर आर्थिक या अन्य तात्कालिक प्रश्न हल करने की योजना बनानी चाहिए। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से राष्ट्र के प्रश्न हल करने का यही मार्ग है। यह एक स्वाभाविक विचार-परम्परा है।

यह सारा विचार संभवतः कठिन लग सकता है। परंतु वास्तव में समझने के लिए कठिन नहीं है। यह विचार एक बार मन में जम जाए तो उसके साथ ही उस विचार की सफलता के लिए जीवन में अनुकूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता निर्माण होती है। राष्ट्र को तेजस्वी, वैभवशाली, शक्तिमान बनाने के लिए समष्टि में रहने वाले व्यक्ति को मानव्य का परिपूर्ण विकास करने में सक्षम होना चाहिए। परस्पर स्नेहमय और आग्रह शून्य व्यवहार निर्माण होना चाहिए। इस दिशा में हमने क्या प्रगति की है, कितनी सफलता प्राप्त की है, इसका अपने ही अंतःकरण में निर्णय करें। अंत में हमको यह दिखाई देगा कि अपने स्वयं के जीवन में, व्यक्तिशः आदर्शानुसार जो परिवर्तन सचमुच होना चाहिए था, उससे हम सचमुच बहुत दूर हैं।

अब यह सफलता कैसे प्राप्त होगी ? जिस कार्य में स्वार्थपरायणता से भेद पैदा होने की संभावना न्यूनतम है उसके द्वारा ही यह सफलता मिलना संभव है। उसी में निःस्वार्थ तथा समष्टि परायण भावना से आदर्शानुरूप व्यक्ति जीवन का विकास होगा। अपने कार्य की रचना इसी तरह की है। यहां व्यक्ति के स्वार्थ को स्थान नहीं है। यहां है केवल समष्टि का अनुभव। एक दूसरे से व्यवहार करते समय भिन्न-भिन्न विचार प्रकट हुए, उनका घर्षण हुआ तो भी आग्रहशून्य होकर, अंतःकरण शुद्ध रखकर स्नेह व्यवहार करने के ही पाठ हमें यहां मिलते हैं। यहां सम्मान नहीं, अभिमान नहीं, जयजयकार नहीं, सुख नहीं। कुछ है भी तो दुःख है। त्याग है। परिश्रम है। घरबार के व्यवहार में से समय निकालकर काम करना है। अंतःकरण उदार बनाकर 'सब एक हैं' इस भाव का अनुभव लेना है। एकात्म-भाव आचरण में प्रकट होने के लिए स्वतः के विचार-विकार स्वेच्छा से नियंत्रित करने की यहां आवश्यकता है। इस प्रकार अपने कार्य का ढांचा है। आचरण की यह प्रणाली दुर्गुणों का निर्मूलन और व्यक्ति में चारित्र्य एवं समष्टि गुणों का विकास करने वाली है। उसे निष्ठा और श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके पर्याप्त मर्यादा तक कार्य की उन्नति करने के लिए अविराम परिश्रम करने की आज परम आवश्यकता है। बड़े-बड़े कार्यों की बातों में हम यह वास्तविकता भूल जाते हैं। अभी परस्पर पर्याप्त स्नेह नहीं है। विश्वास नहीं है। परस्परों की सद्भावनाओं पर श्रद्धा नहीं है। सामने की समस्याएं विकट हैं। देश का विस्तार बड़ा है। इन सारी बातों को मन में सोचकर क्या करणीय है इसका निर्णय करना चाहिए। स्नेहपूर्ण समष्टि जीवन निर्माण करने वाली, भिन्नता में एकात्मता का साक्षात्कार कराने वाली कार्यप्रणाली को निष्ठापूर्वक अपनाना आवश्यक है। यही मार्ग हमें योग्य दिशा की ओर ले जायेगा। अन्य रीति से शक्ति का अपव्यय मात्र होगा।

एक दूसरा विचार भी रखता हूं। मैं सोचता हूं कि यह पूर्व के विचार से भी अधिक महत्व का है। आज हम एकाध व्यक्ति को ही देशभक्त सम्बोधित करते हैं। अपना समाज व्यक्ति-पूजक बना गया है। या तो वह स्वयं का पूजक है या अन्य किसी व्यक्ति की पूजा करता है। आज व्यक्ति निरपेक्ष राष्ट्र-श्रद्धा की भावना समाज में नहीं है। वास्तव में व्यक्ति-निरपेक्ष परिपूर्ण राष्ट्र-श्रद्धा की भावना चिरंतन जीवित रहे, पीढ़ी दर पीढ़ी वह वर्धमान हो ऐसी राष्ट्र प्रेम की गंगा प्रवाहित करने की व्यवस्था अन्य किसी भी कार्य में नहीं दीखती। उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। तात्कालिक छोटी-बड़ी समस्याओं और स्वार्थ-साधन की ओर ही सभी का ध्यान है। यह सच है कि समय-समय पर अपने देश में महान पुरुष पैदा हुए। उनके उस समय के कर्तृत्व से समाज में चैतन्य भी उत्पन्न हुआ, लोग इकट्ठा हुए; परंतु उनके अंतःकरण में स्फूर्तिदायी शक्ति वह प्रभावशाली व्यक्ति ही था। छत्रपति शिवाजी हुए। उस महान पुरुष के कर्तृत्व से राष्ट्र में तेजस्वी वायुमण्डल निर्माण हुआ। उनके द्वारा निर्माण हुई भावना कुछ काल बनी रही। परंतु परंपरा का प्रभाव निर्माण नहीं हुआ। वह परंपरा खण्डित हुई। अपने राष्ट्र में अनेक अवतार हुए। परंतु आज उनका क्या बचा है ? उनके नाम पर केवल त्यौहार, व्रत, भजन-पूजन ही होता है; क्योंकि व्यक्ति-निरपेक्ष कर्तव्य-परायणता की भावना का प्रभाव और परम्परा निर्माण नहीं हुई। प्रवाह निर्माण करने, उसके चिरंतन प्रवाहित रहने की व्यवस्था करने की ओर ध्यान नहीं रहा। संभवतः उन महापुरुषों को वैसा अवकाश न मिला हो। शायद निर्माण हुआ प्रवाह शुष्क हो गया हो। परंतु यह सत्य है कि एक तो प्रवाह निर्माण नहीं हुआ या वह अधिक काल तक रहा नहीं। लोकमान्य तिलक का उदाहरण बिलकुल निकट का है। वे थे तब असंख्य लोग उनके निकट इकट्ठा हुए। परंतु उन्होंने किया हुआ कार्य उनके साथ ही समाप्त हो गया। गांधीजी की संपदा का तो उनकी मृत्यु के पूर्व ही सर्वनाश हुआ। आज उनका जय-जयकार होता होगा, उनकी वेषभूषा का बाह्यानुकरण होता होगा; परंतु उसमें परंपरा का सूत्र नहीं है। राष्ट्रभक्ति की गंगा, परम्परा से बहने वाला प्रवाह निर्माण न करते हुए ही सूख गयी और उस भावना के अभाव में देश पर आपत्तियां आईं। यह अपने इतिहास का अनुभव है। हजारों वर्षों के इतिहास का यह निष्कर्ष है कि समय-समय पर एकाध व्यक्ति में राष्ट्र-भक्ति की भावना प्रखरता से जागृत हुई। उस व्यक्ति के प्रभाव से—व्यक्ति-निरपेक्ष देशप्रेम से नहीं—लोग इकट्ठा हुए, उन्होंने काम किया। उस व्यक्ति के पश्चात् उतना ही प्रभावी व्यक्ति हुआ तो कार्य टिका अन्यथा ढह गया। यदि हमारा यह लक्ष्य है कि भारतीय राष्ट्र चिरंतन, तेजस्वी, वैभवशाली और ऐश्वर्य सम्पन्न हो तो परंपरा का चिरंतन प्रवाह उत्पन्न करने के प्रश्न की ओर हमें ध्यान देना ही पड़ेगा। राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन के लिए यह मूलभूत बात है। यह एक बात मन में पक्की बैठ गई तो समय-समय पर पैदा होने वाले छोटे-छोटे प्रश्न अपने हृदय को व्यथित नहीं करेंगे। अपने अंतःकरण में यह श्रद्धा रहेगी कि व्यक्ति निरपेक्ष राष्ट्रप्रेम की, राष्ट्र के चिरंतन कल्याण के

लिए, नितांत आवश्यक, चिरस्थायी परंपरा निर्माण करने का हम प्रयत्न कर रहे हैं और इतना महान् कार्य करने का, जो आज के इतिहास में किसी के द्वारा नहीं हुआ, जिसमें इससे पूर्व कोई भी सफल नहीं हुआ है, हम परिश्रम कर रहे हैं। यह कार्य आज तक नहीं हो पाया, परंतु होना जरूरी है। भारतीय समाज में व्यक्ति निरपेक्ष राष्ट्रप्रेम का प्रवाह उत्पन्न कर, वह चिरंतन बहता रहे ऐसी क्षमता उसमें उत्पन्न की, तो राष्ट्र के सामने समस्याएं नहीं रहेंगी। जब इसी एकमेव लक्ष्य पर जिनका ध्यान केन्द्रित हुआ है ऐसे लोग भारतवर्ष-भर स्थान-स्थान पर रहेंगे, स्वाभाविक, नियंत्रणशून्य, एकात्मता के साक्षात्कार में से उत्पन्न हुए स्नेहपूर्ण आचरण का आदर्श खड़ा करेंगे तभी यह गंगा निर्माण करना, राष्ट्र का अमृत तत्व प्रस्थापित करना सम्पूर्ण संभव होगा। यह दृढ़ और स्पष्ट भावना अपने अंतःकरण में सदैव रहनी चाहिए। मैं अपने जीवन के सामर्थ्य का कण-कण समर्पित कर अंतःस्फूर्ति से जीवन में परिवर्तन लाऊंगा तथा समाज के सम्मुख समष्टि में व्यक्ति के जीवन-यापन का अपनी संस्कृति से अनुरूप अपना आदर्श निर्माण करूंगा, उनका अभिमान नहीं करूंगा, इस निष्ठा से हमें कार्य-प्रवण होना चाहिए।

इस परिवर्तन के बारे में नित्य चिंतन करो। नित्य संभव न होता हो तो सप्ताह या कम से कम मास में एक बार अवश्य एकांत में शांति से चिंतन करो। हमने मास भर में क्या उन्नति की, क्या प्राप्त किया, हम एक दूसरे के साथ रहे, अनेक लोगों से हमारा सम्पर्क हुआ, तो अपने आचरण में परस्पर स्नेह और श्रद्धा बढ़ी हुई दिखाई दी क्या? या प्रवाह पतित होकर कार्य के प्रवाह में बहते गए और जिनके साथ टकराहट हुई स्नेहशून्य हृदय से उनके दोष ढूंढने के विचार आते रहे? या अहंकार से त्रस्त रहे? इस प्रकार के चिंतन के लिए हरएक को समय निकालना चाहिए। उन क्षणों में सोचो कि हम जिनके संपर्क में आये उनके स्नेह में बृद्धि हुई क्या? दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव हो इतनी एकात्मकता अपने में निर्माण हुई है क्या? क्या अपना हृदय इतना विशाल बन चुका है कि दूसरों के भिन्न विचार, विकार के आघात होकर भी हम हृदय में कटुता न रखते हुए, संदेहयुक्त न होते हुए, सम्पूर्णतः स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं, समझदारी दिखाते हैं? इन सारी बातों में हमें जितनी सफलता मिलेगी, जैसे-जैसे हम एक-एक कदम सामने बढ़ायेंगे वैसे-वैसे परस्परों को समझकर आदर, स्नेह, एकात्मता की भावना पर हम अधिक से अधिक परिपूर्ण जीवन का आदर्श खड़ा कर सकेंगे। वास्तविक मर्यादा प्राप्त करने की योग्यता अपने में निर्माण होगी। तात्कालिक समस्याओं का मात्र विशेष विचार न करते हुए उन्हें हल करने की योग्यता आयेगी। आज हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि तात्कालिक समस्यओं का लोग समय-समय पर विचार करते ही हैं। हम राष्ट्रीय परम्परा निर्माण करने की एकमेव समस्या हल करना ही अपना कार्य मानकर उसके लिए प्रयत्नशील हों।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० १२६–१३४)
(२१ अक्टूबर, १९४९ नागपुर)

७

सफलता सुनिश्चित

यह सभी को ज्ञात है कि पचास वर्ष पूर्व भारतीय तत्वज्ञान, वेदांत, षड्दर्शन तथा प्रत्यक्ष योगसाधन का अभ्यास करके अनेक लोगों ने बहुत बड़ी योग्यता संपादन की थी। उनमें से कुछ लोग विदेशों में भी गए। उनमें स्वामी विवेकानंद एक थे। उन्होंने अनेक देशों में जाकर भारतीय तत्वज्ञान का गौरव बढ़ाया। ये पंडित, और विद्वान थे। तत्वज्ञान का मूलाधार साक्षात् अनुभव से सिद्ध करने वाले उस युवक को साधक की अवस्था में रहते समय ऐसा लगता रहा कि भारतीय तत्वज्ञान के अध्ययन के साथ पाश्चात्य् तत्वज्ञान के ग्रंथों का भी परिशीलन कर तुलनात्मक विचार करना आवश्यक है। वेदांत तत्वज्ञान और पाश्चात्य तत्वज्ञान के सिद्धांतों का इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होंने वाद-विवाद भी किया तथा भारतीय तत्वज्ञान की श्रेष्ठता दुनिया में सिद्ध की। स्वामी रामकृष्ण के जीवन काल में उनके निवास स्थान पर काली मंदिर में यह साधना होती थी। वहां भिन्न-भिन्न साधु आते थे। एक बार ऐसा ही एक साधु वहां आया। उसके पास वृहद् आकार का ग्रंथ था। प्रातः जगकर वे गंगा-स्नान करते और घंटों तक उस ग्रंथ का अध्ययन करते बैठते। उनके संभाषण में सब प्रकार का ज्ञान प्रकट होता था। ऐसा लगता था कि वे प्रकांड पंडित हैं, और प्रत्येक बात का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया है। अन्यों की यह धारणा बनी कि उनके पास सदा रहने वाले उस बड़े ग्रंथ में ही वह सारा ज्ञान समाया हुआ है। परंतु जिस प्रकार एक कृपण अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है, अपने धन को किसी को छूने नहीं देता, उसी प्रकार वह साधु अपने ग्रंथ को किसी को भी छूने नहीं देता था। उस ग्रंथ में ऐसा कौन सा ज्ञान-भंडार भरा पड़ा हुआ है यह जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा उन युवकों के मन में जागृत हुई। एक दिन साधु वह ग्रंथ छिपाकर स्नान करने गए। मौका देखकर उन युवकों ने वह ग्रंथ लिया और ढूंढने लगे कि उसमें क्या है। अथ से

इति तक हर पृष्ठ उन्होंने देखा। पर हर पृष्ठ पर केवल "ओम्" एक मात्र अक्षर लिखा हुआ था। वह देखकर वे बड़े निराश हुए। जब साधु लौटे, उन्होंने ग्रंथ नियत स्थान पर नहीं देखा, तब वे बहुत नाराज हुए। उन्होंने युवकों से ग्रंथ लौटाने को कहा। ग्रंथ के साथ इस प्रकार अयोग्य, अनादरपूर्वक व्यवहार करना उचित नहीं है यह भी उन्होंने समझाकर बतलाया। तब उन लोगों ने कहा "महोदय! आपके ग्रंथ में कुछ भी तो नहीं है। सभी पृष्ठों पर एक ही अक्षर लिखा हुआ है। तत्वज्ञान की चर्चा नहीं, जीव-जगत् सम्बंध पर चर्चा नहीं, वेद-वेदांत का पृथक्करण नहीं। अतः कागज का यह निरर्थक ढेर पास क्यों रखते हो?" साधु ने उन्हें बताया, "बच्चो! यही ग्रंथ मेरा परब्रह्म है। जीवन भर यही पढ़ता रहूंगा। इससे ही मेरे अज्ञान का, सभी संदेहो का निवारण होता है। इसी में—इसके ओंकार में—मुझे पूर्णता का अनुभव होता है। बाकी सारा अक्षरों का खेल है। इसी में मैं संतुष्ट हूं।"

ऐसी विचित्र दीखनेवाली श्रद्धा तथा उससे परिचालित बुद्धि के कारण ही मुझे भी अन्य बातों में रस-आकर्षण नहीं लगता है। एक बार मन में समष्टि का साक्षात्कार हो गया, उसके अनुसार हृदय की रचना हो गई, गुण समुच्चय की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशीलता आ गई, अंतःकरण विशाल होकर राष्ट्र के व्यक्ति मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो गया कि उसके आधार पर राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् दर्शन होकर प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख की चिंता करते हुए अपने चारित्र्य का विशिष्ट स्तर निर्माण करने की ही प्रवृत्ति जागृत होती है। इस प्रवृत्ति से (स्वयंस्फूर्त) बाह्य नियंत्रण की साधना के बिना, स्नेह अंतःकरण में धारण कर राष्ट्र-जीवन की ओर देखना और स्वतः का ही नहीं तो संपूर्ण समाज की, इसी पीढ़ी के ही नहीं तो आगे आने वाली प्रत्येक पीढ़ी के अंतःकरण में भी वही समष्टि-भावना, निःस्वार्थ, स्वयंप्रेरित, राष्ट्रभावना बैठी रहेगी, वह धारा काल के अंत तक बहती रहेगी, यही सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन-चैतन्य का, राष्ट्र की प्रत्येक समस्या और संकट का सारभूत उत्तर है, यह एक बार ज्ञात हो गया कि शेष छोटी-मोटी बातों का, उनकी सभी पहलुओं (प्रॉस कॉन्स) का अधिक विवेचन, विचार करते बैठने की आवश्यकता नहीं है। परंतु इस एक राष्ट्रीय जीवन के मूलभूत महान सत्य का साक्षात्कार अंतःकरण में होना चाहिए, उस पर दृढ़ श्रद्धा और उसके अनुसार जीवन में परिवर्तन करने का निश्चय निर्माण होना चाहिए, फिर मन को अन्य बातों का स्पर्श भी नहीं होता। अंतःकरण में निर्माण हुआ यह स्नेह संपूर्ण राष्ट्र और समाज को व्याप्त करता हो, उस स्नेह में से स्वाभाविकतः व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुःख की चिंता पैदा होती हो, राष्ट्र-भक्ति के सामने स्वतः के व्यक्ति -विषयक स्वार्थ की चिंता न रहती हो, उसके लिए समाज से स्थापित अपने सम्बन्धों में से स्नेहमय अंतःकरण और अन्य समष्टि गुणों का प्रकटीकरण होता हो, आदर्श समष्टि के जीवन का जीवन में साक्षात् परिचय होता हो, तो ऐसी अवस्था प्राप्त होगी कि निर्माण होने वाले प्रत्येक प्रश्न का उत्तर मिलेगा।

इस दृढ़ धारणा के अभाव में मात्र मन द्विविधा में रहता है। यह या वह लें, इस या उस

मार्ग से जाय ऐसी संभ्रमपूर्ण अवस्था होती है। अन्यान्य विचार-प्रणालियों के अभ्यास से यह अच्छा, वह बुरा इस प्रकार के तर्क पैदा होते हैं। परंतु भले-बुरे की कोई कसौटी तो चाहिए। कोई तो भी गृहीत सिद्धांत चाहिए। ऐसे गृहीत सिद्धांत ही प्रथमतः दुनिया की भिन्न-भिन्न विचार-प्रणालियों ने सामने रखे तथा उनके आधार पर जीवन-विषयक तत्वज्ञान का प्रासाद खड़ा किया। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, सबल दुर्बलों का विनाश करते हैं, यह उन्हें दुनिया में दिखाई दिया। इस एक साधारण घटना के आधार पर भिन्न प्रणालियां निर्माण हुईं। पाश्चात्यों ने "जीवो जीवस्य जीवनम्", को सम्पूर्णतः सत्य गृहीत सिद्धांत माना। यह अनुभव मानते हुए भी विचारवान मुनष्य ईश्वर तक पहुंच सकता है इस पर श्रद्धा रखने वाला, समष्टि रूप में ईश्वर का साक्षात्कार कर सकने वाला भारतीय दार्शनिक ऐसी समन्वयात्मक रचना करने का प्रयत्न करता है जिससे सबको सुख और सुरक्षितता मिल सके। मछली में भी उसी चैतन्य का अंश है, ऐसी हमारी समदृष्टि है। दुनिया के अन्य समाजों ने "जीवो जीवस्य जीवनम्" की अनुभूति में से जीवन संघर्ष का (स्ट्रगल फॉर एग्झिस्टन्स) सिद्धांत निकाला। जो योग्य हैं वे जीयेंगे और जो अयोग्य हैं वे मर जायेंगे तथा इस संघर्ष में से दुनिया की उत्क्रांति और विकास होता रहेगा ऐसा सिद्धांत, निर्माण किया तथा उसे मनुष्य पर भी लागू किया। योग्यता और अयोग्यता, सम्पन्नता और असम्पन्नता, के गुणों के अनुसार वर्ण भेद मानकर, उस संघर्ष को ही मानव-जीवन का आधार मानकर (सर्व्हाइवल ऑफ द फिटेस्ट) "जो सबल है वही टिकेगा" जीवन का यह गृहीत सिद्धांत दुनिया को दिया। दूसरी ओर भारतवर्ष में समष्टि मात्र एक ही है यह भावना और समष्टि की सम्पन्नता के लिए समन्वय, सहयोग अन्यों जैसे अनुभव अपने को भी होगा। अंतःकरण की पात्रता अर्थात् सहानुभूति के आधार पर जीवन की रचना करने का प्रयास हुआ। चिरंतन संघर्ष पर जीवन आधारित है, इस कल्पना के आधार पर जीवन-रचना का प्रयास दुनिया के अन्य लोगों ने किया। इसके विपरीत प्रकाश-अंधकार, योग्य-अयोग्य, सम्पन्न-असम्पन्न, विरोध या द्वंद्व एक ही तत्व से निर्माण हुए हैं, एक ही वृत्ति के वे भाव-अभावात्मक परिणाम हैं, यह एकता का सूत्र अनुस्यूत कर, भेद में भी अभेद बतलाने वाली, एकता देखने की शिक्षा देने वाली प्रवृत्ति को जीवन का आधार भारत के विचारकों ने निश्चित किया। प्रकाश और अंधकार भिन्न लगते हैं। परंतु पृथ्वी की गति वही है तथा उस गति में पृथ्वी सूर्य के सामने आती है तब प्रकाश मिलता है, दूर जाती है तब अंधकार होता है। अतः तथाकथित द्वंद्व, विरोध पर अधिष्ठित जीवन-धारा एक ही है, इस एकात्मता का अनुभव करना भारतीय-जीवन प्रणाली ने सिखाया। अन्यत्र हमें केवल बाहृय दृष्टि, उत्तान दृश्यों पर से सिद्धांत गढ़ने की प्रवृत्ति दिखती है। इसीलिए संघर्ष और हनन पर उनकी जीवन प्रणाली आधारित है। आज जिस प्रणाली का आधुनिकतम नाम से बोलबाला हुआ है, उसका इसी उत्तान, बाहृय दृश्य पर आधारित, संघर्ष को ही

जीवन-उत्क्रांति की नींव मानने वाले तत्वज्ञान का मानवी जीवन के संदर्भ में प्रकटीकरण हुआ है। आश्चर्य यह है कि सर्वत्र संघर्ष ही दिखते रहने पर भी समाज रचना के जो अन्तिम लोभनीय दृश्य देखते हैं उसमें संघर्ष का अभाव रहता है। उस स्थिति में सारे बाह्य नियंत्रण अपने आप टूट जायेंगे तथा समाज अपने आप ही उत्तम रीति से प्रेम से रहेगा, ऐसी कल्पना वे सामने रखते हैं। परंतु वह किस प्रकार होगा इसका स्पष्टीकरण उस प्रणाली का ज्ञाता या मंडन करने वाला भी नहीं कर सकता। इस कल्पना को ही वे "विदरिंग ऑफ द स्टेट" (राज्य का विसर्जन) कहते हैं। यह क्यों और किस प्रकार होगा उन्हें इसकी कल्पना नहीं है। यदि संघर्ष ही सत्य है, यदि उसी से जीवन उत्क्रांत होता है तो फिर संघर्ष कहां जायेगा ? या फिर "लॉ ऑफ जंगल" ही (जंगल का कानून) शेष रहेगा ? सचमुच आदमी आदमी को तो खाने नहीं लगेंगे, भविष्यकालीन अवस्था कैसे व किस रूप में आयेगी, इसकी कल्पना आज तक तो कोई भी नहीं दे सका है।

परंतु अपनी दृष्टि से यह कल्पना मैं रख चुका हूं। अनेक लोगों को वह कठिन लगी होगी। प्राचीन काल से अपने यहां यह कल्पना है–

"न राज्यं नैव राजासीत्
न दण्डो न च दाण्डिक:
धर्मेणैव प्रजा: सर्वा:
रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

इस प्रकार आदर्श समाज रचना की कल्पना है। धर्मज्ञान से, सृष्टि से एकात्म भाव उत्पन्न होने से प्रजा परस्पर की रक्षा करती है। बाह्य नियंत्रक की आवश्यकता नहीं। यह चित्र समन्वय, एकात्मता तथा समष्टि स्वरूप के सम्यक् साक्षात्कार पर आधारित है। यह चित्र भारतीय है, तर्कपूर्ण है, अनुभवगम्य है। बाकी अन्यत्र चलने वाले प्रयासों, स्टेटलेस कन्डीशन की कल्पनाओं को कुछ भी आधार नहीं है। वे कैसे साकार होंगे इसका स्पष्टीकरण नहीं है। इसलिए हम जीवन विषयक दृष्टिकोण कौन सा गृहीत सत्य आधारभूत मानकर निश्चित करने वाले हैं ? वह सत्य जब-तक अपने अंत:करण में दृढ़ होता नहीं तब तक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सामने आये तो भी हम कोई निर्णय नहीं कर सकते। हम लोगों ने देखा है कि विदेशियों ने "जीवो जीवस्य जीवनम्" को सम्पूर्ण सत्य मानकर संघर्ष की कल्पना के आधार पर "विरोध विकास" (डायलेक्टिकल मटैरिएलिज्म) को समाज जीवन की दिशा दिखाने वाला गृहीत सिद्धांत माना। उसके लिए प्रमाण नहीं दिये। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, इस पर से यह सत्य माना जाय क्या ? कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता में घटित एक घटना का मुझे स्मरण होता है। नाली साफ करने के लिए सड़क पर "मेन होल" का मुंह खुला करके रखा गया था। दो बच्चे जो आसपास खेल रहे थे उसमें अचानक गिर पड़े। उन बच्चों को गिरते हुए, शीघ्रता से साइकिल पर दफ्तर जाने वाले एक सफेदपोश कर्मचारी ने देखा। वह एकदम साइकिल

पर से उतरा और 'मैन होल' के भीतर कूद पड़ा। उन दोनों लड़कों को उसने ऊपर उठाया; परंतु वह स्वयं नाली के कीचड़ में फंस गया। उसे बाहर निकाल कर अस्पताल ले जाते समय उसकी मृत्यु हो गई। अब सवाल यह है कि इस त्याग-प्रवृत्ति की प्रेरणा क्या है? जहां विरोध विकास में स्वार्थ के लिए दौड़-धूप करने वाला मनुष्य है, वहां इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। इसके विपरीत ऐसा सवाल पैदा होगा कि उन बच्चों को घायल करने की इच्छा उस आदमी को क्यों नहीं हुई? (कहा जाता है कि मनुष्य का मांस उत्तम भक्ष्य है।) बौद्धिक दृष्टि से विरोध विकास इस विषय में समाधान नहीं कर सकता है। वास्तव में वह मामूली पढ़ा-लिखा, टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलने वाला, पेट की चाकरी के लिए रास्ते से जाने वाला एक आदमी था। किस शक्ति ने अपने प्राण संकट में डालकर उन बालकों के प्राण बचाने की इतनी सबल प्रेरणा उसे दी?

अपने यहां इसी बात का विचार हुआ। इस प्रेरणा को ही महान संस्कारों से जागृत कर, उसे जीवन के कार्यकारी प्रवाह का रूप दिया गया। इन्हीं संस्कारों के आदर्श उदाहरण, महान व्यक्तियों के जीवन चरित्र अनादिकाल से अपने सामने हैं। याचना करने पर दधीचि ने सहर्ष अपनी अस्थियां दे डालीं तथा श्रेष्ठ गुण, समष्टि-जीवन के महान गुण, आत्मसात् कर उन पर अटल रहने का संस्कार प्रकट किया। शरणागत की रक्षा करने का वचन देने पर, शिकारी सामने खड़ा हो गया और पूछने लगा, "मेरे भक्ष्य की रक्षा करता है तो क्या मैं भूखा रहूं?" तब जिस शिवि ने अपने शरीर का मांस अपने हाथ से काटकर उसे दिया वह शिवि हमारा आदर्श है। वहां अपने प्राणों का मोह नहीं हैं। समष्टि के लिए आत्मसमर्पण की दृढ़ धारणा है। इस प्रकार के आत्म-समर्पण के उदाहरण—दधीचि के समान आक्रमणकारियों के विनाश के लिए अपनी अस्थियां देना हो या शरणागत की रक्षा करना हो, समाज की सुरक्षितता और भूखे को भी भोजन देने के लिए अपना मांस काटकर देना हो, इस प्राचीन राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में असंख्य हैं। किस सिद्धांत के लिए उन्होंने इस प्रकार का आत्मसमर्पण किया, यह महान आदर्श वे स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। वह जीवन का तत्व अपने भी हृदय में जागृत करने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए। मैं ब्रह्म, माया, वेदांत बता रहा हूं ऐसी धारणा आप न करें। मैं केवल व्यवहार ही कह रहा हूं। जब तक जीवनव्यापी एकता-एकात्मता का सूत्र पहचाना नहीं जायेगा, उसका संस्कार अपने अंतःकरण में दृढ़ नहीं होगा, तब तक सम्पूर्ण समाज विषयक आत्मीयता में से निर्माण होने वाला राष्ट्रीय वृत्ति का स्रोत (किसी भी दबाव के बिना) स्वयंस्फूर्ति से प्रवाहित होना सर्वथा असंभव है। राष्ट्रभक्ति क्यों करें, राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुःख की चिंता क्यों करें? इन प्रश्नों के उत्तर तब तक नहीं मालूम होंगे जब तक सभी व्यक्तियों की समानता नहीं, एकात्मता और अस्मिता (आयडेन्टिटी नॉट युनिफार्मिटी) हृदय में अनुभव नहीं होती, तदनुसार जीवन में परिवर्तन नहीं होता।

अपने कार्य में ऐसी प्रेरणा प्रस्थापित की गई जो अंतःकरण को, व्यक्ति-विचार की

मर्यादा में अवरुद्ध नहीं रखती, व्यक्ति की श्रेष्ठता मान-सम्मान की लालसा पैदा करने वाली आकर्षक वस्तुओं से मुंह मोड़ना सिखाती है, समाज से एकरस, एकरूप अवस्था का साक्षात् अनुभव दिलाकर कार्य-प्रवण करती है। व्यक्ति पृथक नहीं, सम्पूर्ण समष्टि के साथ एकात्म है, प्रत्यक्ष यह शिक्षा देने वाली अपनी प्रणाली है। इस अनुभव के लिए बाह्य परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। परिस्थिति चाहे जैसी हो, जीवन का आधारभूत तत्व अटल, स्थिर है। यदि हम चाहते हैं कि राष्ट्र के सम्बन्ध में अटल भक्ति का स्रोत प्रवाहित हो, अपने राष्ट्र को चिरंतन गौरव प्राप्त हो तो अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार अपनी राष्ट्रभक्ति का आधार एकात्मता ही हो सकता है और स्वार्थशून्य, स्नेहमय व्यवहार ही वह कार्य-प्रणाली हो सकती है। इस प्रकार के जीवन का गठन राष्ट्र में व्यापक पैमाने पर हो तो देश के सामने आने वाले सभी छोटे-बड़े प्रश्न बाह्य नियंत्रण के दबाव में न रहते हुए सुगमता से हल हो सकते हैं। तात्कालिक बातों के पीछे पड़ने से राष्ट्रीय समस्याओं का हमेशा के लिए समाधान करने वाली व्यवस्था कदापि साध्य नहीं हो सकती, दैनिक बातों के पीछे पड़कर केवल "कुछ" करने का ही संतोष मिलेगा। क्योंकि जो इस प्रकार की दौड़-धूप नहीं करते हैं वे निष्क्रिय हैं ऐसा भाव पैदा होता है। परंतु जो-जो पल-पल आकर्षक दिखाई देगा उसके पीछे दौड़ना बचकाना प्रवृत्ति है। छोटे बच्चे को लाल रंग दिखाई दिया कि वह उसकी ओर दौड़ता है। तुरंत दूसरी पीले रंग की वस्तु दिखाई दी कि उसकी ओर आकर्षित होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आकर्षणों के पीछे वे बेतहाशा भागते हैं। अपने यहां के कार्यों का भी ऐसा ही हुआ है। समय-समय पर निर्माण होने वाली समस्याओं की ओर सभी दौड़ पड़ते हैं। परंतु वे समस्याएं क्यों पैदा होती हैं, यह सोचकर राष्ट्रीय वृत्ति का चिरंतन प्रवाह निर्माण करने वाले मूलभूत प्रश्न की ओर ध्यान नहीं देते। इसे भले ही कोई कार्य समझे, परंतु जहां दौड़-धूप दिखाई देती है वहां कार्य की गति बहुत कम है ऐसा समझना चाहिए। पहिया जब धीरे-धीरे घूमता रहता है तब उसका एक-एक चक्कर स्पष्ट दीखता है। परंतु पहिए की गति तेज हो तो पूरा पहिया एक स्थिर काठ का गोल टुकड़ा लगता है। तेज गति एक प्रकार से स्थिरता का ही रूप है। जहां बहुत भाग-दौड़ हो, बहुत तेजी का भास होता हो वहां काम का दम उखड़ गया या काम को गति ही प्राप्त नहीं हुई है ऐसा समझें। यदि महान गति से अखंड गतिशील कार्य की गति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दी, तो भी वहीं से सच्चे जीवन का प्रवाह बहता रहता है। पहाड़ी नालों में बरसात में पानी आता है, वे कलकल आवाज करते हुए बहते हैं; परंतु सहस्रगुणित जीवन धारावाली गंगा मात्र धीमी गति से बहती है। लगता है कि मानो उसका जल स्थिर है। पहाड़ी नाला बरसात के बाद सूख जाता है, परंतु वर्षा हो या ग्रीष्म हो, गंगा का पानी बहता ही है, कम नहीं होता। राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह सचमुच गतिमान हो, तो क्षण-क्षण बदलने वाली परिस्थिति से उसमें परिवर्तन नहीं होगा। स्थिर दिखाई दे उसकी इतनी गति हमेशा रहेगी। ऐसा गतिमान और चिरंतन जीवन प्रवाह निर्माण करने वाला अपना कार्य भी उसी

विशेषता से युक्त है। उसकी गति बाह्यतः दौड़-धूप से दिखाई देने वाली नहीं है। सांस्कृतिक आधार पर एक महान गुण प्रणाली में ही हृदय में जागृति, समष्टि की एकरूपता का साक्षात्कार तथा अभेद्य राष्ट्रभक्ति की मजबूत नींव निर्माण करने का सामर्थ्य है। इसमें संदेह नहीं कि यह महाप्रचण्ड, अंततोगत्वा सफल होने वाला, राष्ट्र को चिरंतन सुख-सम्पन्नता देने के सामर्थ्य से युक्त कार्य है, यह श्रद्धा अपने हृदय में जागृत करने की आवश्यकता है।

इतनी गहराई से विचार करने का कोई प्रयास नहीं करता है। केवल ऊपरी और बाह्य विचार न करके अपने भारतीय जीवन के अंतरंग का ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो स्वार्थ-शून्य, विशाल और समष्टि रूप एकात्म जीवन की प्रेरणा देने वाली वह एकात्मता अपने जीवन में लाकर उसकी नींव पर बाह्य नियंत्रण के बिना स्वयं प्रेरणा से ही उदात्त, स्नेहपूर्ण, परस्पर विश्वास, सहानुभूति और सहयोग से परिपूर्ण व्यवहार निर्माण करने वाली इस कार्यप्रणाली पर अपनी श्रद्धा दृढ़ होगी। इस दृढ़ श्रद्धा से निर्माण होने वाली जीवन-रचना के आधार पर आज के लिए ही नहीं, तो सैकड़ों वर्षों तक इस राष्ट्र का जीवन सुसम्पन्न रहेगा। हम मनश्चक्षुओं से इस चित्र की कल्पना कर सकते हैं। यह जीवन-रचना अपना गृहीत सत्य है। यह सत्य हृदय में स्थिर रहना चाहिए। फिर अन्य, बाह्यतः रोचक और आकर्षक विचारों का आघात होने का कोई कारण नहीं।

इस सत्य पर जीवन की रचना करने के संकल्प के बाद बाकी सब कुछ अपने प्रयत्नों से जीवन में प्रकट करना है। उसके लिए हमें ज्ञात सारे गुण-समुच्चय व्यवहार में प्रकट होने चाहिएं। सफलता-असफलता मूलभूत निष्ठा और इन गुणों के प्रकटीकरण पर निर्भर है। वह अपने कार्य के सिद्धांत, पद्धति या यशापयश किसी भी तरह से परिस्थिति पर निर्भर नहीं है वरन् वह इस पर निर्भर है कि हम अपने अंतरंग व्यवहार में मूलभूत निष्ठा को किस प्रकार प्रकट करते हैं।

यश कैसे मिलेगा, इस प्रकार की भावना के मूल में मुख्यतः आत्मनिर्भरता का अभाव, गुणों की कमी, तत्व और व्यवहार में अंतर होना है। इसी कारण परिस्थिति का प्रभाव होता है और कार्य-पूर्ति करना कठिन लगता है। परंतु समष्टि व्यापी एक ही प्राणतत्व के साक्षात्कार से जीवन पूर्ण कर, इसके आधार पर निर्माण होने वाली गुण-परम्परा प्रत्यक्ष जीवन में उतार कर, विशुद्ध राष्ट्र-प्रीति का बोलता-चलता आदर्श निर्माण कर यदि हम दृढ़ता से खड़े रहें, तो बाह्य परिस्थिति अपने मार्ग में कोई भी बाधा नहीं डाल सकेगी। केवल बाह्य परिस्थिति से कार्य की गति में तेजी-मंदी नहीं आ सकती। अंतःकरण दोलायमान हो, तो समझना चाहिए कि वह अपने आंतरिक गुण विकास की न्यूनता का द्योतक है।

पिछले डेढ़ वर्ष (१९४८–४९) का कालखण्ड आंखों के सामने लायें। चौबीस वर्ष

कार्य करने के बाद, नाना प्रकार के गुण समाज में चाहिए यह दृष्टि सम्मुख रखकर कार्य करने के बाद क्या अनुभव हुआ? उन गुणों का, जीवन की एकात्मता का (आयडेन्टिटी ऑफ लाइफ) कितना अनुभव हुआ? हम ही कार्य के प्रेरक और कार्य का गतिमान प्रवाह निर्माण करने की इच्छा करने वाले हैं; परंतु उन गुणों का हमने जीवन में कितना कम अनुभव किया इसका विचार करें। यदि भिन्न विचार-प्रणाली ग्रहण कर कार्य करने का विचार मन में हो, तो उसके पूर्व यह विचार करें कि कार्य में जीवन समर्पित करने का भार जिन पर हो उन्होंने ही इस छोटे से संकट में योग्य गुण प्रकट किये नहीं तो कार्य कठिन क्यों न लगें? इस गुणहीन अवस्था में अन्य विचारों के पीछे जाने का प्रयत्न किया तो सफलता कैसे प्राप्त होगी? एकात्मता का दृढ़ साक्षात्कार, उसके आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति स्वत: को स्वार्थ से दूर रखकर काम करने का राष्ट्रभक्ति का संस्कार आदि सारी बातें पूर्ण नहीं हुई हैं। यह संस्कार प्रथम पूर्ण होना चाहिए। ये परम आवश्यक बातें साध्य तथा अपना जीवन स्नेहमय कर संस्कारों से परिवर्तित व्यवहार से अपना आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न करें। ऐसा किया तो ही किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था का, विभिन्न विचार-प्रणालियों को स्वीकार कर कार्य की सफलता देखने का प्रयत्न करने वाली पराभूत (डिफीटिस्ट) वृत्ति से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति का हम विनाश कर सकेंगे। तभी ध्येय दृढ़ होकर उपासना के मार्ग पर श्रद्धा भी अटल होगी। कार्य का महान व्याप समेट कर वह वर्धमान हुआ दिखाई देगा। सच्ची आवश्यकता गृहीत सत्य समझकर, उस पर जीवन की रचना, और अपने गुणों का आचरण में प्रकटीकरण करके समष्टि जीवन का आदर्श स्वरूप दृश्य रूप में निर्माण करने की है। इसके लिए समष्टि से, परस्पर से तादात्म्य का प्रयत्न करें। स्नेह, विश्वास और आदर से परिपूर्ण व्यवहार जीवन में चरितार्थ करके दिखाएं। इस मार्ग से सफलता अवश्य मिलेगी। इस रीति से किए तेज:पूर्ण कार्य की गति में बाह्य परिस्थिति रुकावट डाले यह सर्वथा असंभवनीय है। मेरे अंत:करण की यह श्रद्धा है। यह श्रद्धा हम सब अपने अंत:करण में जागृत करें। कार्य सफल होगा, मजबूत होगा। कार्य का जय-जयकार सर्वत्र होगा और हम भारत का जैसा चित्र बनाना चाहते हैं वैसा ही वह बनेगा।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० १३५–१४२, सन् १९४९)

८

राष्ट्रीय एकात्मता का साधन

आजकल जीवन की जो बहुत सी प्रणालियां प्रचलित हैं, जिन्हें अंग्रेजी में एक तीन अक्षरों के शब्द 'ISM' (इज्म) से बताया जाता है, उनके सम्बंध में मैं कुछ नहीं कहूंगा। मैंने जगत्‌जननी भारतमाता की परिक्रमा करके जो कुछ देखा है, वही आप सबके सम्मुख रखूंगा।

सबसे प्रथम बात मुझे दिखाई देती है कि हमें इस तत्व का विस्मरण हो गया है कि हम एक अति प्राचीन समाज हैं। हम यह भूल गए हैं कि हमारी एक जीवन-धारा है, एक इतिहास है, एक सी आपत्तियों को सारे देश ने सहन किया है। आज का अनुभव यह है कि आसेतु हिमालय रहने वाले अपने समाज की एकात्मता की भावना के अभाव में ही लोग विश्व-बंधुत्व और वैश्विक सरकार (वर्ल्ड गवर्नमेंट) की बातें करते हैं। किन्तु जैसी वाणी वैसी कृति करने वाले बिरले ही मिलते हैं। नाम लेकर उदाहरण तो मैं नहीं देता, किन्तु भाषानुसार प्रांत रचना की बात उठाकर देश में जो कटुता फैलायी गई है, वह हम सभी के सामने है। प्रांत रचना सुविधापूर्वक राज्य व्यवस्था चलाने की दृष्टि से करनी होती है। प्रांत रचना के लिए भाषा ही एकमात्र साधन नहीं है। जिसे पहले प्रांत कहते थे, उसे अब "स्टेट" अर्थात राज्य कहने लगे हैं। "राज्य" शब्द में सूत्र रूप में यह भावना है कि जिसे अब तक प्रांत कहते थे उसका भी अपना कोई पृथक व्यक्तित्व है और चाहने पर वह स्वतंत्र हो सकता है। एक अखिल भारतीय नेता ने कहा कि 'मेरे प्रांत की सीमा का निर्माण यदि मेरी इच्छानुसार नहीं हुआ तो हम पड़ोसी प्रांत वालों की खून की नदियां बहा देंगे।' एक ओर लोग कहते हैं कि दुनिया छोटी हो गई है और सारी दुनिया की एक सरकार होनी चाहिए और दूसरी ओर अपने ही पड़ोसी के प्रति, जिसके साथ सदियों से जीवन-यापन किया है, इस प्रकार के भाव

प्रकट करते हैं। ऊपर से प्रेम, ऐक्य और अहिंसा की भाषा और मन के अंदर घृणा, विच्छिन्नता और हिंसा के भाव। इस प्रकार अनेक विच्छेदकारी प्रवृत्तियों से हमारा समाज ग्रस्त है। जब तक हम परकीय शासन के अंतर्गत रहे, हमें जो इतिहास पढ़ाया गया, उसमें यही बताया गया कि आसेतु हिमालय भारतीय समाज न कभी एक था, न है। यहां तो भिन्न-भिन्न जातियां रही हैं और प्रथम बार अंग्रेजों के शासन में सारी जातियां एकत्र हुई हैं। हमारे देश को एक प्रायद्वीप कहा जाता है। पश्चिमी यूरोप के कई देशों से हमारा देश विस्तार में बड़ा है, इसलिए इसे प्रायद्वीप बताया जाता है। प्रायद्वीप ही नहीं, भले ही हमारा देश विस्तार में महाद्वीप के बराबर हो, किन्तु यह एक देश है, कई देशों का समुच्चय नहीं, यह सभी भूल गये। सदा से ही यह भाव हमारे राष्ट्रीय जीवन को अनुप्राणित करता रहा है, किन्तु आज लोग अपना भूतकाल न देखकर कहते हैं कि हम राष्ट्र बन रहे हैं—(वी आर ए नेशन इन दि मेकिंग)। किन्तु यदि हम अपने इतिहास को प्रारंभ से ही देखें, तो हमें रामराज्य के समय में स्वर्गभूमि का आदर्श मिलता है। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर उनमें मानवी गुणों की परिसीमा बतायी गई। एक प्रकार से उनको सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधि माना गया। उनका वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा—

स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।।

अर्थात् उनको भारत को तीन ओर से आवेष्टित करने वाले समुद्र और चौथी ओर से घेरने वाले हिमालय के समान कहा गया। एक ही उपमा में सम्पूर्ण भारतभूमि की एकात्मता का दिग्दर्शन करा देने वाली कवि की उक्ति को यदि संयोग से (बाय एक्सिडेंट) आई हुई या कवि कल्पना भी कह दिया जाय, तो क्या हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थ स्थानों में लगने वाले कुंभ, जिनमें कन्याकुमारी तक के यात्री आते हैं, उसी एकात्म भावना के परिचायक नहीं हैं? काशी को ज्ञान की जननी मानना भी क्या इसी एकात्मता का प्रभाव नहीं है?

हमने तो इस सम्पूर्ण आसेतु हिमाचल फैली हुई भारतभूमि की जगन्माता के रूप में वन्दना की है और इसके प्रति हमारे अंतस्तल में आदर का भाव इतना तीव्र रहा है कि जब मनुष्य सोकर उठता है तब सबसे पहले इस भूमि को हाथ लगाकर इसका चरणस्पर्श करता है और फिर कहता है कि "हे देवी, समुद्र तेरा वसन और पर्वत तेरे वक्षस्थल के समान हैं, मैं तुझ पर पैर रखता हूं इसके लिए मुझे क्षमा कर।"

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

इसी प्रकार गंगाजी का पावित्र्य सारे भारतवासियों के लिए सर्वमान्य है और दक्षिणवासी भी स्नान करते समय गंगाजी का आवाहन करता है। यदि पूर्वकाल में यह

एकात्मता की भावना न होती तो जगद्गुरू शंकराचार्य दक्षिण से उत्तर में न आते और न भारत की चारों सीमाओं पर अपने मठों की स्थापना ही करते। इस प्रकार यह सारी भूमि हमारी है, इसके कण-कण का हम पर अधिकार है। तब फिर अलग-अलग राज्यों के लिए हम क्यों लड़ रहे हैं। समस्त प्रांत इस राष्ट्र-शरीर के अंग के समान हैं। एकात्मता का यह भाव आसेतु हिमालय फैले हुए भारतीय समाज में जागृत करना हम सबका कार्य है। संघ की कार्यपद्धति में यह भाव निर्माण करने की पर्याप्त क्षमता है।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० १४५–१४६, सन् १९५०)

*   *   *   *

सन् १९४७ का वर्ष इस तरह बीता कि वह हम सबको अनेक कारणों से स्मरणीय रहेगा। इसी वर्ष मातृभूमि का अत्यंत दुःखदायी विभाजन तथा अनेकानेक बंधुओं का अमानुष उत्पीड़न हुआ था। उन्हें असंख्य यातनाएं सहनी पड़ी थीं। जो लोग अपने बंधुओं की रक्षा करना अपना स्वाभाविक कर्तव्य मानते हैं, वे स्वयंस्फूर्ति से आगे बढ़कर उचित उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं और कर्तव्यपूर्ति के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते। संघ के स्वयंसेवकों ने यही किया। अलौकिक शौर्य और बुद्धिमत्ता प्रकटकर अनेक परिवारों की रक्षा की। उन्हें इस ओर लाया। माताओं की रक्षा की। यह सब काम इस प्रकार किया कि सभी लोग उनके प्रति धन्योद्गार व्यक्त करें।

और हुआ भी वैसा। इस सब दौड़-धूप के समय संपूर्ण परिस्थिति का निरीक्षण करके स्वयंसेवकों को और अधिक उत्साहित करने के लिए मैं अमृतसर में कुछ दिन तक रहा था। काफिलों में मैंने चक्कर लगाया। तब मुझे ऐसे व्यक्ति आकर मिले जो आज बड़े-बड़े पदों पर आसीन हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष चरणों पर मत्था टेका और कहा—"आपका संघ न होता तो हमारी रक्षा नहीं हो पाती। हमारे बाल-बच्चे-स्त्रियां सुरक्षित न रहतीं।" सेना के अधिकारी मिले। उन्होंने भी आदरपूर्वक स्वयंसेवकों तथा उनके अदम्य साहस का उल्लेख किया और कहा—'इन्हें तुमने क्या और कैसी शिक्षा दी? ये इतने साहसी और सूरमा कैसे बने? जो बात हमारी सेना के जवान नहीं कर सके, वह पराक्रम ये लोग कैसे दिखा सके?' मैं उन लोगों से कहता—"संघ मेरा नहीं, आपका है। स्वयंसेवकों ने केवल अपना कर्तव्यपालन किया है। उन्हें संघ के दैनिक कार्यक्रमों के कबड्डी सदृश खेलों में से जो समाज के सम्बंध में प्रेम और एकात्मता की शिक्षा मिलती है, उसी से वे समाज की रक्षा के लिए अकल्पित साहस प्रगट कर सकें।"

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ. १५४-१५५, सन् १९४९)

१

समस्या का मूल

हमारे कार्य के लक्ष्य का अन्तिम स्वरूप हमारे समाज की पूर्ण संगठित अवस्था है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हिन्दू, मनुष्यत्व की मूर्ति बनकर समाज के संगठित व्यक्तित्व का सजीव अंग होगा। और यही हमारे सभी संगठन-प्रयासों के लिए जीवन्त प्रेरणा रही है।

स्पष्ट है कि यह कल्पना ऐसी नहीं है जो कुछ दिनों अथवा कुछ वर्षों में साकार की जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सैकड़ों और हजारों जीवन चाहिएं जो शांति के साथ अथक प्रयास करते रहें। इसके लिए ऐसे सबल एवं धैर्यवान हृदयों की आवश्यकता है जो विपरीत परिस्थितियों तथा प्रलोभनों के बीच अडिग बने रहें। इस प्रकार के स्व-स्फूर्त जीवन निर्माण करने के लिए ही संघ प्रतिदिन के संस्कारों पर अत्यधिक बल देता है तथा व्यक्ति के मन पर मस्तिष्क एवं हृदय के उन सभी गुणों का महत्व प्रतिदिन अंकित करता है जो उसे सम्पूर्ण के मार्ग पर अग्रसर होने की शक्ति और योग्यता प्रदान करते हैं।

कार्य के लिए इस प्रकार की स्थिर, शांत एवं आजीवन श्रद्धा आजकल की दुनिया में बड़ी विचित्र और असाधारण प्रतीत हो सकती है। इसमें इसकी अपनी स्वयं की एक मौलिकता और नवीनता है। इसलिए हमारे इस दृष्टिकोण को समझने और आत्मसात् करने में सामान्यजन को कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। उदाहणार्थ ऐसे अनेक लोग हैं जो हमारी कार्यपद्धति में यह बात देखकर भय और विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं कि इसमें जीवन भर वर्षानुवर्ष एक निश्चित समय एवं स्थान पर प्रतिदिन उपस्थित होना आवश्यक रहता है। एक बार एक युवक ने मुझसे प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे कि वह अपने मन को एकाग्र करने की शक्ति का विकास कर सके। उसके

अध्यवसाय की परीक्षा लेने के लिए मैंने उसको नियमित रूप से करने के लिए कुछ विशेष अभ्यास बताए। उसने तुरन्त प्रश्न किया, "यह कब तक करना होगा?" मैंने कहा, "इसे जीवन भर चालू रखिये।" वह साश्चर्य कह उठा, "जीवन भर! यह कैसे संभव है?" मैंने उससे पूछा, "क्या तुम्हारे लिए कम से कम जीवन भर जिन्दा रहना संभव है?"

यह है आज की मनोवृत्ति। लोग शीघ्र फल एवं सफलता का आसान उपाय चाहते हैं। अल्पतम उद्योग एवं अधिकतम लाभ चाहने के इस मानव दौर्बल्य ने हमारे राष्ट्र-जीवन के सभी क्षेत्रों को ग्रसित कर रखा है। हार्दिक एवं कठोर परिश्रम करने वाले ईमानदारी के रास्ते का स्थान ऐसे उपायों ने ले लिया है, जिनमें बुरे-भले का कोई विचार नहीं होता और जिनसे फल शीघ्र मिलता है। धन अर्जन करने वाला मनुष्य धनी बनने के लिए इसी प्रकार के आसान उपायों को सोचता रहता है। और यदि वह एक रात में ही धनवान हो सके तो इसके लिए कोई भी नीच कर्म करने को उद्यत हो जाता है। वह काला बाजार करता है, सट्टेबाजी करता है और जुआ खेलता है। वह बड़ी उत्सुकता से यह जानने के लिए ज्योतिषियों को भी जा पकड़ता है कि क्या कोई ग्रह नक्षत्र उसके लिए कुछ कर सकता है। चोरी और डकैती तो आसान उपायों के लिए राजमार्ग ही है।

लोगों ने तो ईश्वरानुभूति के लिए भी आसान मार्ग खोजना आरम्भ कर दिया है। ईश्वर प्राप्ति के लिए एकाग्र निष्ठा से सम्पूर्ण जीवन तपस्या का कष्ट कौन उठाए? वे किसी संत अथवा संन्यासी को बीच का दलाल बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिसके विषय में उनका यह विश्वास होता है कि वह उनके सब पापों को लेकर अपने पुण्य उन्हें दे देगा तथा उन्हें ईश्वर के समक्ष शुद्ध और पवित्र करके उपस्थित कर देगा। हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जो इस क्षुद्र एवं हीनता के कलंक से बचा हो।

चारों ओर के इसी वातावरण के कारण लोग संघ के कार्य में भी छोटा एवं सरल मार्ग कौन-सा है, इसका विचार करने लगते हैं। वे पूछते हैं, "कितने समय तक इस प्रकार तुम इसे चलाते रहोगे? तुम अपनी कल्पना के अनुसार समाज का पूर्ण रूपान्तर करने योग्य कब होगे? तुम और कितने वर्षों तक इसी मार्ग पर घिसटते रहोगे?" तब, वे चारों ओर दृष्टि घुमाते हैं और देखते हैं कि शाक्तिशाली शासन सत्ता ऐसी बड़ी शक्तियों को धारण किए हुए हैं कि राष्ट्र जीवन का समूचा प्रसार उससे परिवेष्ठित हैं। वे कल्पना करने लगते हैं कि यदि उन्हें प्रशासनिक अधिकारीगण, राजस्व एवं अधिकार के इस प्रकार के साधन उपलब्ध हो जायें तो अति अल्पकाल में ही वे देश का स्वरूप बदल सकते हैं और शिक्षा आदि के द्वारा आने वाली पीढ़ी को अपने इच्छित प्रतिमान में ढाल सकते हैं। वे उस सरल छोटे मार्ग पर आसक्त हो जाते है जिसमें कष्ट और त्याग कम तथा फल प्राप्ति शीघ्र होती है। सतहीतौर से सोचने पर यह तर्क निःसंदेह बहुत ही आकर्षक प्रतीत होता है। हमारी वर्तमान सरकार द्वारा हमारे जीवन के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्षों पर ही जो पूरा-पूरा बल दिया जाता है, वैसे ही पंचवर्षीय योजनाओं के लिए सतत् प्रचार तथा देश के युवकों को

आकृष्ट करने के लिए नए-नए सरकारी नियंत्रण के क्षेत्र खोले जा रहे हैं, इन सबने भी हमारे लोगों की ऐसी वर्तमान मनोदशा बनाने में अपना योगदान किया है, जिसके प्रभाव से लोग राज्यसत्ता को ही सब रोगों की एकमात्र औषधि मानने लगे हैं।

किन्तु हमें ऐसे ऊपरी विचार से प्रभावित होकर नहीं बह जाना चाहिए। यद्यपि आजकल किसी भी विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की प्रथा नहीं है, फिर भी हमें लोगों को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिए कि वे विषयों को अधिक गहराई में जाकर समझने की योग्यता प्राप्त करें। एक बार नागपुर में अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन हुआ। इसमें भाग लेने के लिए आने वाले कुछ प्रमुख लब्ध प्रतिष्ठ पुरुष मेरे भी परिचित थे। उन्होंने अपने द्वारा निर्णीत कार्यवाहियों, नियमों तथा पाठ्यक्रम आदि के विषय में विस्तार से मुझे बताया। अन्त में मैने उनसे एक साधारण सा प्रश्न किया, "क्या आप उस जन की वास्तविक प्रकृति एवं वास्तविक आवश्यकताएं बता सकते हैं, जिन्हें शिक्षित करने की योजना आप बना रहे हैं?" तब उनमें से एक ने मेरे समक्ष सीधे शब्दों में यह स्वीकार कर लिया कि यह प्रश्न तो उनके सामने कभी उपस्थित ही नहीं हुआ। किसी अंधे द्वारा अंधे व्यक्तियों का मार्गदर्शन करने की जैसी कहानी है, वैसे हमारे देश में सब कार्य चला करते हैं। समस्या के मूल तक पहुँचने का न तो कोई प्रयास ही करता है और न वैसी इच्छा ही है।

हम जरा विश्व इतिहास के पृष्ठ पलटें। हम देखने का प्रयत्न करें कि किसी भी देश के अजर-अमर राष्ट्र-जीवन निर्माण करने में क्या राज्य सत्ता के प्रयोग के थोथे विचार और तत्क्षण फलेच्छा ने सचमुच सहायता की है? भूतकाल में ऐसे अनेक साम्राज्य रहे जो पूर्णरूपेण राज्यसत्ता पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए फारस अपनी सभी प्रकार की सुरक्षा एवं प्रगति के लिए पूर्णतया सम्राट पर ही निर्भर था। सम्राट की सत्ता सर्वोच्च थी, वह जनजीवन के सभी पहलुओं का नियमन करता था। धर्म का निर्णायक भी वही था। कुछ समय के लिए वहां के लोग निश्चित और सुखी थे। किन्तु उनके सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन का प्रासाद अरब आक्रमण के एक ही धक्के में धराशायी हो गया। रोम और यूनान की भी यही गति हुई। यह इस कारण नहीं हुआ कि इन साम्राज्यों के पास सम्पत्ति अथवा उत्तम प्रबन्ध या सेना का अभाव था, वरन् वे सभी चीजें सम्राट की राजनीतिक सत्ता की बालू की नींव पर खड़ी थीं। और जैसे ही अल्पकाल के लिए भी उस राजसत्ता का ध्वंस हुआ उनकी सम्पूर्ण सभ्यता, उनका पंथ और उनकी राष्ट्रीयता भी धमाके के साथ ऐसे धराशायी हो गए कि विश्व-मंच पर पुनः कभी उसका प्रकट होना भी असंभव हो गया। एक के बाद दूसरे कई देशों का आत्मपतन हुआ, वे सब इस्लाम के सामने झुक गए और इस प्रकार सदैव के लिए मुस्लिम राष्ट्र बन गए।

किन्तु हमारे देश की कहानी एक नितान्त भिन्न प्रकार का चित्र प्रस्तुत करती है। हमारे समाज को भी अत्यन्त बर्बर जातियों के इस प्रकार के अगणित आक्रमणों का सामना

करना पड़ा था। हमारे समाज पर इन शत्रुशक्तियों का कुछ काल के लिए राजनीतिक आधिपत्य भी बना रहा। कभी-कभी तो यह आधिपत्य कतिपय शताब्दियों तक चला। रावण के काल से लेकर अब तक कई बार अधर्म ने अपनी सम्पूर्ण विनाशकारी नग्न शक्तियों से यहां शासन किया है। उस अंधकारपूर्ण समय में जब औरंगजेब शासन करता था, समर्थ रामदास के जैसे महान् वीर संत तक के सकरुण उद्‌गार थे कि हिन्दू समाज को पूर्ण विनाश से बचाने का सामर्थ्य केवल परमात्मा के अवतार में ही है। तत्पश्चात् धूर्त अंग्रेज ने भी हमारे राष्ट्र-जीवन को उच्छिन्न करने के भरपूर प्रयास किए। आज भी अधार्मिक तत्वों का ही उत्कर्ष है। किन्तु इन भयंकर संकट बेलाओं का सामना कर हमारा समाज आज भी जीवित है। बार-बार वह अपनी भस्म में से उठ खड़ा हुआ तथा दुष्ट शक्तियों के फांसी के फंदे को नष्ट कर इसने धर्म-राज्य की स्थापना की। वही गौरवशाली परम्परा आज भी सदैव की नाईं आदर्शवाद और राष्ट्रीय नव-यौवन के सामर्थ्य से युक्त अखंड, अजस्र गति से चली आ रही है। यह चमत्कार कैसे घटित हुआ ? इस अमरता का गूढ़ रहस्य किस बात में है ? भीषण से भीषण विष प्रहार के बाद भी मृत्यु को चुनौती देने की समाज की चिर-जीवन क्षमता का रहस्य क्या है ?

यह बात अति स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रहा। अन्यथा हमारा भी भाग्य उन राष्ट्रों से अच्छा नहीं होता जो आज केवल अजायबघर की दर्शनीय वस्तु मात्र रह गए हैं। राजकीय सत्ताधारी हमारे समाज के आदर्श कभी नहीं थे। वे हमारे राष्ट्र-जीवन के आधार के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुए। सम्पत्ति एवं सत्ता के ऐहिक प्रलोभनों के ऊपर उठे हुए और समग्र भावेन सुखी, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न एवं एकात्मता से युक्त समाज की स्थापना के लिए स्वयं को समर्पित करने वाले संत-महात्मा ही इसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। वे धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करते थे। उस उच्चतर नैतिक सत्ता का राजा तो एक उत्कृष्ट अनुगामी मात्र था। अनेक बार विपरीत परिस्थितियों में एवं आक्रामक शक्तियों के कारण अनेक राज्य सत्ताओं ने धूल चाटी। किन्तु धर्मसत्ता हमको छिन्न-विच्छिन्न होने से सदैव बचाती रही।

रावण एक धूर्त आक्रान्ता था। वह हमारी सामाजिक एकता को जानता था। उसे पता था कि हमारे समाज के जीवन-केन्द्र का स्पन्दन ऋषि-मुनियों के वन्य आश्रमों में है। अतएव उसने उन्हीं वन्य कुटियों तथा वहां होने वाले यज्ञों को ही अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया था। किन्तु उन आध्यात्मिक शूरों ने उन आघातों का साहस के साथ सामना किया और जनता को जगाने तथा उसमें एकात्मता स्थापित करने के लिए अपने पवित्र लक्ष्य में संलग्न रहे। यह कहा गया है कि सम्पूर्ण समाज, यहां तक कि देवता भी रावण के पैरों के नीचे कराह रहे थे। ऐसे समय में राष्ट्र ने अपने को राम के व्यक्तितत्व में उठाया। उस महान् परित्राता को विश्वामित्र, वशिष्ठ तथा अगस्त्य ने ढाला था और उन्होंने उसका मार्गदर्शन किया था। इन ऋषियों ने केवल राम को ही नहीं खड़ा किया अपितु नियमित

प्रवचनों, वार्तालापों एवं विविध धार्मिक विधियों के द्वारा सम्पूर्ण समाज की उत्कट राष्ट्रीय चेतना को भी उद्दीप्त रखा। समाज-हित की अपनी साधना में वे "अधनंगे फकीर" कितने जागरूक एवं उद्यमी थे। अन्त में, राम की वह भीषण शक्ति भी उन्हें महर्षि अगस्त्य से ही प्राप्त हुई थी, जिससे उन्होंने रावण का वध किया था। यह उनकी प्रेरणा एवं अथक प्रयत्नों का ही परिणाम था कि वे अधर्म की आक्रामक लहरें, जो तीनों लोकों को डुबा चुकी थीं, अन्त में पीछे हटीं। उन अधार्मिक शक्तियों के दुर्ग लंका की राख में से समाज और भी अधिक तेजस्वी होकर एक बार पुनः उठ खड़ा हुआ।

इतिहास काल में भी आत्मविस्मृति तथा आत्मग्लानि के भीषण कालखण्ड में वह कौन था जो हमारे धर्म एवं समाज के पुनरुद्धारक के रूप में आया? वह थी, वही ऋषि-मुनीषियों की परम्परा जिसने अपने सामर्थ्य एवं ओज को शंकराचार्य के रूप में प्रकट किया। वह थे एक सन्यासी, एक अद्वितीय दार्शनिक एवं अनुपमेय संगठनकर्ता। उनकी महत्ता किसी भौतिक सम्पत्ति अथवा शक्ति के कारण नहीं थी। अर्धनग्न, वे देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक विचरण करते रहे। अगणित संकटों का उन्हें सामना करना पड़ा, जिनमें उन्हें विष देने का प्रयत्न भी सम्मिलित है। किन्तु वह निर्भीक एवं विजयिष्णु बने एक-एक स्थान का भ्रमण ही करते रहे। उन्होंने विश्राम और सुख तो जाना ही नहीं तथा हमारी प्रचीन संस्कृति की क्षीण होती हुई लौ को उन्होंने एक बार पुनः उद्दीप्त कर दिया। उनके निष्ठाशील संन्यासी अनुयायियों ने अपने रक्त एवं स्वेद से वैभवशाली भविष्य के निर्माण के लिए अतीत को वर्तमान के साथ अति दृढ़ता से जोड़ दिया। उनके द्वारा जगाई गई राष्ट्रीय चेतना तथा निःस्वार्थ सेवा-भावना ने एक बार पुनः समाज को पैर जमाने में सहायता की।

मुसलमानों की राजसत्ता के काल में भी महान् सन्त और संन्यासी उत्पन्न हुए उन्होंने उस परम्परा को चालू रखा। चैतन्य, तुलसीदास, सूरदास, ज्ञानेश्वर, रामानंद, तुकाराम, रामानुज, मध्व, नानक तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक श्रेष्ठ महात्मा हुए, जिन्होंने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक धार्मिक श्रद्धा से आपूर्ण कर दिया। समर्थ रामदास ने उस धार्मिक उत्साह को राष्ट्रशक्ति के "डाइनेमो" का रूप दे दिया। उन्होंने राम और कृष्ण की कथाओं का बारम्बार बखान किया। उनके पराक्रम के दिव्य गीत गाए। लोगों में अपने देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा जागृत किया तथा सब प्रकार के राजकीय दमन के होते हुए भी उनके नैतिक बल को अक्षुण्ण बनाये रखा। छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में सम्पन्न महान् राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का कार्य उन वर्षों में हुए तीव्र आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण का ही सीधा परिणाम था। ऐसे ही सांस्कृतिक जागरण के द्वारा विजयनगर की वैभवशालिनी हिंदू शक्ति का उदय हुआ था। महान् धार्मिक शिक्षक गुरू नानक तथा उनके उत्तराधिकारियों ने हिन्दू विप्लव की नींव रखी, जिसका प्रगटीकरण गुरू गोविन्द सिंह और वंदा वैरागी के नेतृत्व में योद्धा सिक्खों के रूप में हुआ। इस प्रकार एक बार पुनः

धर्म को केन्द्र मानकर राष्ट्रीय एकीकरण का महान् कार्य हुआ तथा दुष्ट राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का विनाश होकर राष्ट्र का विजय ध्वज अटक से कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक विजय गर्व के साथ फहराया।

विदेशी अंग्रेजों की दासता के विरुद्ध भी हमें राष्ट्रीय पुनरुत्थान का वही आध्यात्मिक आधार दिखाई दिया। और फिर सम्पूर्ण प्रतिभा के साथ वह आध्यात्मिक सूर्य प्रकट हुआ, बंगाल में रामकृष्ण-विवेकानन्द, गुजरात में स्वामी दयानंद और पंजाब में रामतीर्थ, दक्षिण में महर्षि रमण और योगी अरविन्द के रूप में, जिसने जनता के मस्तिष्क में राष्ट्रीयता की आध्यात्मिक भूमिका को स्थापित किया।

हमारे समक्ष इतिहास की यही निर्भ्रान्त साक्षी है। हमें इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और अपने समाज का संगठित जीवन निर्माण करने का निर्णय कर लेना चाहिए, जिसमें शुद्ध चारित्र्य, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के लिए ऐसी अडिग श्रद्धा हो जो सहस्रों वर्षों तक अटल खड़ी रहे। हमारी प्राचीन परम्पराओं की आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित समाज के संगठित जीवन की शक्ति युग-युगान्तर से हमारे अमरत्व का रहस्य रही है। नि:संशय रूप से हमारा राष्ट्र-धर्म यही है और इसकी सम्पूर्ण शक्ति को जागृत कर इसे नव-तारुण्य प्राप्त करा देने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

यहां हम एक भ्रांत धारणा को स्पष्ट कर देना चाहते हैं, जिसने आज हमारे विचारों को आच्छादित कर रखा है। जब धर्म तथा अध्यात्मिकता जैसे शब्दों का उच्चारण किया जाता है तो तुरन्त कहा जाता है कि धर्म को राजनीति में क्यों लाते हैं? धर्म सम्बंधी हमारी गलत धारणा और पाश्चात्य लोगों की ''रिलीजन'' की कल्पना के साथ उसे एकरूप करने की भूल में से इस प्रश्न का उदय हुआ है। धर्म (रिलीजन) की मतान्ध कल्पना तथा राज्य सत्ता पादरियों के हाथ में होने के कारण पाश्चात्य देशों ने बहुत सदियों तक कष्ट भोगे हैं। उक्त कल्पना से धर्म की हमारी कल्पना प्रकाश और अंधकार के समान भिन्न है। धर्म अथवा आध्यात्मिकता कोई अंधमत नहीं है अपितु सम्पूर्ण जीवन का एक दृष्टिकोण है। राजनीतिक अथवा आर्थिक क्षेत्रों के समान धर्म राष्ट्र-जीवन का कोई अलग क्षेत्र नहीं है। आध्यात्मिकता, हमारी दृष्टि में जीवन की एक व्यापक दृष्टि है, जिसे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को अनुप्राणित और उन्नत कर उनके बीच समन्वय की स्थापना करनी चाहिए जिससे कि मानव जीवन अपने सभी पहलुओं में पूर्णत्व प्राप्त करे। यह हमारे राष्ट्र तरू का जीवन-रस है, हमारी राष्ट्रीय सत्ता का प्राण है।

इस सबको समझते हुए भी कुछ ऐसे लोग हैं जो हमारे धार्मिक विचार-प्रणाली के प्रसार के लिए भी राजनीतिक सत्ता को आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि भूतकाल में ईसाई मत तथा इस्लाम का प्रसार उनकी राजकीय सत्ता के कारण ही हुआ। किन्तु उनके गम्भीर अध्ययन से हमें ज्ञात हो जायेगा कि अन्ततोगत्वा राजकीय सत्ता समस्या का

समाधान कभी नहीं करेगी। उदाहरण के लिए सम्पूर्ण राजसत्ता तथा अधिकतर लोग एकाकी व्यक्ति ईसा मसीह के विरुद्ध खड़े हो गए थे। जब उसे सूली पर चढ़ा दिया गया तो उसके शिष्यों के मार्गदर्शन के लिए कोई नहीं बचा था, किन्तु उनके हृदय आदर्शवाद से प्रेरित थे। ईसा की भावना से उद्दीप्त, अपनी नवीन अनुभूति के विश्वास और उत्साह को लेकर वे संसार में दूर-दूर तक फैल गए तथा विश्व उनके चरणों पर विनत हुआ। उस समय उनके पास राजकीय सत्ता नहीं थी। किन्तु जब कालान्तर में उनके उत्तराधिकारी राजकीय सत्ता के प्रलोभन के शिकार हो गए तो उनके अनुयायियों में भ्रष्टता एवं अवनति का प्रवेश हो गया। ईसाई मजहब की वर्तमान दुर्दशा यह है कि वह आज साम्राज्यवादी, राजनीतिक शक्तियों के हाथ का एक साधन मात्र रह गया है। राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से उसके अनुयायियों के कुलषित होने का यह सीधा परिणाम है। सत्ता के मद से मतवाले अनुयायियों के हाथों इस्लाम का विपर्यास—जिसे भूल से आज इस्लाम का प्रसार कहा जाता है—सर्वविदित है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के जागरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।

अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। एक समय में कांग्रेस के आज के नेता बड़े ही त्यागी एवं देशभक्त थे। उनके ज्वलन्त उदाहरणों से जनता भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करती थी, किन्तु आज उनकी दशा क्या है? उनके वर्ग में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद तथा सत्तालोलुपता अनियन्त्रित रूप से बढ़ रही है। इसीलिए स्वराज्य के आगमन पर गांधी जी ने कांग्रेस को सलाह दी थी कि या तो कांग्रेस अपने को समाप्त करे या राजसत्ता से बिलकुल, बहुत दूर रखे। किन्तु उनके उन अनुयायियों के लिए, जो सत्ता की लूट का स्वाद ले चुके थे, यह हितावह शिक्षा बहुत कड़वा घूंट थी। और आज हम इसके भयंकर परिणाम देखते हैं। उन परिणामों की भयंकरता केवल कांग्रेस तक ही सीमित नहीं अपितु सम्पूर्ण देश के भुगतने के लिए है।

केवल राजसत्ता के माध्यम से समाजहित की उपलब्धि का सबसे नवीनतम प्रयोग हम रूस में देखते हैं। उसने भी यही निर्णय दिया है। यह वचन कि "सत्ता भ्रष्ट करती है तथा सम्पूर्ण सत्ता सम्पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है" वहां अक्षरशः सत्य सिद्ध हो चुका है। एक बार सत्ता मिलने पर उसे किसी भी मूल्य पर बनाये रखने की आकांक्षा सत्ताधारियों में उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में जनता की ओर देखने का यह भाव हो ही जायगा कि "मैं स्वामी हूं, और तुम मेरे दास हो।" संस्कृत का एक वचन है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।

(यौवन, धन-सम्पत्ति, सत्ता और अविवेक—इनमें से एक भी अनर्थ करने के लिए पर्याप्त है, फिर जहां चारों हों वहां के लिए क्या कहा जाय।)

रूस में उनके क्रांतिकारी उत्साह, सम्पत्ति तथा सत्ता और उसके परिणामस्वरूप मद के कारण यही घटित हुआ, सब एक साथ होने से निर्दय एकाधिपत्य शासन बना, जिसने सम्पूर्ण राष्ट्र को मनुष्यत्व से पतित किया एवं दास बना डाला।

इस द्वितीय पक्ष से विचार करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजकीय सत्ता के प्रलोभन एवं पाशों से अपने को विलग रखते हुए किन्तु साथ ही साथ अपकार करने वाली शक्तियों को रोकने के लिए पर्याप्त सामर्थ्य से युक्त और जागरूक जिस संगठन का निर्माण हम कर रहे हैं, वही समाज को ऐसी स्वस्थ और स्थायी व्यवस्था दे सकेगा, जिसमें हमारा समाज समृद्धि का जीवन यापन कर सकेगा। आखिर राजकीय सत्ता तो एक बाह्य उपकरण मात्र है जो स्वतः मुनष्य के अन्तरंग को किसी आदर्श के अनुसार नहीं ढाल सकता। केवल प्रशासकीय विधि-विधान मानव-मन को सद्गुणों की ओर उन्मुख नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए यदि कोई अधिकार प्राप्त व्यक्ति मद्यपान के विरुद्ध कानून बनाता है और उसे स्वयं को पीने की लत है तो वह उसी कानून की प्रवंचना करने में और भी अधिक चातुर्य का उपयोग करेगा।

जहां तक सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक सुदृढ़ता को पुनरुज्जीवित करने की भूमिका का निर्वाह करने का प्रश्न है, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि राजकीय सत्ता अपने आप में पंगु सिद्ध होती है और यदि उसे अनियंत्रित छोड़ दिया जाता है तो वह अत्यन्त निकृष्ट रूप लेकर उन उच्च आदर्शों को भ्रष्ट कर देती है। इसलिए किसी राष्ट्र की अमरता का रहस्य, जिसमें उसके समस्त, उदात्ततम परम्परागत गुणों की सुरक्षा हो, राजकीय सत्ता से अन्यत्र कहीं खोजना होगा।

सामाजिक जीवन के विविध तत्वों का इस प्रकार गंभीर विचार करके हमारे प्राचीन विधि निर्माताओं ने राज्य सत्ता के कार्यों को इतना सीमित कर दिया था कि वह केवल बाहरी आक्रमणों तथा ईर्ष्या, घृणा और उन्नति की प्रतिद्वंद्विता आदि के कारण उत्पन्न आन्तरिक कलह से जनता की रक्षा करे। उन्होंने कहा, जो राज्य इन सीमाओं को लांघता है, वह लोगों का मित्र नहीं हो सकता।

सच तो यह है कि इस स्थिति में राज्य लोगों का शत्रु बन जाता है। क्योंकि तब वह लोगों की चिरंतन नैसर्गिक क्षमताओं के स्वतंत्र विकास में बाधक बनेगा। साथ ही राज्यकर्त्ताओं की जी-हुजूरी करने की स्थिति में लोगों को खींचकर श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों से हटाते हुए उनको पतित कर देगा।

आज हमारी सरकार स्वयं को "कल्याणकारी राज्य" घोषित करती हुई सम्पूर्ण शक्ति एवं अधिकार को केन्द्रित करने का प्रयत्न कर रही है तथा शिक्षा, चिकित्सा सम्बन्धी सहायता, सामाजिक सुधार, उत्पादन, वितरण और जीवन के अनेक अन्य क्षेत्रों पर एकछत्र अधिकार प्राप्त करना चाहती है। यदि राज्य इस प्रकार से मानव की सम्पूर्ण

क्रियाकलापों पर आधिपत्य कर लेगा तो मनुष्य कर्म करने की स्वप्रेरणा से रहित होकर एक दास मात्र रह जायगा। यह भली-भांति जाना हुआ है कि सत्ता राज्यकर्ता को पीड़क और अत्याचारी बना देती है। अतः अधिकार प्राप्त मनुष्य अपने सम्भाव्य विरोधियों का हिंसा द्वारा दमन करना चाहते हैं, और इस प्रकार वे अपने को समाज की शांतिपूर्ण उन्नति तथा कल्याण के लिए अयोग्य बना लेते हैं। इसलिए हमारे विधि निर्माताओं ने यह आवश्यक समझा कि सत्ताधारियों पर कठोर प्रतिबंध लगाए जायं। उन्होंने आदेश दिया कि प्रशासनिक शक्ति को, जो केवल साधन है, साध्य नहीं बन जाना चाहिए। राज्य तभी तक समाज की भलाई कर सकता है, जब तक वह धर्म के उत्तम जीवन के उच्चतर नियमों का प्रतिष्ठापक रहता है, और स्वयं साध्य का रूप नहीं लेता। इसलिए उन्होंने वनवासी, आश्रमों में रहने वाले त्यागी, विरागी, ऋषियों और तत्वदर्शियों के रूप में प्रगट हुई धार्मिक सत्ता के मार्गदर्शन एवं नियंत्रण के अधीन अपने इन राज्यकर्त्ताओं को देखा।

हमारी प्राचीन राष्ट्र-व्यवस्था का एक अन्य अनोखा पक्ष यह था कि उसमें सम्पत्ति के उत्पादन को राजनीतिक सत्ता से अलग रखने की सावधानी बरती हुई थी। धन शक्ति का एक रूप है। यह कल्पना कर सकने के लिए अधिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है कि राज्यसत्ता यदि राजनीतिक और आर्थिक दोनों शक्तियों के योग से मदमत्त हो जाती है तो कितना बड़ा विध्वंस कर सकती है। इन दोनों शक्तियों का एक ही व्यक्ति अथवा एक ही वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो जाना या तो समाज का निश्चित पतन करके उसे दास बनाता है अथवा कष्टों के असह्य हो जाने पर लोगों को विद्रोह करने के लिए उद्दीप्त करता है। कुछ भी हो, ऐसी दशा में सामाजिक स्थिरता, प्रगति एवं सम्पन्नता का अभाव हो जाना अपरिहार्य होता है।

यूरोप के देशों का उदाहरण अत्यन्त बोधप्रद है। फ्रांस की राज्य क्रांति के पूर्व उन देशों में राजनीतिक और आर्थिक शक्तियां राजा में समाहित हुआ करती थीं। अनियंत्रित शासन के अन्तर्गत जनता कराहती रहती थी, उसकी सम्पूर्ण स्वतंत्रता, कार्य करने की स्वप्रेरणा तथा आनन्द निचोड़ लिया गया था। उस जुल्म के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह के रूप में "स्वाधीनता, समानता एवं बंधुता" का नारा लगाते हुए फ्रांस की राज्य-क्रांति का विस्फोट हुआ। लगभग उसी समय औद्योगिक क्रांति का भी सूत्रपात हुआ। अवसर की समानता का घोष करते हुए बुद्धि, योग्यता और धन में बढ़े-चढ़े लागों ने उद्योगों पर एकाधिपत्य कर लिया, अपरिमित सम्पत्ति को एकत्रित किया तथा उसकी शक्ति से राजकीय सत्ता के भी नियंत्रक बन गए। वे पुरानों के स्थान पर नवीन अत्याचारी हुए। राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के योग से एक बार पुनः अनियंत्रित शासन उत्पन्न हो गया और सामान्य जन एक अनिर्वचनीय दैन्य एवं दास्य की दशा तक पहुंच गया; यद्यपि उस नयी व्यवस्था को जनतंत्र का नया और मोहक नामाभिधान प्राप्त था। संभवतः इसी कारण बर्नार्ड शा ने कहा है, "उदारवृत्ति सम्पन्न सम्राट के अभाव के परिणामस्वरूप ही

जनतंत्र का जन्म हुआ था।"

इस असंतुलित सामाजिक व्यवस्था तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न जन-अशान्ति से कम्युनिस्ट क्रांति के रूप में एक दूसरा विस्फोट हुआ। रूस और चीन में जो खूनी क्रांतियां हुईं तथा वहां जिस भयंकर परिमाण में संहार, शोधन, निर्वासन, दास शिविर एवं इसी प्रकार के अन्य अमानवीय कृत्य हुए, वे शायद संसार के इतिहास में बेजोड़ हैं। कम्युनिस्ट देश भी राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के संयोग के इसी दु:खद प्रसंग से आक्रान्त हो गए, जिससे सामान्य जन-समुदाय अमानवीय दासता भोग रहा है। वे देश भी, जिन्होंने कम्युनिस्ट क्रान्ति के परिणामों का पूर्व आकलन कर लिया था और जनतांत्रिक बने रहे थे, चाहे एक सीमा तक ही क्यों न हो, राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति के पंजों से दूर रखकर ही ऐसा कर सके थे। इतने पर भी इन जनतांत्रिक देशों में इन दोनों के मध्य अब तक लाभकारी संतुलन उपलब्ध नहीं हुआ है।

इसीलिए दास्य और खूनी क्रांति से बचाने के लिए तथा समाज की स्थायी शान्ति एवं स्वतंत्रता के लिए हमारे प्राचीन हिन्दू विचार, व्यवहार ने आर्थिक शक्ति को राज्य की अधीनता से दूर रखा था। इसने सम्पत्ति का उत्पादन करने वाले लोगों को सभी राजकीय सत्ता से वंचित रखा। इस प्रकार दोनों ही शक्तियां एक दूसरे पर निर्भर तथा दूसरे की शोधक के रूप में रखी गई थीं। और सबसे महत्व की बात यह थी कि इन दोनों शक्तियों की देख-रेख इस प्रकार के नि:स्वार्थ मनुष्य करते थे, जिनका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता था। ऐसे लोगों की एक सतत परम्परा, जो सत्ता एवं धन के सभी प्रलोभनों से ऊपर आध्यात्मिक अधिकारों का धर्मदण्ड लिए हुए सदैव सतर्क रहते थे और इन दोनों शक्तियों में से किसी के भी द्वारा किए गए अन्याय को निरस्त कर देते थे, हमारे प्राचीन राष्ट्र के वैभव और अमरता का वास्तविक प्राण रही है।

अपने राष्ट्रजीवन की परम्परा के इस मुख्य आधार को भली-भांति समझकर ही हमने व्यक्ति निर्माण के इस कार्य को, जो सरल नहीं है, अपने कंधों पर उठा लिया है, जहां ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है जो राष्ट्र के प्रति तथा उसके आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अविचल निष्ठा से ओतप्रोत हों और जो अपने अतिशुद्ध चारित्र्य, तथा सबके प्रति समान प्रेम की भावना की शक्ति के आधार पर समाज की संगठित शक्ति का संचालन इस तेजस्वी कोटि तक करें कि राज्यसत्ता जो भी हो वह अपनी मर्यादाओं को न लांघ सके और समाजहित के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात के लिए सत्ता का लाभ-प्रयोग न कर सके।

इस प्रकार के व्यक्तियों का संगठन ही समाज की शाश्वत शक्ति का आधार बन सकता है। वह ऐसा संगठन होगा जो परिस्थितियों के प्रवाह के ऊपर उठ सके, जो क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति की भावना अथवा राजनीतिक सत्ता को अधिकृत कर लेने की लालसा से स्फूर्त न हो, जिसका सम्पूर्ण समाज के साथ तादात्म्य हो तथा जो अपने अस्तित्व मात्र से

सम्पूर्ण समाज के प्रासाद को सुस्थिति में बनाये रखकर उसके पूर्ण स्वविकास के लिए स्वयंस्फूर्त आवेग एवं शक्ति प्रदान करे।

इस उदात्त दृष्टि को अपने हृदयों में सहेजे हुए हम राजनीतिक सत्ता की मृग-मरीचिका के पीछे क्यों दौड़े? एक बार दक्षिणेश्वर मंदिर में चोरी हो गई। राधाकान्त की मूर्ति के कुछ आभूषण चोरी चले गए। किसी ने कहा, यह देवता भी क्या है जो अपने आभूषणों की भी रक्षा नहीं कर पाता। श्री रामकृष्ण ने उसे डांटकर कहा कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचार रखना लज्जास्पद है। लक्ष्मी जिसकी दासी हो वह भला इस प्रकार के व्यर्थ पत्थर और धातु के टुकड़ों को क्या महत्व देगा? इसी प्रकार हमें भी, जिनके सामने सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन की एकात्म दृष्टि है, राजनीतिक सत्ता जैसी अस्थिर वस्तुओं के पीछे क्यों दौड़ना चाहिए।

राजनीतिक सत्ता, उस संगठित समाज की, जिसका हम निर्माण करना चाहते हैं, संस्कृति, एकात्मता और सामर्थ्य की आभा को केवल परावर्तित करेगी, ठीक जैसे चन्द्रमा सूर्य की आभा को परावर्तित करता है। हम अपने समाज के चिरकालीन लालित समस्त आदर्शों के उसी प्रकार विकीर्ण केन्द्र बनने के अभिलाषी हैं जैसे कि वह अनिवर्चनीय शक्ति सूर्य से विकीर्ण होती है। तब राजकीय सत्ता के लिए, जो अपने जीवन को समाज के उस उद्गम से ग्रहण करती है, उसी आभा को परावर्तित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न होगा।

उपनिषदों में एक कथा है जो इस विचार को सुदंरता से व्यक्त करती है। एक बार दैत्यों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने से देवताओं को अहंकार हो गया। उस सर्वशक्तिमान ने सोचा कि उनका यह बढ़ा हुआ अहंकार दूर करना चाहिए। उसने एक बृहद् रूप धारण किया और देवताओं के सम्मुख अचानक प्रगट हो गया। उस विचित्र अलौकिक आकृति को देखकर देवता चकित रह गए। वायु देवता को उस आकृति का परिचय प्राप्त करने के लिए भेजा गया। उस आकृति ने स्वयं को यक्ष बताया और वायु के सामने एक घास का तिनका रखकर उसे हटाने की चुनौती दी। संसार को हिला देने वाली अपनी शक्ति रखने वाला वायु उसे एक बाल बराबर भी नहीं खिसका सका। वह क्षुब्ध होकर वापस आया। तब अग्नि देवता को भेजा गया। वह भी उस छोटे से घास के तिनके को भस्म न कर सकने के कारण अपमानित होकर लौट आया। अन्त में देवताओं के राजा इन्द्र स्वयं उसे देखने गए, किन्तु वह विचित्र आकृति अचानक लुप्त हो गई। इस रहस्य को न सुलझा सकने के कारण इन्द्र भी लज्जा का अनुभव करता हुआ लौट आया। तब उसके मस्तिष्क में यह विचार आया कि यक्ष के रूप में वह साक्षात् सर्वशक्तिमान ही था जिसकी दया से उनमें से प्रत्येक को उसकी शक्ति की एक-एक चिनगारी प्राप्त हुई है।

समाज की इस सर्वशक्तिमान सत्ता का निर्माण करना, जो बाह्य कारणों से उत्पन्न

संकटों से सदा-सर्वदा के लिए समाज को सुरक्षित रखे और राष्ट्रीय जीवन के समस्त क्षेत्रों को अनुप्राणित एवं उद्भासित करे, हमारी कल्पना का महान् लक्ष्य हमारे सामने है।

याद रखो कि प्राचीन भावना मरी नहीं है। वह राष्ट्रीय भावना जो शताब्दियों तक होने वाले आक्रमणों के धक्कों में जीवित रही और समय-समय पर जिसने आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय वीरों को बार-बार उत्पन्न किया, निश्चय ही पुनः सक्रिय होगी। उन्हीं प्राचीन आदर्श पुरुषों के, उन्हीं सांस्कृतिक दिव्यात्माओं के अनुरूप हम अपने जीवन का निर्माण करें। हम उसी गौरवशाली परंपरा को पुनरुज्जीवित करें जिसने वशिष्ठ, विश्वामित्र, चाणक्य, विद्यारण्य और समर्थ को उत्पन्न किया और जो श्रीराम, चंद्रगुप्त, कृष्णदेव राय तथा शिवाजी के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सरल एवं लघु मार्ग तथा राजनीतिक प्रलोभनों के सम्मोहनों के बाह्य प्रचार के सम्पूर्ण प्रवेग में हम इसी दृढ़ विश्वास पर अडिग चट्टान के समान खड़े रहें। अपने समाज को एक बार पुनः उसकी राष्ट्रीय प्रतिभा के पथ पर ले जाकर भारतमाता को विश्व की सांस्कृतिक पथ-प्रदर्शिका के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने के अपने स्वप्न के प्रति हम सच्चे बने रहें। जब हम इस दृढ़ विश्वास पर हिमालय के समान अविचल भाव से खड़े होंगे तभी हममें से गंगा और यमुना के समान राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन एवं सांस्कृतिक मूल्यों की पावन धाराएं प्रवाहित होंगी। यह उदात्त कल्पना हमारे हृदयों को सदैव प्रेरित करती रहे तथा हम अपने को इस ऐतिहासिक जीवन लक्ष्य के लिए तैयार करें, फिर चाहे कितना ही समय और शक्ति उसके लिए क्यों न समर्पित करनी पड़े।

किसी आदर्श को प्रत्यक्ष साकार करने के लिए एक विशिष्ट कार्यपद्धति की आवश्यकता होती है। विभिन्न संगठनों द्वारा अंगीकृत विविध पद्धतियां आज हमको चारों ओर दृष्टिगत होती हैं। अपने संघ की स्थापना के समय भी ये विभिन्न पद्धतियां प्रचलित थीं और यह बात नहीं थी कि संघ के संस्थापक डा. हेडगेवार ने जब हमारे संगठन के लिए विशिष्ट पद्धति विकसित की उस समय वे उन विभिन्न पद्धतियों से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत, संघ-कार्य को आरम्भ करने के बहुत पहले से ही वे उन विभिन्न संगठनों की गतिविधियों में अत्यंत सक्रिय रहे। वे उन पद्धतियों से पूर्णतः परिचित थे।

यहां प्रश्न उठता है कि तब उन्होंने एक भिन्न पद्धति के साथ एक पृथक संगठन क्यों प्रारंभ किया? क्या उन्होंने यह इसलिए किया कि वे एक स्वतंत्र संगठन के संस्थापक और नेता के रूप में अपने लिए प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा के इच्छुक थे? वस्तुतः इससे अधिक सत्य से दूर और कोई बात नहीं हो सकती। डॉक्टर जी को अन्यान्य मंच पर्याप्त प्रशंसा दे चुके थे। यदि वे इस देश के सर्वोच्च राजनीतिक सम्मान को प्राप्त करना ही चाहते तो अपने असीम त्याग, असाधारण कार्यशक्ति और प्रतिभा की दीप्ति के कारण उनके लिए यह सब एक साधारण-सा खेल मात्र था। परंतु उन्होंने इस सबका त्याग किया और एक शांत एवं

अत्यंत सादा अप्रदर्शनप्रिय संगठन कार्य प्रारंभ किया।

फिर वह कौन-सा कारण है, जिसने उनको इस राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में एक नवीन कार्यपद्धति वाला कार्य प्रारंभ करने के लिए प्रेरित किया ? बाल्य काल से ही उनकी प्रवृत्ति जाज्वल्य देशभक्ति की होने के कारण वे स्वाभाविक रूप से उस समय के क्रांतिकारी आंदोलनों की ओर आकृष्ट हुए। अतः क्रांतिकारी आंदोलनों में सक्रिय भाग लेने के उद्देश्य से ही डॉक्टर जी ने अकथनीय पारिवारिक कठिनाइयां होते हुए भी डाक्टरी के अध्ययन के लिए कलकत्ता को चुना, क्योंकि उन दिनों कलकत्ता क्रांतिकारी आंदोलनों का उबलता हुआ ज्वालामुखी था। उस ज्वालामुखी के अन्दर की संकटों से भरी आग्नेय धारा में वे अत्यंत गहराई तक प्रविष्ट हुए और रहे, किन्तु उनकी विवेकी दृष्टि सदैव जागृत रही। यद्यपि उनका हृदय उन क्रांतिकारी साथियों के ज्वलन्त हृदयों से साथ-साथ स्पन्दित होता था फिर भी पूर्ण राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए उनकी पद्धति डॉक्टर जी को यशस्वी साधन प्रतीत नहीं हुई। क्रांतिकारी साथियों के गुप्त एवं विद्युत के समान तेजस्वी परन्तु क्षणिक प्रकाश करने वाले आंदोलन, उनके साहसिक पराक्रम तथा गौरवशाली बलिदान, उनके ज्वलन्त हृदय में उच्चतर श्रद्धा का जागरण करते थे, किन्तु उनका शांत मस्तिष्क इस प्रकार की क्रांतिकारी उल्काओं के अचिर प्रकाश से चकाचौंध हो जाने से इंकार करता था।

वे जानते थे कि समाज के साथ सीधे सम्बन्धों से वंचित, ये मुट्ठी भर भूमिगत कार्यकर्ता सम्पूर्ण राष्ट्र को जागृत एवं संगठित करने का कार्य एक अत्यंत सीमित मर्यादा तक ही निभा सकते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि उस रचना की उच्चतम पंक्ति में से भी अपने दल के रहस्यों की सूचना दे देने वाले विश्वासघाती प्रायः उत्पन्न हो जाते थे, जिससे उनकी अधिकतर क्रांतिकारी योजनाएं बुरी तरह नष्ट हो जाया करती थीं और इस प्रकार कितने ही क्रांतिकारियों के भव्य पराक्रम एवं बलिदानों पर एक बार में ही पानी फिर जाता था। अंग्रेजों ने जिस प्रकार का सशक्त और सुगठित शासन हमारे देश में निर्माण किया था, उसे उड़ा देने के लिए अनुशासित, दृढ़ इच्छाशक्ति और राष्ट्रभाव से पूर्ण प्रशिक्षित लोगों के मुख्य धार के बिना किसी भी क्रांति के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती।

नागपुर लौटने पर वे कांग्रेस के स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े। लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस तीव्र गति से एक जन-आंदोलन का रूप ले रही थी। आराम कुर्सी में बैठे-बैठे राजनीतिक कार्य चलाने वाले उदार मतवादी राजनीतिज्ञों का युग समाप्त हो चुका था। अंग्रेजों के प्रति सामूहिक विरोध का एक नया युग प्रारंभ हो चुका था। वातावरण स्वराज्य की भावना से व्याप्त था। तिलकजी के पश्चात् गांधीजी ने उस अग्नि को दूर-दूर तक फैलाया तथा प्रत्येक नगर और ग्राम में विरोध की उस ज्वाला को प्रदीप्त किया। गांधीजी ने अपने निष्कलंक चरित्र, पूर्ण निःस्वार्थ भावना, निर्भीकता और एक सरल एवं प्रभावी किन्तु सर्वसाधारण के हृदय को स्पर्श करने वाली पद्धति के द्वारा देश को संघर्ष और त्याग की नवीन ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया। पं. नेहरू, जो कि उस समय अपने ज्वलंत

आदर्शवाद एवं गतिशील व्यक्तित्व के साथ उदित हो रहे थे, उठती हुई पीढ़ी की स्वाभिमानी एवं स्वतंत्र भावना के एक प्रेरणादायी प्रतीक और अग्रणी थे। ऐसे प्रबल पुरुषों के प्रयत्नों से देश में अंग्रेज-विरोधी संघर्ष की एक लहर फैल गई। डॉक्टर जी भी हर प्रकार के आघातों को सहते हुए अग्रिम पंक्ति में डटे हुए थे। उन्होंने विदेशी शासकों को ललकारा और कठोर कारावास का दण्ड भी भोगा। साथ ही साथ उन्होंने उस आंदोलन का सूक्ष्म परीक्षण भी जारी रखा। उन्हें उसमें कुछ ऐसी बड़ी त्रुटियां दिखाई दीं, जिनसे उन्हें अत्यंत निराशा हुई और भय हुआ कि ये भयंकर दोष आगे चलकर इस आंदोलन की पोषित आकांक्षाओं को नष्ट कर देंगे।

उन्होंने देखा कि दोनों ही आंदोलनों की मुख्य प्रेरक शक्ति अंग्रेज विरोधी भावना है और उनमें राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की स्पष्ट और भावात्मक दृष्टि का अभाव है। यह केवल सर्वसाधारण जनता पर ही नहीं अपितु अधिकतर सभी नेताओं पर घटित होता था। हमारे राष्ट्रजीवन की भावात्मक निष्ठा के अभाव में कुछ समय के अनन्तर उन आंदोलनों का प्रतिक्रियात्मक दिशाओं में भटक जाना अनिवार्य था।

दूसरे, वे आंदोलन उस प्रश्न का समाधान करने में असमर्थ थे जो डॉक्टर जी के मस्तिष्क में बाल्यावस्था से ही बराबर उठ रहा था। वह प्रश्न था कि किस प्रकार मुट्ठी भर विदेशी मुसलमानों अथवा अंग्रेजों ने हमें दास बना लिया और इतने दीर्घकाल तक हम पर राज्य करते रहे? अंग्रेजों को यहां से निकाल बाहर करने की बात तो ठीक थी परंतु मुख्य प्रश्न था कि वह कौन-सी मूल्य व्याधि है, जिसका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ? यदि, जैसा कि स्पष्ट था, हमारी विघटित अवस्था ही हमारी दासता के लिए उत्तरदायी थी तो क्या वे आतंकवादी आंदोलनात्मक पद्धतियां उस मूल रोग का उपचार थीं? क्या जन-आंदोलनों और क्रांतिकारी कार्य के झटकों द्वारा स्थायी एकता निर्माण करना संभव था? सभी दुष्ट प्रवृतियां, जैसे स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता तथा राष्ट्रीय चेतना का अभाव, जो अनेक शताब्दियों से राष्ट्रीय जीवन को कमजोर करती रही हैं और जिनका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ था, क्या एक ही चोट में समाप्त हो सकती थीं?

यह विचारणीय प्रश्न है कि संगठित राष्ट्रजीवन की भावात्मक और राष्ट्रजीवन की धारणा करने वाले सद्गुणों में समाज के लोगों को दृढ किए बिना, केवल विरोधात्मक आधार पर जन-आवेश को उभाड़ना क्या उचित होगा? शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक "जूलियस सीजर" में सीजर का उसके मित्रों द्वारा ही वध किये जाने के पश्चात् जब ब्रूट्स तथा कैसिअस लोकप्रियता की भावनाओं के शिखर पर आरूढ थे, उस समय सीजर का एक मित्र एण्टोनी अत्यंत चतुरता से भीड़ के कोप को ऐसा मोड़ दे देता है कि उसका प्रवाह स्वयं जन-रोष के तूफान को हत्यारों के ही विरुद्ध कर देता है। जैसे ही उत्तेजित भीड़ उनका पीछा करती है, एण्टोनी यह प्रसिद्ध वाक्य कहता है—"दुष्टते! तू चल पड़ी है, जो तेरी इच्छा हो, वह मार्ग ग्रहण कर।" स्मरणीय है कि इस वाक्य में "तेरी इच्छा" ही कहा

है ''हमारी इच्छा'' नहीं। यही ऐसे जन-आंदोलनों का विनाशकारी दोष रहता है, जहां भावात्मक राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों पर आधारित आंदोलन का नियंत्रण और मार्गदर्शन करने की क्षमता रखने वाले तदनुरूप देशव्यापी संगठन का अभाव होता है।

इस दिशा में गंभीर चिंतन करने के पश्चात् डॉक्टरजी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लोगों की मानसिक अवस्था में पूर्ण क्रांति ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। परकीय स्वामित्व सहित सभी बुराइयों एवं कमजोरियों को दूर करने का रामबाण उपाय बाह्य ढांचा बदलने की क्रांति नहीं, अपितु मानसिक क्रांति ही है। उन्हें यह भली प्रकार अवगत था कि सम्पूर्ण समाज की वृत्तियों, वैचारिक प्रक्रियाओं तथा आचरण में आमूल परिवर्तन लाने के लिए एक-एक व्यक्ति को लेना होगा। उसे संगठित राष्ट्रीय जीवन के उपयुक्त ढालने के लिए अध्यवसाय के साथ प्रसिद्धि और प्रचार से दूर रहकर शांति एवं एकाग्रभाव से संस्कारित करना होगा।

राष्ट्र के पुनर्गठन का अर्थ उन विशेषताओं का पोषण करना है, जिनके द्वारा राष्ट्रीय चारित्र्य एवं राष्ट्रीय ऐक्य सम्पादित होता है। इसका लक्ष्य मातृभूमि के लिए सर्वस्व समर्पण की तीव्र भावना, बंधुत्व-भाव, राष्ट्रकार्य में अपना योग देने की भावना, राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति गहरी श्रद्धा का भाव जागृत करना है। चरित्र-निर्माण और मन को ढालने का यह कार्य केवल शपथ लेने और उपदेश देने से संपन्न नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के प्रति समर्पण की यह भावना, वर्षानुवर्ष और दिन-प्रतिदिन स्थिर ज्योति के समान जलती रहे, इसलिए एक ऐसे वातावरण में, जो इन गुणों के विकास में सहायक हो सके, लोगों का नियमित और प्रतिदिन एकत्रित होना आवश्यक है। इस बात को मस्तिष्क में रखते हुए ही अन्ततः संघ के संस्थापक ने संगठन के वर्तमान ढांचे को विकसित किया।

हमारी पद्धति में मुख्य बात, जो लोगों का ध्यान आकर्षित करती है, है हमारा दैनंदिन कार्यक्रम। एक खुला मैदान होता है, जहां भगवा ध्वज की छत्रछाया में युवकों और बालकों के समूह विभिन्न भारतीय खेलों के वातावरण में मग्न रहते हैं। वहां का वातावरण आनन्दोल्लास की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से निनादित रहता है। साहसी युवकों के ''कबड्डी'', ''कबड्डी'' कहते हुए पाले में आगे बढ़ने का वह दृश्य हृदय को पुलकित कर देता है। नेता की सीटी या आदेश की आवाज उन पर एक जादू-सा असर करती है, तुरंत ही वहां पूर्ण व्यवस्था और शांति स्थापित हो जाती है। इसके बाद दण्ड, सूर्य नमस्कार, पथ-संचलन आदि कार्यक्रम होते हैं। सामूहिक प्रयत्नों की भावना तथा स्वयं स्फूर्त अनुशासन प्रत्येक कार्यक्रम में व्याप्त रहता है। फिर वे बैठकर सामूहिक रूप से देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत सांघिक गीत गाते हैं। तत्पश्चात् चर्चा का कार्यक्रम होता है। राष्ट्रीय जीवन को प्रवाहित करने वाली समस्याओं पर वे गहराई से विचार-विमर्श करते हैं और अंत में ध्वज के सम्मुख पंक्तिबद्ध खड़े होकर वे प्रार्थना करते हैं—

चाहिएं?"

आज अपने देश में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे कुशल आयोजक, उपदेशक और परामर्शदाता तथा उनकी विद्वत्तापूर्ण वार्ताएं एवं उपदेश प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। यह सर्वविदित है कि आकांक्षित ध्येय को प्राप्त करने के लिए एक व्यावहारिक पद्धति के साथ, दृढ़ता एवं निरंतर लगाव के साथ कार्य किए बिना लोग उच्च बातें तो करेंगे पर उनके कार्य गिरे हुए होंगे।

अपने कार्य के व्यावहारिक स्वरूप पर पूरा बल देने के साथ ही, अपने आदर्श को प्राप्त करने में यशस्वी, ऐसी कार्यपद्धति का तदनुकूल ढांचा विकसित करने की दिशा में संघ ने गंभीर चिंतन किया। आदर्श कितना भी महान् क्यों न हो, तदनुरूप पद्धति के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमारे विभिन्न सम्प्रदायों में भी प्रत्येक व्यक्ति का अपने संप्रदाय के अनुरूप एक निश्चित प्रतीक रहता है। वह स्वयं उन विशिष्ट मंत्रों का उच्चारण करता है तथा विशिष्ट अनुशासन संहिता का अवलम्बन करता है। शैव, शाक्त और वैष्णव सभी के उपासना के तरीके हैं, अपनी कर्मकाण्ड-सम्पादन पद्धति है, एवं उनके जीवन को विनियमित करने वाली विशिष्ट संहिता एवं परम्पराएं हैं।

संगठित एवं अनुशासित राष्ट्रजीवन के आदर्श के अनुरूप हमने भी एक विशेष कार्यपद्धति, प्रतीक, मंत्र एवं आचार संहिता विकसित की है। एक महान् और प्रेरणादायी प्रतीक के रूप में हमने चिरंतन भगवा ध्वज को चुना है। यह हमारी आंखों के सम्मुख प्रांत, पंथ, जाति, भाषा, पद्धति आदि के बाह्य बंधनों से परे एक प्राचीन, पवित्र एवं एकात्म राष्ट्रजीवन की पूर्वकालीन विशुद्ध जीवन्त प्रतिमा प्रस्तुत करता है। अनादिकाल से यह हमारे धर्म, संस्कृति, परंपराओं और आदर्शों का प्रतीक रहा है। यह, यज्ञ की पवित्र अग्नि के रंग को, जो आदर्शवाद की अग्नि-शिखा में आत्मबलिदान करने का संदेश देती है, तथा विश्व में सभी ओर अंधकार दूर कर प्रकाश फैलाने वाले उद्योन्मुख तेजस्वी सूर्य के नारंगी रंग को अपने में मूर्तिमान करता है। यह हमारे भौतिक और आध्यात्मिक प्रयत्नों का मार्गदर्शक ध्रुवतारा और इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ की अचूक साक्षी है। इसने साम्राज्यों का उत्थान और पतन, योगियों की तपस्या और वीरों के बलिदानों को देखा है, और युगों से इस विशाल भूमि के अगणित लोगों के स्वप्नों का यह प्रतीक रहा है। संक्षेप में, यह हमारे राष्ट्रत्व का महानतम, उदात्ततम तथा एक सत्य प्रतीक रहा है।

संघ ने इस जीवन्त प्रतीक को अपने मार्गदर्शक प्रकाश "गुरू" के रूप में स्वीकार किया है। जब डॉक्टर जी ने इस ध्वज को हमारे सामने गुरू और आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया तो उनके कुछ सहकारियों ने इसकी ओर असम्मतिपूर्ण दृष्टि से देखा। स्वयं डाक्टरजी के रूप में जीते-जागते आदर्श को सामने देखने के कारण उन्होंने पूछा—"डॉक्टर जी को ही हम अपना आदर्श क्यों न मानें?" परंतु संगठन की भावना के

अनुरूप हमारे संस्थापक ने शास्वत भगवा ध्वज को ही हमारे आदर्श के रूप में रखा। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, राष्ट्र के लिए आदर्श नहीं बन सकता। राष्ट्रजीवन की अनन्तता की तुलना में व्यक्ति का जीवन आखिर क्षणभंगुर ही है। महान् से महान् व्यक्ति भी राष्ट्र के शताब्दियों के जीवन के सौंदर्य एवं सौरभ के सम्पूर्ण विकास का एक अंश मात्र ही प्रतिबिम्बित कर सकता है। साथ ही यह अपेक्षा भी निरर्थक है कि सभी किसी एक ही व्यक्ति के प्रति समान श्रद्धा रखें, फिर वह कितना ही महान् एवं सम्माननीय क्यों न हो। कितने ही लोग श्रीराम की अपने इष्ट देवता के रूप में उपासना करते हैं, तो अनेक लोग श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में पूजते हैं। ऐसा ही अन्य देवताओं के संबंध में भी है। इसी कारण संघ ने एक ऐसे सार्वभौम प्रतीक को अपने सामने रखा जो अपनी प्रेरणा में सबको समाहित किए हुए हैं।

आदर्श एवं प्रेरणा के लिए व्यक्ति-विशेष पर निर्भर आंदोलनों के दुर्भाग्यपूर्ण अन्त की घटनाएं संसार के अनेक राष्ट्रों के इतिहास में बिखरी पड़ी हैं। व्यक्तिपूजा के अभिशाप एवं तानाशाहों के उदय ने मानवता के चेहरे को विकृत कर दिया। यह विकृति आदर्शों की अवहेलना करने तथा व्यक्ति-पूजा में लग जाने से ही पैदा हुई। हमारी संस्कृति का हमें आदेश रहा है कि किसी व्यक्ति को हम उतनी ही मात्रा में महान् और श्रद्धेय समझें जितनी मात्रा में वह आदर्श को अपने जीवन में प्रकट करता है। सम्पूर्ण विश्व में हमारा ही धर्म केवल ऐसा है जो किसी व्यक्ति-विशेष की ऐतिहासिकता अथवा "व्यक्ति प्रामाण्य" पर आधारित नहीं है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रंथ को अपने धर्म और संस्कृति की एकमेव सर्वोच्च सत्ता नहीं माना हैं। हमारे सभी धर्म ग्रंथ मानव जीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एवं मार्गों का स्पष्टीकरण मात्र है। संघ ने भी अपने विचारों को प्रकट करने के लिए किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है, न तैयार किया है। एक बार एक प्रमुख धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा—"वह कौन-सी पुस्तक है, जिसका आप अनुसरण करते हैं?" मैंने उत्तर दिया—"यदि हम अपने आपको एक पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रखेंगे तो हम किसी भी प्रकार उन मुस्लिम और ईसाइयों से अच्छे नहीं होंगे, जिनका धर्म केवल एक पुस्तक पर ही टिका है। हमारी निष्ठा आदर्श के प्रति है, उससे कम के लिए अथवा अन्य किसी के लिए नहीं।"

इस उत्कृष्ट सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप संघ ने न तो किसी व्यक्ति विशेष को और न ही किसी ग्रंथ-विशेष को अपितु भगवा ध्वज को परम सम्मान के अधिकार स्थान पर अपने सामने रखा है। यह तेजस्वी प्रतीक हमारे राष्ट्रीय जीवन की महानता एवं श्रेष्ठता व्यक्त करता है एवं इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति विशुद्ध भक्ति जागृत कराने का प्रयत्न करता है।

इस ध्वज की पावन उपस्थिति में शाखा के दैनंदिन कार्यक्रम चलते हैं। हमारे समाज के सभी वर्गों के लोग वहां एकत्र होते हैं। भाषा, प्रांत, जाति, सम्प्रदाय, दल अथवा पंथ की बाह्य विभिन्नताएं भूलकर वे एक ही मातृभूमि के पुत्र के रूप में एकत्र होते हैं और उसकी पवित्र धूलि में खेलते हैं। वे अत्यंत भक्तिपूर्ण अंतःकरण से मातृभूमि की प्रार्थना करते हैं। माता के गौरव के लिए वे अपने प्राणों को निछावर करने का संकल्प करते हैं। एक साथ खेलते और गाते हुए एकता की भावना उन्हें एक सूत्र में पिरोती है। जब वे साथ-साथ व्यायाम तथा संचलन करते हैं तो उनके हृदय एक साथ स्पंदित होने लगते हैं।

शाखा स्थल के कार्यक्रम से भी अधिक महत्व वातावरण का है। वातावरण में माधुर्य एवं पवित्रता व्याप्त हो जाती है। एकत्रित आने वाले व्यक्तियों के अनेक विभिन्नत्व एवं विविधता के मध्य एक स्वस्थ ऐक्य की भावना अल्पकाल में ही उदित होती है। सौहार्द एवं सामंजस्य की भावना उनके मानस में बद्धमूल हो जाती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा इस प्रकार के अन्य विभेदों को निमज्जित करने वाला तथा राष्ट्र की एकता का प्रेरणादायी स्वप्न उनके लिए एक जीवन्त रहस्य बन जाता है। इस प्रकार शाखा हमारे लोगों में राष्ट्र सेवा के लिए सर्वस्व-समर्पण के भावों को जागृत करती है और उनको परस्पर अमर बंधुत्व के भावों से बांधती है। यह विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य एवं स्थायी राष्ट्रीय ऐक्य की भावना के निर्माण का सृजनात्मक केंद्र है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय त्यौहारों को मनाने की परम्परा, जिसको संघ ने विकसित किया है, वास्तविक और संपूर्ण राष्ट्रजीवन के प्रति भाव जगाने की दृष्टि से एक प्रभावी माध्यम है।

वर्ष प्रतिपदा अर्थात् भारतीयों के नववर्ष का प्रथम दिन। यह हमारे महान् युगप्रर्वतकों की स्मृतियों तथा उनकी अमर उपलब्धियों का स्मरण कराता है। यह एक सुखद संयोग है कि यह हमारे संघ संस्थापक का भी जन्मदिन है।

हिन्दू साम्राज्य दिनोत्सव (ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी) आठ सौ वर्ष पुराने उत्पीड़नकारी मुस्लिम शासकों पर शिवाजी के पराक्रमी नेतृत्व में १६७४ में हिन्दुत्व की पुनरुत्थानशील शक्ति के विजय का सूचक, सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न राष्ट्रीय सिंहासन की स्थापना का दिन है। गुरू पूजा (आषाढ़ पूर्णिमा) एक परम्परागत दिन है जबकि शिष्य अपने गुरू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता है। संघ ने इसे राष्ट्रीय स्वरूप दिया है। इस दिन संघ के स्वयंसेवक अपने गुरू भगवा-ध्वज की पूजा करते हैं; जो हमारे धर्म और राष्ट्रत्व का प्रतीक है। रक्षाबंधन (श्रावण पूर्णिमा) इस बात का स्मरण कराता है कि हम सभी एक मातृभूमि के पुत्र हैं। हम इस दिन बंधुत्व की प्रतीक राखी को परस्पर बांधते हैं। विजयदशमी (आश्विन शुक्ल दशमी) दुष्ट शक्तियों पर हमारे विजय की गौरवमयी परंपराओं का स्मरण कराती है। यह संघ का स्थापना दिवस भी है। मकर संक्रमण, जो कि

प्रकृति के अंधकार से प्रकाश की ओर होने वाले संक्रमण को सूचित करता है, हमारे लिए एक संदेश देता है कि हम स्वार्थ रूपी अंधकार से राष्ट्रीय चेतना रूपी प्रकाश की ओर संक्रमण करें।

इस प्रकार एक ओर जहां शाखा में नित्य प्रति के प्रशिक्षण से राष्ट्रीय चेतना, चारित्र्य एवं एकता के सद्‌गुणों को व्यक्तियों में लाया जाता है, वहां दूसरी ओर राष्ट्रीय जागृति की ज्योति को विभिन्न राष्ट्रीय त्यौहारों के द्वारा सतत् प्रज्ज्वलित रखा जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि संघ में अनन्य निष्ठा के भाव किसी व्यक्ति के प्रति नहीं वरन् संपूर्ण राष्ट्र के प्रति निविष्ट कराये जाते हैं। इस प्रकार की जीवनदायिनी भावना के अभाव में किसी संस्था के केवल बाहरी रूप से लगाव या उसके प्रति गौरव-भाव राष्ट्रीय विघटन का एक और कारण बन जायेगा।

हमने अपने अतीत के इतिहास और वर्तमान समय में भी राष्ट्रीय पुन: संगठन के इस मूलभूत सिद्धांत को भुलाकर काफी हानि उठाई है। अतीत में अपने लोगों को जागृत और संगठित करने के लिए देश के अनेक भागों में कई प्रयत्न किए जा चुके हैं। उन आंदोलनों के महान् प्रवर्तकों ने संपूर्ण समाज को संगठित और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से ही आंदोलन प्रारंभ किए। किन्तु जैसे ही परिस्थितियां बदलीं और उन आंदोलनों के अस्तित्व में आने के तात्कालिक कारण दूर हुए, वैसे ही उन भावों के प्रति जो प्रेम था, वह उसके बाहरी स्वरूप के लगाव में बदल गया। परिणामस्वरूप आज के स्वार्थ से भरे वातावरण में ऐसे शुष्क पंथों को विरोधी एवं अलगाव रखने वाले अनेक सम्प्रदायों में विकसित होते हुए हम देखते हैं।

उदाहरणार्थ, मुसलमानों के भीषण आक्रमण और हत्याकांड के दिनों में पंजाब में महान संत गुरू नानक का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लोगों में अपने प्राचीन धर्म के प्रति धूमिल होने वाली आस्थाओं के बुझते अंगारों को फिर से प्रज्ज्वलित किया। उनका अनुसरण नौ गुरुओं की उज्ज्वल और पवित्र परंपरा ने किया। वे धर्म के प्रति भक्ति और त्याग के ज्वलंत उदाहरण के रूप में जिए और मरे। दसवें गुरू गोविन्द सिंह ने यह अनुभव किया कि पौरुषपूर्ण कार्यों के बिना केवल धार्मिक श्रद्धा का अभ्युदय अधार्मिक और क्रूर शक्तियों के सम्मुख किसी उपयोग का न होगा। उन्होंने अपने अनुयायियों को अदम्य शौर्य की भावनाओं से भर दिया और उनको पराक्रमी सैनिकों की विजयी सेना के रूप में संगठित किया। किन्तु कैसी विडम्बना है कि आज वह जीवन-लक्ष्य, जिसने उस गौरवपूर्ण आंदोलन को जन्म दिया था, भुला दिया गया है और संस्था के बाहरी स्वरूप के प्रति लगाव में इतनी कट्टरता आ गई कि उससे पृथकतावादी विकृत भावनाओं को जन्म मिला जो इसको अस्तित्व में लाने वाली मूल जीवनशक्ति पर ही कुठाराघात कर रही है।

वर्तमान समय का एक और उदाहरण लें। सन् १९४७ में जब अंग्रेजों ने कांग्रेस के

हाथों में सत्ता हस्तांतरित की तब गांधीजी ने कांग्रेसजनों को कांग्रेस भंग करने की सलाह दी। परंतु कांग्रेस की पुरानी साख एवं उसके प्रति सद्भावना का लाभ उठाकर स्वयं को सरकार के रूप में स्थायी बनाये रखने के लिए कांग्रेस के नेताओं ने गांधीजी की सलाह की अवज्ञा की तथा कांग्रेस के नाम और कीर्ति से चिपके रहकर कांग्रेसी अपनी गद्दियों को बनाये रखने के लिए पतित से पतित कार्य करते समय अंतःकरण में थोड़ी-सी भी चुभन अनुभव नहीं करते। जनता को अपने पक्ष में लाने और रखने के लिए वे जनता के स्वार्थों को उकसाते हैं तथा उन्हें अत्यंत निम्न और अनैतिक, परितुष्टि द्वारा प्रलोभित करते हैं, अथवा अपने विरोधियों को धमकाते हैं, यहां तक कि उन्हें मार भी डालते हैं।

हमारे स्वयं के अनुभव की घटना है। जब संघ पर प्रतिबंध लगा था और मुझे जेल में बंद किया गया था, उस समय एक दिन सुबह मैंने अपने कमरे में अनेक छपे हुए क्षमा-याचना पत्र देखे। ये उन स्वयंसेवकों के लिए तैयार किए गए थे जो सत्याग्रह करके कारावास भोग रहे थे। कुछ देर बाद जब सुपरिण्टेंडेन्ट मेरे पास आए, तो उन्होंने मुझसे कहा कि यह फार्म उन स्वयंसेवकों को वितरित किए गए हैं जो क्षमा-याचना करके बाहर जाना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा—"यह एकदम स्पष्ट है कि हमारे लोगों में से कोई भी क्षमा-याचना की बात स्वप्न में भी नहीं सोचेगा; क्योंकि वे सब अपनी स्वयं की इच्छा से, उस कार्य के लिए यहां आए हैं जो उन्हें अपने प्राणों से भी प्रिय है। पर इस सबसे अलग मैं एक बात पूछता हूं कि आप यह बताइये कि इन निम्न स्तर के तरीकों को अपनाकर आप क्या प्राप्त करना चाहते हैं? जब किसी व्यक्ति को उसकी प्रतिज्ञा किसी कारण से तोड़ने के लिए बाध्य किया जाता है तब क्या यह कार्य उसके शेष जीवन के लिए उसे अकर्मण्य और अनैतिक नहीं बनायेगा? क्या इस प्रकार का ध्वस्त चारित्र्य राष्ट्रीय जीवन के लिए लाभदायक होगा? अंग्रेजों के द्वारा इस प्रकार क्षमा-याचना करवाने के तरीकों को अपनाए जाने की बात कोई भी समझ सकता है, क्योंकि उनके लिए हमारे देश के युवकों के भावों को कुचलना विदेशी शासन यहां बनाये रखने के लिए आवश्यक था; किन्तु आज हमारे नेता कहते हैं कि अब स्वराज्य है, तब अपने ही लोगों की इच्छाशक्ति और मनोधैर्य को इस प्रकार तोड़कर उन्हें किस बात की उपलब्धि होती है?"

यही कारण है कि संघ ने समाज के अंदर एक पृथक संगठन की बात कभी सोची ही नहीं। संघ ने अपने अस्तित्व में आने के समय से ही समाज के किसी एक वर्ग को अलग एक इकाई के रूप में संगठित करने का नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज को संस्कारित करने का लक्ष्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किया। यही कारण है कि संघ के कार्यकर्ता कभी भी लोगों के सामने अपने आपको "संघी गुट" के रूप में प्रस्तुत नहीं करते, यद्यपि उनमें से हजारों लोग अकाल, बाढ़, पाकिस्तान से आए शरणार्थियों का प्रवाह इत्यादि राष्ट्रीय दुर्घटनाओं के समय अपने सर्वस्व का दांव लगाकर कार्य करते हैं। वे समाज में एक सामान्य नागरिक के रूप में रहना पसंद करते हैं, और इस प्रकार वे उदाहरण उपस्थित करते हैं कि सामान्य

मनुष्य को एक संगठित सजग सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार का सुगठित राष्ट्रप्रेमी और आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन ही अनन्त और अपार शक्ति से अपने राष्ट्र को सुदृढ़ बना सकता है।

समाज के अंदर ही शक्तिशाली वर्ग के निर्माण का विचार, जो कभी-कभी गैर-सरकारी सेना का रूप लेता है, स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्रीय विकास के मार्ग को भयानक आपदाओं से परिपूर्ण बनाता है। हमने जर्मनी, इटली, रूस और चीन इत्यादि देशों के राजनीतिक क्षितिज पर इस प्रकार के संगठनों को धूमकेतु के समान उदित होते हुए और उन देशों में सर्वाधिकार शासनतंत्रों को प्रस्थापित करते हुए प्रत्यक्ष देखा है। अधिनायकवादी संस्थाएं समाज पर अपने आधिपत्य को स्थिर और स्थायी बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है और नागरिकों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सभी दृष्टियों से दास बनाने के लिए स्वभावत: प्रवृत्त रहती है। चीन और सोवियत रूस जैसे देशों में आज भी होने वाले जनशुद्धिकरण (Mass purges) मस्तिष्क परिमार्जन (Brain washing) शिविर आदि के संबंध में रोंगटे खड़े कर देने वाले समाचार इन देशों के अंदर की स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में राष्ट्र के स्वतंत्र विचार के प्रकटीकरण का दमन हो जाता है। व्यक्ति विनष्ट हो जाता है और स्वातंत्र्य एवं व्यक्तिगत स्वं-प्रेरणा से विरहित समाज अवनत होने लगता है।

पाशविक शक्ति के द्वारा आधिपत्य बनाये रखने का यह विचार हमारी संस्कृति और परंपरा के लिए एकदम परकीय है। हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही इन अहिन्दू मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। अति-प्राचीन समय से ही हमारे यहां अनेक मत और पंथ विकसित हुए हैं। हमारे यहां विविध प्रकार की राजनीतिक पद्धतियां विकसित हुईं। हमारे यहां गणतंत्रात्मक सरकारें थीं और वंशानुगत राजतंत्र भी थे। परंतु प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति इस बात के लिए स्वतंत्र थे कि वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने स्वस्थ धार्मिक विश्वासों का अनुसरण करें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, प्रकृति और रुचि के अनुरूप अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इस भावना के अनुरूप समाज के जागरण और संगठन के लिए हिन्दू धर्मप्रचारकों का कार्य सदैव प्रेम, सेवा, चारित्र्य निर्माण और त्याग के द्वारा हुआ, कभी भी पाशविक शक्ति और राजनीतिक बल के द्वारा नहीं।

संगठन के इसी तरीके के लचीले और आत्माभिव्यक्तिपूर्ण प्रतिमान ने समाज को अनेकों अतुलनीय अत्याचार और आक्रमणों के बावजूद भी अपनी एकता की भावना जीवित रखने में मदद की। यदि हमारा प्रतिमान कठोर और ऊपर से थोपा हुआ होता तो आज हमारा यह समाज उसी प्रकार एक मात्र शिलीभूत पदार्थ रह जाता, जिस प्रकार कुछ विशालकाय जानवर जड़वत् होकर धीरे-धीरे संरक्षण के कवच के कठोर जानलेवा आवरण के भार से ही समाप्त हो गए। इसीलिए संघ ने विदेशी संगठनों के उन सब आत्मघातक प्रकारों से अपने को बचाया है और समाज के पुन: संगठन के लिए शुद्ध और स्वस्थ राष्ट्रीय परंपराओं का दृढ़ आधार लिया है।

(विचार नवनीत, पृ ३२५-३३८)

१०

यथार्थ दृष्टिकोण

पूर्णरूपेण राष्ट्रीय पुनः संगठन की कल्पना में, जिसे साकार रूप प्रदान करने के लिए संघ प्रयत्नशील है, निहित अर्थ है इस कार्य का अराजनीतिक रूप। एक राजनीतिक दल लोगों के एक बहुत छोटे अंश का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि निर्वाचनों तथा राजनीतिक प्रचार से नहीं हो सकती। राजनीतिक पद्धतियों द्वारा, यहां तक कि राजनीतिक सत्ता द्वारा भी, लोगों में निष्ठा, वीरत्व, चारित्र्य, सौहार्द तथा त्याग-भाव का जागरण कठिन ही है। वास्तव में राष्ट्रीय जीवन रचना की सुग्रथित जड़ों के अभाव में राजनीतिक दल पारस्परिक विरोध को जन्म देते हैं तथा राष्ट्रीय रचना का विध्वंस कर डालते हैं।

सचमुच यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि राष्ट्रीय अस्तित्व की एकता के प्रति जीवित-जागृत निष्ठा तथा राष्ट्रीय हितों के प्रति सर्वाधिक चेतना के अभाव में अधिकांश राजनीतिक दल विघटनकारी शक्तियों एवं विलगाववादी मनोवृत्तियों के जनन-केंद मात्र बन गए हैं। संकीर्ण दलगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश के जाने-माने राष्ट्रविरोधी तत्वों अथवा कभी-कभी विदेशी शत्रु-राज्यों के साथ प्रायः गठबंधन करते हुए हम उन्हें पाते हैं।

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि क्या स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना से काम करने वाले दो दलों का होना वांछनीय नहीं है, जिससे उनमें से प्रत्येक दूसरे के लिए शोधक के रूप में काम कर सके तथा इस विधि से हम राष्ट्र शरीर को किसी एक व्यक्ति अथवा दल की तानाशही के विष से मुक्त रख सकें? प्रजातांत्रिक संस्था में निःसंदेह रूप से यह सुरक्षात्मक वैशिष्ट्य होता है, परंतु उसका भी क्रियान्वयन तभी संभव है, जब लोगों में "दल के परे

राष्ट्र'' का भाव सुदृढ़ रूप से विद्यमान हो। उन पाश्चात्य देशों में भी, जहां लोग गत कई शताब्दियों से उस विशिष्ट परंपरा में सराबोर हो चुके हैं, दल पारस्परिक विरोध एवं ईर्ष्या से पूर्णतः मुक्त नही हैं। फिर भी वे राजनीतिक खींचातानी को सदैव एक सीमा में नियंत्रित तथा राष्ट्रीय हित-साधना के महान् आह्वान के अधीन रखते हैं। उनके लिए ऐसी संस्थाएं उनके जीवन के लिए हितकारक है तथा उन्हें शक्ति प्रदान करती है। यदि एक स्वस्थ एवं शक्ति-संपन्न व्यक्ति बहुत अच्छी मलमल की कमीज पहन ले तो वह उसे बड़ी अच्छी लगेगी। परंतु यदि एक ऐसा व्यक्ति जिसके हाथ-पैर दुबले-पतले हैं, जिसका सीना अंदर की ओर धंसा हुआ है, जो सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता, उसी को पहनकर इधर-उधर घूमने का प्रयत्न करता है तो वह स्वयं को दूसरों के लिए विनोद की वस्तु बना देता है।

उदाहरण के लिए अपने देश की परिस्थितियों की तुलना इंग्लैंड की परिस्थितियों से करिये। कुछ वर्ष पूर्व जब पंडित नेहरू अमेरिका जाते हुए लंदन में रुके थे तो लंदन में रहने वाले अपने ही कुछ स्वदेश बंधु केवल इसी हेतु हवाई अड्डे पर काले झण्डों का प्रदर्शन करने गए थे, क्योंकि वे एक दूसरे दल के व्यक्ति थे। वे विस्मरण कर बैठे कि विदेश में अपने प्रधानमंत्री के विरुद्ध किया गया कार्य अपने राष्ट्र का अपमान था।

अब इंग्लैंड का उदाहरण लें। जब ब्रिटेन के तत्कालीन विरोधी दल के नेता विन्सटन चर्चिल अमेरिका का प्रवास कर रहे थे तब कुछ लोगों ने ब्रिटेन में सत्तारूढ़ मजदूर सरकार के प्रति उनके दृष्टिकोण के संबंध में कुछ प्रश्न पूछे थे। चर्चिल महोदय ने रूखेपन से उत्तर दिया था, ''महायुद्धों के समय भी, जब वहां के लोगों ने भयंकर दुःख और कष्ट सहन किये, वहां के किसी राजनीतिक दल ने उक्त परिस्थिति से किसी दलगत स्वार्थ की पूर्ति करने का प्रयास नहीं किया। उस देश में निर्वाचन के समय, कम्यूनिस्टों द्वारा अपनी जमानतें बचाने के बार-बार विफल प्रयत्न भी उनकी राष्ट्रभाव की गहरी जड़ों का ही परिचय देते हैं।''

विभिन्न देशों की इन संस्थाओं की अंतरंग कार्यशक्ति की ओर ध्यान न देकर केवल उनकी बाह्य व्यवस्था के सतही दृश्य का अवलोकन करने के कारण ही कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि ''आपकी भांति विशेष प्रयत्न न करते हुए भी, इंग्लैंड जैसे देश संकटों और कठिनाइयों पर विजय पाते हैं तथा प्रगति कर रहे हैं। वहां पर लोग अपने सामान्य दैनंदिन जीवन में व्यस्त हैं। राजनीतिक दल देश के कार्य सफलतापूर्वक चला रहे हैं। फिर आपके जैसे स्वतंत्र संगठन की, और जैसा की आप कर रहे हैं, इस दैनंदिन प्रशिक्षण की क्या आवश्यकता है।''

इंग्लैंड का प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात देशभक्त है। वहां किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय ''वह देशभक्त है'' ऐसा कहने की आवश्यकता उसी प्रकार नहीं पड़ती जिस प्रकार किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय ''मनुष्य'' शब्द उसके साथ जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। वह एक मनुष्य है, यह पहले से ही स्वीकृत है। परंतु अपने देश में हम

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रगट करने के लिए "देशभक्त" शब्द का प्रयोग प्रायः सुनते हैं। इंग्लैंड में उनकी प्रत्येक संस्था में, चाहे एक स्कूल हो अथवा कालेज, साहित्यिक क्लब हो अथवा युवक संघ, सामाजिक संस्था हो अथवा सांस्कृतिक, यहां तक कि घर पर भी बालक जो प्रथम पाठ सीखता है, वह है– "हे इंग्लैंड ! तेरे तमाम दोषों के पश्चात् भी मैं तुझसे प्रेम करता हूं", और यहां हमारे महान् नेतागण गौरवशाली हिमालय को एक ऐसा स्थान कहकर पुकारते हैं, जहां उनके शब्दों के अनुसार "घास का तिनका तक पैदा नहीं होता।"

पुनः देशभक्ति की उस प्रेरणादायी परंपरा को देखिए जिसका निर्माण इंग्लैंड ने शताब्दियों से किया है। गत कई शताब्दियों के संपूर्ण काल में उनमें कठिनाई से ही कोई देशद्रोही मिलेगा। द्वितीय महायुद्ध में विश्वासघात का केवल एक ही उल्लेखनीय उदाहरण था। तत्कालीन भारत सचिव लॉर्ड ऐमरी के पुत्र ने जर्मन लोगों के लिए काम किया था। युद्ध के पश्चात् उसके ऊपर मुकदमा चलाया गया तथा उसे मृत्युदण्ड दिया गया। दण्ड कम करवाने के लिए उसके पिता ने अपने उच्च पद के प्रभाव को उपयोग में लाने का विचार तक नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने दया-याचिका प्रस्तुत करना तक अमान्य कर दिया। मृत्यु-दण्ड के दिन उन्होंने यह कहकर उसको मिलने से भी अस्वीकार कर दिया कि ऐसे व्यक्ति की शक्ल देखना भी पाप है जो उनके परिवार की देशभक्ति की गौरवशाली परंपरा पर एक कलंक था। और यहां, दाहिर तथा पृथ्वीराज के काल से लेकर अंग्रेजों के शासन-काल तक देशद्रोहियों की एक पूर्ण जाति की जाति ने ही जन्म लिया है और वही आज तक अवाधित गति से हो रहा है। आजकल अपने देश में उच्च पदों की प्राप्ति के लिए विश्वासघात करना मानो एक पारपत्र ही बन गया है। जिस व्यक्ति ने, जबकि वह एक राजदूत था, भारत आने वाले शस्त्रों से भरे हुए जहाज को चालाकी से पाकिस्तान के लिए मुड़वा देने की चाल चली थी, उसे बाद में एक राज्य का राज्यपाल बना दिया गया।

इंग्लैंड में राजनीति उनके लिए एक स्वस्थ खेल है। जब मजदूर दल के हाथ में सत्ता थी तो उसने अमेरिका और चीन में अपने राजदूतों के स्थान पर क्रमशः विरोधी दल के नेता व उपनेता को नियुक्त कर दिया। क्या अपने देश में सत्ताधारी दल द्वारा ऐसी स्वस्थ परंपरा की कल्पना भी की जा सकती है? यहां सत्ताधारी दल के तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी तक के लोग अन्य दलों के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्तियों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। विरोधी दलों द्वारा आयोजित आंदोलन एवं प्रदर्शनों को क्रूर राजकीय साधनों से कुचलने की बात सोची जाती है।

नये प्रकार की अछूत भावना भी नूतन निर्मिति नहीं है। यह विकृति १९३७ से ही आना प्रारंभ हो गई थी, जब कांग्रेस ने राजसत्ता का स्वाद चखना प्रारंभ कर दिया था। हमें अपने स्वतः के अनुभव से ज्ञात है कि प्रारंभिक अवस्था में कांग्रेस के नेतागण संघ-कार्य से

स्वतंत्रतापूर्वक संबंध रखा करते थे। हमारे संघ के जन्मदाता ने संघ की स्थापना के पश्चात् भी कांग्रेस के आंदोलनों में भाग लिया था। परंतु १९३७ में कुछ प्रदेशों में सरकार बनाने के पश्चात् कांग्रेस ने स्वयं को एक राजनीतिक खोल में बंद कर लिया, अपने सदस्यों के संघ की गतिविधियों में भाग लेने पर प्रतिबंध लगा दिया और इस तरह राजनीतिक जीवन में "राजनीतिक अस्पृश्यता" का एक नवीन विष उत्पन्न कर दिया।

एक बार १९३७ में कांग्रेसी शासन वाले एक प्रदेश में एक राजनीतिक आंदोलन को कुचलने के लिए गोली चलाने का आदेश दिया गया था। एक व्यक्ति ने कांग्रेस अध्यक्ष को लिखा कि "अहिंसा के लिए वचनबद्ध कांग्रेस द्वारा बनाई गई सरकार गोली का मार्ग कैसे अपना सकती है?" कांग्रेस अध्यक्ष ने उत्तर दिया—"अहिंसा की हमारी नीति केवल अंग्रेजों के विरुद्ध लागू होती है, स्वजनों के लिए नहीं।" और उन सज्जन ने उस पत्र-व्यवहार को समाचार-पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

हमारी राष्ट्रशक्ति का ह्रास करने वाले राष्ट्रीय विघटन के कीटाणुओं के रहते हुए यह कल्पना ही गलत है कि अन्य देशों की राजनीतिक्र व अन्य संस्थाओं की केवल नकल करने मात्र से ही हमारी समस्याएं हल हो जायेंगी तथा सर्वांगीण राष्ट्रीय कायाकल्प हो जायेगा। हमारी व्याधि अधिक गहराई तक व्याप्त है तथा उसके मूलगत उपचार की आवश्यकता है। इस मूलगत रोग का समूलोच्चाटन करने हेतु ही संघ ने दैनंदिन प्रशिक्षण, त्याग, अनुशासन व राष्ट्रभक्ति जैसे गुणों को दिन-प्रतिदिन निविष्ट करने की पद्धति का विकास किया है, जिससे एक संगठित व उत्थानशील राष्ट्रीय जीवन की निर्मिति होती है।

अतः हम कहते हैं कि हमें प्रतिदिन नियमित रूप से शाखा में एक साथ आना चाहिए। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि एक विशिष्ट विचार, एक निश्चित समय पर, नियमित रूप से दोहराया जाता है तो वह हमारे व्यक्तित्व की गहराई में प्रवेश करके हमारे चरित्र का अभिन्न अंग बन जाता है। अतः नियमितता एवं समय-पालन पर संघ में अथक बल दिया जाता है।

इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए एक छोटी-सी कहानी है। एक धनी व्यक्ति अपराह्न में अपने सुंदर उद्यान में ठण्डी छाया में बैठने आया करता था। एक दिन एक मोर आ गया तथा अपने मनमोहक पंख फैलाकर पेड़ पर बैठ गया। उस व्यक्ति ने सोचा, "यदि इस समय यह प्रतिदिन आया करे तो कितना सुंदर रहेगा।" उसने अफीम मिलाकर कुछ खाद्य पदार्थ बनवाया तथा उसे मोर के सामने डाल दिया। मोर ने उसे खा लिया। वह बहुत उल्लसित हुआ। दूसरे दिन उस सुख के भाव का स्मरण कर वह पुनः आया। उस व्यक्ति ने अफीम की दूसरी खुराक उसको दे दी। अन्ततोगत्वा उस पक्षी को इतना अभ्यास पड़ गया कि वह बिना उस अफीम के भी उक्त समय पर आया करता था।

यह मन का स्वभाव है। विचार, वाणी एवं कृति में पुनः-पुनः एक विचार के दोहराने से

आदत बनती है। इसमें नियमितता का बड़ा महत्व है। अनियमितता अच्छे चरित्र की निर्मिति को नष्ट कर देती है। अनेक व्यक्ति हैं जो कठोर परिश्रम कर रहे हैं; जैसे निहाई पर जुटे लुहार, पेड़ों को काटने वाले अथवा पत्थर तोड़ने वाले; परंतु उनमें से कोई सैण्डो नहीं बन जाता, यद्यपि वे अथक शारीरिक परिश्रम कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनका परिश्रम अनियमित एवं अव्यवस्थित है। परंतु एक व्यक्ति, जो कम थकान का परंतु नियमित व्यायाम करता है, अपना स्वास्थ्य बनाकर खिलाड़ी बन सकता है। प्रसिद्ध जर्मन सेनापति हिण्डेनबर्ग, जिसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी का राष्ट्रपति बनाया गया था, अस्सी वर्ष की आयु में भी शक्तिशाली और चपल था। उसकी आश्चर्यकारी कार्यशक्ति के विषय में पूछे जाने पर उसने कहा कि वह नियमित रूप से प्रतिदिन एक घंटा लकड़ी काटा करता था। इस आयु तक उस आदत को उसने जारी रखा था।

इसमें कोई संशय नहीं है कि कोई प्रेरणादायी विचार सुनने तथा किसी विशिष्ट वस्तु का परिपालन करने का पक्का निर्णय लेने से हमारे अंदर उल्लासपूर्ण भावों का जागरण होता है। परंतु वह भावना तथा निर्णय कितनी देर तक टिकता है? क्या यह अपना सामान्य अनुभव नहीं है कि हम अपने नवयुवकों को किसी पवित्र दिवस पर नित्य दैनन्दिनी लिखने अथवा व्यायाम करने तथा इसी प्रकार की अन्य बातों का संकल्प करके दूसरे ही दिन उन्हें भूल जाते हुए देखते हैं?

हम प्राय: ऐसे लोगों के संबंध में आते हैं जो उमंग आने पर कार्य करते हैं। कुछ अवसरों पर हम लोगों की भावनाओं और संवेगों की बहुलता भी देखते हैं। परंतु लोगों के मन पर अमिट संस्कार डालने के लिए ऐसे अस्थायी उफान सहायक सिद्ध न होंगे। आजकल लोग कहते हैं कि देश में धार्मिक जागरण की एक लहर आई हुई है। ध्वनिवर्द्धक यंत्रों द्वारा धर्मोपदेश प्रसारित किये जाते हैं। गंगा में एक डूबकी लेने के लिए प्रतिवर्ष लाखों लोग इकट्ठा होते हैं। पुराण, हरि-कथा, प्रवचन सुनने, रामनवमी, सत्यनारायण पूजा तथा गणेशोत्सव आदि के लिए विशाल संख्या में लोग जमा होते हैं, परंतु क्या इन कार्यक्रमों का इच्छित परिणाम निकल रहा है? क्या वे आज के आत्मकेंन्द्रित जीवन को समाप्त करने तथा चारित्र्य, सेवा एवं त्याग के पवित्र उपदेशों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के पवित्र संकल्प को लोगों के मन में जगा पाये हैं?

श्री रामकृष्ण परमहंस गंगा स्नान के लिए जाने वाले लोगों के विषय में विनोद से कहा करते थे—"जैसे ही वे गंगा के तट के निकट पहुंचते हैं, उनके पाप उनके शरीर से उड़कर दूर के पेड़ों पर जाकर बैठ जाते हैं। परंतु स्नान करने के पश्चात् जैसे ही ये वापस आते हैं उनके पाप उनके ऊपर झपट पड़ते हैं।" निष्कर्ष यही निकलता है कि मनुष्य का चारित्र्य संवेगों के क्षणिक उफानों से नहीं बदला जा सकता। लाखों लोगों में एक ही ऐसा होता है, जिसमें क्षणिक भावोद्रेक को चरित्र का अभिन्न अंग बना लेने की बौद्धिक क्षमता हो। यही कारण है कि मानसिक अनुशासन के विषय में अपने अधिकृत विभूतियों ने हमें भावावेश

के वशीभूत न होने तथा भगवान् के नाम पर आंसू न बहाकर दैनंदिन तपस्या करने के अनुशासन को स्वयं पर लागू करने का विधान दिया है। संवेगों का बिखरना नाड़ियों को ध्वस्त कर देगा तथा उसे पहले से ही दुर्बल बनाकर नैतिक दृष्टि से प्रायः समाप्त कर देगा। यह मदिरा के उस व्यसनी की भांति है जो मदिरा का प्रभाव समाप्त हो जाने पर अशक्त होकर गिर पड़ता है।

एक बार एक वयोवृद्ध ने हमारी एक बैठक के उपरांत अत्यधिक उत्साहित होकर अपने परिवार के लोगों को बतला दिया कि उनके व उनके परिवार के संबंध विच्छेद हो गये हैं तथा इसके आगे वे संघ के हेतु स्वयं को समर्पित कर देंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जोश ठण्डा हो जाने के पश्चात् ''सर्वस्व त्याग के व्रत'' का रंचमात्र भी स्मरण न रखते हुए वे पुनरपि अपने आत्मकेन्द्रित जीवन में लीन हो गए।

फिर वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा स्थायी संस्कारों को अंकित किया जाए? मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि किसी आदर्श के अनुसार व्यक्ति के चरित्र को निर्माण करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम, जिस आदर्श का संस्कार करना है उसका सतत् ध्यान। दूसरा, उसी आदर्श के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का सतत् साहचर्य, और अंतिम, शरीर को ऐसी गतिविधियों में लगाए रखना जो उस आदर्श के अनुकूल हों। किन्तु सभी सामान्य लोगों के लिए, जिन्हें दिन का अधिकतर समय अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक कार्यों में लगाना पड़ता है, जैसे धनोपार्जन, बच्चों का पालन-पोषण आदि, यह दिन के २४ घंटे वाला नियम अव्यावहारिक है। सर्वस्व त्यागी योगी भी पूर्ण समाधि की स्थिति में तीन दिन से अधिक नहीं रह सकता, उसके पश्चात् उसका शरीरपात हो जायेगा।

अतएव हमारे महान् समाज निर्माताओं ने सामान्य मनुष्य के लिए एक ऐसी पद्धति बनाई जिसमें उन संस्कारों के सिद्धांतों का सार समाविष्ट था और वह पद्धति यह है कि दिन की एक निश्चित कालावधि, प्रातः, सायं अथवा रात्रि में, अलग निकाल ली जाय तथा अपने शरीर, मन एवं बुद्धि की सभी शक्तियां और क्रियाएं, उस चुने हुए आदर्श पर नियत समय पर नियमित रूप से यथा समय, केन्द्रित की जायं, तथा दिन का कम से कम कुछ समय समान निष्ठा वाले लोगों के साथ व्यतीत किया जाय।

संघ ने भी अपनी शाखा द्वारा संस्कार देने की वर्तमान पद्धति को उसी कालमान्य प्रतिमान के आधार पर विकसित किया है। राष्ट्रीय पुनर्गठन के अनुरूप ''राष्ट्र देवों भव'' की भावना से स्फूर्त दैनिक संस्कारों की प्रक्रिया शाखा में चलाई जाती है। उसमें इसी भावना से ओतप्रोत सभी छोटी-छोटी दिखने वाली हर तरह कि चीजें जैसे खेल, लाठी चलाने का शिक्षण, गीत, प्रचलन आदि कार्यक्रम एक संगठित एवं सशक्त राष्ट्र जीवन के लिए गहरे संस्कारों को प्रदान करने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

एक योजनाबद्ध रूप में छोटी-छोटी चीजों का एकत्र लाया जाना भी सदैव एक बड़ी चीज का निर्माण कर देता है। "पैसे को सुरक्षित रखो। रुपया स्वयं सुरक्षित हो जायेगा"—कहावत महान चरित्रों के निर्माण में अक्षरशः सत्य उतरती है। महान् चरित्र बनी-बनाई वस्तुओं के समान कहीं से एक दिन में ही नहीं आ जाते। उनका निर्माण शांतिपूर्वक सतत् कार्यशीलता से होता है। महानता एवं श्रेष्ठता की उपलब्धि क्रमबद्ध इंच-इंच करके आती है तथा एक-एक पग की प्राप्ति के लिए प्रबल प्रयास करने पड़ते हैं।

बुरे चरित्र भी कहीं पर लघु स्खलन से ही बनने आरंभ हो जाते हैं। एक युवक का यही हुआ। उसे हत्या के अपराध में मृत्यु दण्ड मिला था। उसकी मां अपने पुत्र की अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करने के लिए मिलने आई? किन्तु जैसे ही उसने अपनी मां को देखा वह उस पर झपट पड़ा और उसके कान अपने दांतों से काट लिए। उसे खींच कर हटाया गया। मृत्यु के समय भी मां के प्रति ऐसे दुष्ट व्यवहार के लिए उसकी निंदा की गई, तो उसने कहा "मेरे इस दुःखद अंत का कारण मेरी मां ही है।" पूछा गया "यह कैसे?" उसने बताया, "बाल्यावस्था में मैं एक बार कुछ धन चुराकर अपनी मां के पास लाया था। उस समय इसने मेरे कान खींचकर मुझे ठीक नहीं किया। उस दिन से मेरा यह दुष्ट स्वभाव बढ़ता ही गया और आज मैं उसी के दारुण परिणाम भोग रहा हूं।"

बुरी आदतें और प्रवृत्तियां, जो विगत कतिपय शताब्दियों से हममें बढ़ रही हैं. एक दिन में घुलकर साफ नहीं हो सकतीं। इसलिए नित्य के संस्कार अत्यंत आवश्यक हैं। शरीर को भी नित्य धोने की आवश्यकता होती है, तो मस्तिष्क को, जो दूषणों के लिए शरीर से अधिक ग्रहणशील है, बहुत अधिक परिश्रम एवं नियमितता से शुद्ध करने की आवश्यकता है। विशेष रूप से इस बात की आवश्यकता इसलिए और भी है कि वह उन दुष्ट प्रवृत्तियों के सम्पर्क में सतत् रहता है जो हमारे चारों ओर के वातावरण में है। जब श्री रामकृष्ण के अद्वैतवादी गुरु तोतापुरी से प्रश्न किया गया कि "वह एक सिद्ध पुरुष होकर भी संस्कारों की नित्य क्रियाएं क्यों किया करते हैं?" तो उन्होंने उत्तर दिया कि "मनुष्य जब तक इस संसार में रहता है, उसके नित्य शोधन की आवश्यकता ठीक उसी प्रकार से है जैसे किसी पानी पीने के लिए उपयोग में आने वाले पात्र को नित्य मांजना पड़ता है।"

इसलिए संघ ने संस्कारों के एक क्रम का विकास किया है, जिसके द्वारा व्यक्ति का मन, मेधा एवं शरीर इस प्रकार से प्रशिक्षित होता है कि वह हमारे महान् समाज के संगठित कलेवर का एक सजीव अंग बन जाता है। उदाहरण के लिए, मानव शरीर में कितने ही अंग हैं और प्रत्येक अंग में लाखों कोषिकाएं हैं। प्रत्येक कोष सम्पूर्ण शरीर के साथ अपना ऐक्य अनुभव करता है और शरीर के स्वास्थ्य एवं बुद्धि के लिए अपने को बलिदान कर देने को सदैव प्रस्तुत रहता है। वास्तव में यह ऐसे लाखों कोषों का आत्मबलिदान ही है जो प्रत्येक शारीरिक क्रिया के लिए शक्ति उपलब्ध कराता है।

शाखा पर नित्य नियमित रूप से जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उसके द्वारा तादात्म्य एवं सामूहिक कार्यों को अच्छी प्रकार से करने की भावना का उदय होता है। इससे व्यक्ति को अपने-व्यक्तित्व के आड़े-तिरछे कोणों को घिसकर मिटा देने की प्रेरणा मिलती है तथा समाज में अपने शेष बंधुओं के साथ ऐक्य भावना का व्यवहार एवं अन्य मनुष्यों के विविध दृष्टिकोणों से अपना मेल बैठाते हुए संगठित और अनुशासित जीवन-पद्धति में खड़े होने की योग्यता प्राप्त होती है। वहां पर एकत्रित व्यक्ति एक ही आज्ञा का साथ-साथ पालना करना सीखते हैं। अनुशासन उनके रक्त में प्रविष्ट होता है। शरीर के अनुशासन से मन का अनुशासन अधिक महत्वपूर्ण होता है। वे अपने व्यक्तिगत आवेगों एवं संवेगों को महान् राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर उन्मुख करना सीखते हैं। शाखा पर निर्माण होने वाला आदर्श अनुशासन स्वेच्छा से ग्रहीत होता है, क्योंकि वह राष्ट्र के लिए उत्कट समर्पण की भावना में से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का अनुशासन व्यक्ति में छिपी सुप्त शक्तियों को राष्ट्रहित के साथ स्वरैक्य स्थापित कर समृद्ध और प्रस्फुटित करता है। पूर्ण विकसित पुरुषोचित सद्गुणों के साथ, पारस्परिक स्नेह तथा सहयोग की भावना से ओत-प्रोत एवं स्वतःस्फूर्त अनुशासन के बंधन से बद्ध, एक साथ कार्य करने के लिए पूर्ण एवं नित्य सिद्ध मनुष्य ही राष्ट्रीय शक्ति के अक्षय भंडार का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में अनशासन एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व होता है। समान लक्ष्य वाले किन्तु अनुशासन से रहित लोगों के एकत्रीकरण में सामूहिक शक्ति का अभाव होता है। ऐसा एकत्रीकरण अपने ध्येय को प्राप्त करने में असफल होता है। पुरी में प्रतिवर्ष लाखों मनुष्य जगन्नाथ जी के दर्शनों के लिए एकत्रित होते हैं। उस भीड़ में अनेक गिर पड़ते हैं, अंग-भंग हो जाते हैं अथवा दूसरों के पैरों से कुचल जाते हैं। इस प्रकार की दुर्घटनाएं सामान्य रूप से हुआ करती हैं। निःसंदेह सभी का लक्ष्य एक ही रहता है—जगन्नाथ स्वामी का दर्शन। किन्तु वहां कोई व्यवस्था, कोई अनुशासन न होने से जगन्नाथ जी के दर्शन के स्थान पर गड़बड़ी और अनर्थ ही होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का यही अनुभव है। कार्य करने के लिए क्षमता की दृष्टि से मुट्ठी भर अनुशासित मनुष्यों की तुलना सैकड़ों लोगों की अव्यवस्थित भीड़ से किसी प्रकार नहीं की जा सकती। हमने अपने ही इतिहास में देखा है कि संख्या में कई गुना अधिक हमारी सेनाओं को अंग्रेजी सेनाएं सर्वथा पराभूत करने में सफल हो सकीं। इसका स्पष्ट कारण था उनका उत्तम कोटि का अनुशासन।

अनुशासन की भावना, जो कि संघ की कल्पना के अनुसार राष्ट्र पुनर्गठन के लिए आवश्यक है, केवल शरीर तक सीमित नहीं है। वह पुलिस अथवा फौज से नितान्त भिन्न प्रकार की है। एक बार एक मित्र ने मुझसे पूछा कि "आपका संगठन विक्रमादित्य के द्वारा बनाये हुए संगठन जैसा है अथवा शंकराचार्य की पद्धति का?" मैंने उत्तर दिया—"वर्तमान काल में उनमें से किसी के द्वारा भी लाभ नहीं होगा। विक्रमादित्य के सैनिक संगठन ने कुछ

काल के लिए शत्रु को निकाल बाहर करने का एक सीमित लक्ष्य सिद्ध किया और एक शती से कुछ अधिक काल तक रहा। किन्तु इस प्रकार की पद्धति न तो हमारे लोगों को सदा के लिए एक कर सकती है और न उनमें चिरकालिक राष्ट्रीय सद्गुणों को ही अनुप्राणित कर सकती है। बौद्धिक वाद-विवाद एवं नैतिक शास्त्रार्थ की दूसरी पद्धति का जहां तक संबंध है, जिसे श्री शंकराचार्य ने ग्रहण किया था, वह भी आज सफल नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि उस काल में संप्राप्त बौद्धिक प्रामाणिकता तथा सच्चरित्रता का आज स्पष्ट अभाव है। मण्डन मिश्र की पत्नी अपने पति और शंकराचार्य के मध्य हुए प्रख्यात शास्त्रार्थ में निर्णायक बनकर बैठ सकी और उसने अपना निर्णय शंकराचार्य के पक्ष में दिया। शर्त के अनुसार मण्डन मिश्र तथा उनकी पत्नी दोनों ही संन्यास लेकर उत्तम शिष्य बने।

वर्तमान काल में इस प्रकार की अवस्था नहीं है। आज ऐसे लोग अत्यंत अल्प हैं कि जो बौद्धिक दृष्टि से इतने उन्नत और प्रामाणिक हों कि जिस बात को ठीक मानें, उसे स्वीकार कर तदनुसार कर्म करें। यह हमारा एक सामान्य अनुभव है कि अधिकतर बड़े-बड़े नेता, जो सार्वजनिक रूप से संघ के विचारों का कठोरतापूर्वक विरोध करते हैं, अकेले में उसके प्रति अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं। इसलिए हमने इस अनोखी पद्धति को विकसित किया है जिससे हमारे सभी लोग एक स्वप्रेरित, पूर्ण अनुशासित एवं राष्ट्रभक्ति से पूर्ण शक्ति का रूप ग्रहण करें तथा उन्हें इस प्रकार शिक्षित किया जाय कि उनमें अपने विश्वासों के अनुसार कर्म करने का सामर्थ्य उदित हो।

हम संघ में जिस अनुशासन का पालन करते हैं उसके वास्तविक स्वरूप के संबंध में बहुत सी भ्रान्तियां हैं। वे ही लोग जो दण्ड के भय अथवा धन और पद के लोभ से निर्माण हुए फौज व पुलिस के अनुशासन को सदैव देखते रहने के अभ्यस्त हैं जब संघ के कार्यक्रमों में व्याप्त और कार्यकर्ताओं के व्यवहार में पालन किये गए कठोर अनुशासन को देखते हैं तो वे कहने लगते हैं कि संघ एक अर्ध-सैनिक संगठन, निजी-सेना अथवा ऐसी ही कोई चीज है। यह उनके बहुत बड़े अज्ञान को छिपाने तथा आत्म-संयम व स्व-स्वीकृत अनुशासन द्वारा निर्मित संगठन के घटकों के व्यवहार में व्याप्त एकता की भावना, परस्पर सहकार्य, कार्योद्दिश्य के लिए सम्पूर्ण समर्पण आदि की भावना को समझने में उनकी असमर्थता है।

इसी अज्ञान के कारण लोग हमसे पूछा करते हैं कि "अणु और मिसाइल के इस युग में लाठी तथा इसी प्रकार के पुराने शस्त्रों की आपकी शिक्षा से क्या लाभ?" वे इस बात को भूल जाते हैं कि अणुबम और मिसाइल जैसे शस्त्रास्त्रों का उपयोग करने की शिक्षा प्राप्त करना तो सेना का कार्य है। किसी भी देश में, यहां तक कि अमेरिका और रूस में भी, सामान्य लोगों के हाथों में इस प्रकार की वस्तुएं देने की अनुमति नहीं है। उन देशों में भी, जहां तक सामान्यजन का संबंध है, उन्हें प्रारंभिक शारीरिक व्यायामों और साधारण

उपकरणों से ही शिक्षा दी जाती है। लोगों के हृदय में अपने शरीर एवं मस्तिष्क को अनुशासित रखने के संस्कार जगाने के लिए ऐसी शिक्षा आवश्यक है।

कुछ और भी हैं जिन्हें संभवत: हमारे संगठन के नियमित कार्यक्रमों को करना कष्टकर प्रतीत होता है, जो कहते हैं कि वे किसी अनुबंध से अपने को आबद्ध नहीं रखना चाहते और इसलिए भांति-भांति की बातें करते हुए कहते हैं कि यह तो व्यक्ति स्वातंत्र्य का युग है। इसी प्रकार के एक सज्जन ने संघ पर "फासिस्ट" होने का आरोप मढ़ा; क्योंकि उनके कथनानुसार संघ के सभी लोग कश्मीर से कन्याकुमारी तक चाहे वे प्रौढ़ अथवा किशोर हों, किसी प्रश्न का एक ही प्रकार का उत्तर देते हैं। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि संघ में विचारों की स्वतंत्रता नहीं है। मैंने उनसे पूछा—"मैं कहता हूं दो और दो चार होते हैं, आप क्या कहते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"हां, चार ही होते हैं।" मैंने कहा—"तो आप बिलकुल जनतांत्रिक नहीं हैं। आपने तो वही उत्तर दिया है जो मैंने दिया था; इसलिए आप भी फासिस्ट हैं।" किसी प्रश्न का शुद्ध उत्तर तो एक ही हो सकता है, यह साधारण-सा तथ्य उन सज्जन की समझ में नहीं आया।

यह स्वाभाविक ही है कि संघ के स्वयंसेवक के मस्तिष्क में राष्ट्र संबंधी सही दृष्टिकोण होने के कारण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया स्वयंस्फूर्त रूप से एक ही प्रकार की हुआ करती है, इसे मानसिक सैनिकीकरण (Regimentation) समझने की भूल करना राष्ट्रवाद की भावना को ही सैनिकीकरण का उपकरण कहने के समान होगा। "विचार स्वातंत्र्य", "वाणी स्वातंत्र्य" आदि के आधुनिक एवं अपच विचार हमारे उन युवकों के मस्तिष्क में एक भयंकर उत्पात मचाये हुए हैं जो स्वतंत्रता को स्वच्छंदता का अनुज्ञा-पत्र और आत्मसंयम को मानसिक सैनिकीकरण मानते हैं।

संघ में परिपोषित अनुशासन सुसंस्कृत लोगों का स्वाभाविक आत्मसंयम होता है। यह एक ऐसा अनुशासन होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि राष्ट्र के प्रति उसका कर्त्तव्य महत्तर है तथा उसकी व्यक्तिगत और पारिवारिक आवश्यकताएं रुकी रह सकती हैं। वह अपने को सुव्यवस्थित अंगागिभाव से उस उच्चतर आह्वान के अनुरूप आचरण करने के लिए सिद्ध करता है। यह इस प्रकार का अनुशासन है कि जिसमें सब अपनी प्रतिभा, भावना, कायिक शक्तियों एवं भौतिक सम्पत्ति को राष्ट्रीय कल्याण के महत्तर लक्ष्य की सेवा में संग्रहीत और संग्रथित करते हैं।

यही है वह स्वत:स्फूर्त, स्वेच्छया आत्मसंयम और स्वार्थ त्याग की भावना जो शाखा पर प्रशिक्षित व्यक्ति को अन्यों से अलग प्रगट कर देती है। उसे "स्वयंसेवक" कहा जाता है। स्वयंसेवक वालंटियर नहीं होता, जैसा कि इन दिनों सामान्यत: समझा जाता है, जो किसी सार्वजनिक अवसर पर गणवेश धारण किए हुए इधर से उधर घूमता है, जो दूसरों

की आज्ञानुसार बिना कुछ पारिश्रमिक लिए शारीरिक प्रदर्शनों में भाग लेता है। वह कोई निष्क्रिय सत्ता नहीं है जो दूसरों की आज्ञानुसार बिना कुछ पारिश्रमिक लिए शारीरिक कार्य किया करे। स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति है, जिसकी एक राष्ट्रीय दृष्टि होती है, उसे यह अनुभूति तीव्रता से होती है कि उसे एक ऐसे राष्ट्र को संगठित करने की महती योजना को कार्यान्वित करना है जो गत सहस्र वर्षों से अनेक कारणों से छिन्न-विच्छिन्न पड़ा हुआ है। वह इस ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह करने की तैयारी का दृढ़ निश्चय करता है। वह अपने स्वाभाविक आवेगों, संवेगों एवं प्रवृत्तियों में साम्य स्थापित कर उनका निर्देश करना सीखता है, जिससे कि वह राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्य के लिए एक प्रभावी उपकरण बन सके। राष्ट्र की सेवा करते समय वह अपने मस्तिष्क से अपने लाभ, सम्पत्ति, सत्ता, नाम और यश प्राप्त करने के सभी विचारों को मिटा देता है।

यह पारिवारिक भाव संघ-पद्धति के सभी विविध पहलुओं में व्यक्त होता है। जो स्वयंसेवक संघ के विभिन्न शिक्षण शिविरों और सम्मेलनों में भाग लेते हैं वे कितने ही निर्धन क्यों न हों, सभी व्यय अपने ही पास से करते हैं। वे शिविर शुल्क देते हैं, अपना गणवेश मोल लेते हैं, अपने आने-जाने का किराया देते हैं, और यह प्रत्येक कार्य वे स्वावलम्बन एवं स्वार्थ त्याग की भावना से स्फूर्त होकर करते हैं।

गुरूदक्षिणा की प्राचीन परम्परा भी, जिसका संघ अनुसरण करता है, इसी भावना से युक्त है। वर्ष में एक बार गुरूपूर्णिमा के शुभ पर्व पर प्रत्येक स्वयंसेवक पवित्र गुरू भगवाध्वज का पूजन करता है और अपनी दक्षिणा समर्पित करता है। धन-संग्रह की प्रथा अथवा मासिक और वार्षिक चंदे के लिए संघ में कोई स्थान नहीं है। दक्षिणा अर्पण पूजन के भाव से किया जाता है। स्वयंसेवक अपने नाम व दक्षिणा को जनता में प्रकाशित भी नहीं करना चाहता। स्वयंसेवक वास्तव में इसे त्याग नहीं समझता, वरन् इसे एक ऐसा स्वाभाविक कर्त्तव्य मानता है, जिसके प्रतिदान में किसी चीज की—नाम अथवा ख्याति की भी—आशा करने का उसका अधिकार नहीं है। उन्हें तुकाराम के इस वचन की भावना के अनुसार प्रशिक्षित किया जाता है—

आता उरलो उपकारा पुरता

(अब मेरा अस्तित्व केवल दूसरों की सेवा के लिए है) एक उत्स्फूर्त कवि के शब्द—

तेरा वैभव अमर रहे मां हम दिन चार रहें न रहें

—सदैव स्वयंसेवक की आत्मा को उत्साहित करते रहते हैं।

किन्तु दुर्भाग्य से आज अपने देश का सामान्य वातावरण एक आश्चर्यजनक विपरीतता उपस्थित कर रहा है। अपने त्याग की हुण्डियां भुनाने तथा अपनी सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप कुछ मांगने की भावना का सभी जगह जोर है। ईश्वर की पूजा में भी नाम और यश की लालसा दिखाई देती है। हम मंदिरों में दानदाताओं के नामांकित पत्थरों और पट्टियों को देखते हैं। एक बार मेरी यात्रा में एक स्वामी जी मेरे साथ थे, उनके पात्र पर मैंने

नाम खुदा हुआ देखा। नाम न तो उनका था और न उस आश्रम का ही था जहां के वह थे। जब मैंने इसका कारण पूछा तो स्वामी जी ने कहा कि यह उस व्यक्ति का नाम है, जिसने बहुत बड़ी संख्या में इस प्रकार के पात्र आश्रम को भेंट किए थे। क्या हम इसको दान कह सकते हैं? कुछ प्रतिदान—नाम भी—प्राप्त करने के उद्देश्य से किया हुआ कोई दान, दान नहीं वरन् सौदा होता है। संघ में इस प्रकार का लाभ परायण भाव कभी विकसित नहीं होने दिया जाता। हम वास्तविक भक्ति से की गई दक्षिणा को वैसे ही उदात्ततम एवं उच्चतम मानते हैं, जैसा कि ईसा ने असीम सम्पत्तिवान व्यक्तियों द्वारा मंदिर को दान दिए गए कोषों की अपेक्षा निर्धन वृद्धा के छोटे से सिक्के को उदारतर दान माना था।

विभिन्न पद्धतियां एवं परिपाटियां जो संघ में विकसित हुई हैं वे सभी इसी आत्मसमर्पण की भावना से स्फूर्त हैं तथा एक घंटे की शाखा उस भावना का उद्गम स्रोत है।

एक बार एक प्रौढ़ महिला अपनी गृहस्थी के विविध कार्यों को अपने बायें हाथ से ही कर रही थी। मैंने उससे इसका कारण पूछा। उसने कहा कि वह अपने दाहिने हाथ को एक वर्ष के लिए परमात्मा को दे चुकी है इसलिए उसका उपयोग उसी की पूजा में होगा। यद्यपि यह एक साधारण सी प्रतिज्ञा है; किन्तु इसके द्वारा दिन के विविध विभ्रान्तर क्रियाकलापों के बीच कितनी सुंदरता से ईश्वर भक्ति की भावना प्रतीकात्मक रूप से निरूपित हुई है। वस्तुतः शाखा की मनुष्य-निर्माण की प्रक्रिया के पीछे भी, जिसके अंतर्गत "एक घंटा समर्पण" आवश्यक होता है, यही भाव है। इसके द्वारा उसमें भाग लेने वाले मनुष्य संस्कारित होकर जीवनपर्यन्त समर्पित भाव से उद्यम के लिए तैयार होते हैं।

लोग प्रायः इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि क्या यह एक घंटे का छोटा सा कार्यक्रम समाज में एक ऐसा अति श्रेष्ठ एवं सशक्त परिवर्तन लाने में समर्थ होगा जिसकी संघ ने कल्पना की है? यह एक अचूक अनुभव की बात है कि लोग जीवन्त उदाहरणों का अनुसरण किया करते हैं, शुष्क आदर्शों का नहीं। और यह एक घंटे का प्रशिक्षण राष्ट्रीय चारित्र्य की ऐसी जीवन्त प्रतिमाओं को आकार देता है कि जिनमें से एक अबाध शक्ति विकीर्ण होती है जो लोगों को उनके मार्ग पर खींच लाती है।

श्री रामकृष्ण के जीवन की एक बोधकारी घटना का उदाहरण लीजिए। एक बार एक महिला अपने बच्चे को उनके पास लाई और उनसे प्रार्थना की कि इसे मिठाई खाने की आदत पड़ गई है, जिससे इसका स्वास्थ्य बिगड़ रहा है, अतः आप ऐसा कुछ उपाय कर दें कि यह मिठाई खाना छोड़ दे। श्री रामकृष्ण ने उनसे एक सप्ताह के बाद आने को कहा। वह आई किन्तु उन्होंने पुनः कुछ दिनों के पश्चात् आने को कहा। जब वह फिर आई तो श्री रामकृष्ण ने बच्चे को अपने निकट बुलाया और उससे कहा "प्यारे बच्चे, अधिक मिठाई खाना अच्छा नहीं, इसे छोड़ दो।" बच्चे ने तुरंत उसे छोड़ने का वचन दिया। एक शिष्य ने

जो इस बात को ध्यानपूर्वक देख रहा था, श्री रामकृष्ण से पूछा–"महाराज! आपने उस बच्चे से मिठाई न खाने के लिए पहले ही दिन क्यों नहीं कह दिया। उस महिला को इतनी दूर से तीन बार बुलाने की क्या आवश्यकता थी?" श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया "मुझमें भी मिठाई अधिक खाने की दुर्बलता है, फिर मैं किस प्रकार उस बच्चे को उस दुर्बलता को त्यागने के लिए कह सकता था? यदि मैं उसे उपदेश भी देता तो मेरे शब्दों का उस बच्चे पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए मैंने उस महिला को पुनः आने के लिए कहा। किन्तु उस कालावधि में मैं इस बात पर ध्यान नहीं दे पाया, अतः मुझे उसे एक बार पुनः बुलाना पड़ा। पश्चात् मैंने मिठाई की अनुरक्ति पूर्ण रूप से त्याग दी और बच्चे को उपदेश देने की योग्यता अपने में अनुभव करने लगा।"

मानवीय अनुभव का एक और भी तथ्य है कि शक्ति की सभी ओजस्वी अभिव्यक्तियां एवं प्रयास अपरिहार्यतः अनेक छोटे-छोटे प्रयासों से मिलकर बनते हैं।

हमारे एक मित्र ने तीर्थ यात्रा से लौटने पर अपना एक अनुभव बताया था। वह एक मुसलमान पीर की दरगाह पर भी गए थे। मौलवी वहां जाने वालों से निकट पड़े हुए एक बड़े पत्थर को उठाने के लिए कहता था। जब वे प्रयत्न करके असफल हो जाते थे तो वह सबको एक साथ अपने हाथ उस पत्थर में लगाने को कहता था और "पीर साहब की फतेह" की ध्वनि के साथ उसे उठाने की आज्ञा देता था। पत्थर उठ जाता था। यह उस पीर का चमत्कार माना जाता था। उस चमत्कार को सुनने के बाद मैंने कुछ स्वयंसेवकों को बुलाया और उनसे एक उससे भी बड़े पत्थर में एक-एक उंगली लगाने के लिए कहा, और "जय" की ध्वनि के साथ उसे उठाने को कहा। कितना आश्चर्य कि वह पत्थर उस पीर के पत्थर से भी अधिक ऊंचाई तक उठ गया और पीर साहब की चमत्कारिक शक्ति का भेद खुल गया। उस शक्ति का रहस्य यह है कि छोटे-छोटे प्रयासों के टुकड़े एक समन्वित रूप से प्रयुक्त हो गए और तब "जय" की ध्वनि भी उसके लिए एक सहायता बन गई। इस प्रकार लाखों मनुष्य समर्पण एवं अनुशासित कर्म की भावना से एक-एक घंटा प्रतिदिन देते हुए कठिनतम कार्यों को पूर्ण कर सकते हैं तथा हमारे राष्ट्र जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकते हैं।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या करोड़ों व्यक्तियों को संघ-स्थान पर लाकर खड़ा करना और उनसे शाखा के प्रतिदिन के कार्यक्रमों को कराना संभव है? और संघ तो केवल पुरुषों तक ही सीमित है, आधा समाज अर्थात् स्त्रियां दैनिक शाखा पर नहीं आ सकतीं। फिर वृद्ध और बच्चों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग निकल जाता है तथा ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो भांति-भांति के अपरिहार्य कारणों से शाखा की शिक्षा के नियमित कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाते। तो हम व्यक्ति-निर्माण की इस दैनिक प्रक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण समाज को पुनः संगठित करने में कैसे सफल होंगे?

एक घंटे की शाखा से अलग, कार्य के इस प्रमुख अंग को भी पूरा करने के लिए स्वयंसेवक अपने समाज-बंधुओं से मिलते हैं, उनके सुख-दुख में हिस्सा बंटाते हैं और अपने निर्मल चरित्र, सर्वव्यापी प्रेम की भावना एवं अनुशासित और समर्पित सेवा के द्वारा उनके हृदयों में विश्वास जागृत करते हैं। इस प्रकार स्वयंसेवकों, उनसे सहानुभूति रखने वालों तथा मित्रों के घरों में सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष संघ-भावना से आपूर्ण हो जाते हैं। शाखा उस क्षेत्र के लोगों के सामूहिक प्रेम एवं इच्छा-शक्ति की प्रतीक और अग्रणी हो जाती है। इस प्रकार सतत् एवं शान्तिपूर्वक ये प्रतिदिन के और शेष दिन भर के हृदय से हृदय के सम्पर्क, समाज के सभी वर्गों को आवेष्टित कर लेते हैं। वे लोग भी जो शाखा के प्रशिक्षण में प्रतिदिन भाग नहीं ले पाते, राष्ट्र के लक्ष्य के प्रति पारस्परिक प्रेम और श्रद्धा के अटूट बंधन में बंध जाते हैं।

इस प्रकार असीम धैर्य एवं सतत् उद्योग के साथ स्वयंसेवक छोटे-छोटे ग्रामों और नगरों में पहुंचते हैं, और प्रत्येक हृदय को स्पर्श करते हैं। सभी स्थानों पर राष्ट्रीय एकता का वही पवित्र वातावरण वे अपने साथ ले जाते हैं। भाषा, प्रांत, भोजन और वस्त्र के भासमान भेद से उत्पन्न विघटन उनकी प्रभावी उपस्थिति के सामने लुप्त हो जाते हैं। ग्रामों में और सुदूर वनों के निवासियों में भी वे उसी भाषा में बात करते हैं, जिसे वे लोग समझते हैं। वे राम और सीता की कहानियां तथा हमारे महान् सन्तों एवं वीरों के आख्यान सुनाते हैं। सम्पूर्ण देश में फैले हुए पवित्र स्थानों का वर्णन करके उनके मस्तिष्कों में अपनी मातृभूमि की पवित्र प्रतिमा को अंकित करते हैं, धार्मिक और सामाजिक उत्सवों के द्वारा एक व्यापक राष्ट्रीय भ्रातृत्व भावना का उन्हें बोध कराते हैं और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय शक्ति के एक अक्षय प्रवाह के रूप में परिणत कर देते हैं।

स्वयंसेवक, मण्डल, जिला, प्रांत और अखिल भारतीय स्तरों पर भी मिला करते हैं। शिक्षण-शिविर चलाये जाते हैं, जो राष्ट्रीय एकता की व्यावहारिक प्रक्रिया है। इस कल्पना से स्फूर्त एवं संघ-कार्य की पद्धति में प्रशिक्षित स्वयंसेवक इस राष्ट्रधर्म की ज्योति को देश के कोने-कोने में ले जाते हैं। इस प्रकार के जीवनों को देखकर सामान्य लोग भी राष्ट्र के हित में त्याग करने और कष्ट सहने के लिए प्रेरणा प्राप्त करते हैं। वैभवशाली और निर्धन सभी लोग स्वेच्छा से उनके पद्चिन्हों पर चलने के लिए खिचे चले आते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्गठन के लिए सम्पूर्ण समाज की अन्तर्निहित शक्तियां उन्मुक्त हो जाती हैं और पुनरुत्थानशील तथा पुनर्गठित राष्ट्रीय जीवन का स्वप्न सजीव हो उठता है।

इस स्थिति का निर्माण होने पर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्र स्वयंसेवकों द्वारा स्थापित परम्परा चलाने के स्वचालित केंद्र बन जायेंगे। पीढ़ी के बाद पीढ़ी पर संस्कार डालने की यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी और राष्ट्रीय पुनः संगठन तथा पुनरुत्थान के लिए अविरल जीवन-स्रोत का काम देगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे राष्ट्रजीवन में संघ ने जिस प्रक्रिया को चालू किया है वह अनन्त और सर्वग्राही है। संगठित राष्ट्र जीवन की

स्वाभाविक दशा का स्वप्न साकार होने पर उसकी सभी संस्थाएं और परंपराएं बुद्धिमत्ता एवं तत्परता के साथ राष्ट्रीय संस्कारों के जीवन्त बीजों का सिंचन करेंगी। उस समय संघ का अलग संस्थागत नाम और स्वरूप बनाये रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। तब संघ राष्ट्र में उसी प्रकार लीन हो जायेगा जिस प्रकार गंगा समुद्र में लीन हो जाती है और आने वाले काल में प्रेरणादायी राष्ट्रीय भावना के रूप में जीवित रहेगा।

(विचार नवनीत, पृ० ३३९-३५७)

११

अमोघ कार्यप्रणाली

विगत चालीस वर्षों का संघ-वृद्धि का इतिहास और इस अवधि में हुए संघ-कार्य के हितकारी परिणाम इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि संघ के महान् संस्थापक की दृष्टि अत्यंत व्यावहारिक थी। जिस कार्य-प्रणाली का विकास उन्होंने किया उसने अपनी श्रेष्ठता पूर्णतया सिद्ध कर दी है। यह तथ्य अब भली-भांति प्रतिष्ठापित हो चुका है और संघ से असम्बंधित लोग भी इसे स्वीकार करते हैं कि संघ की कार्यप्रणाली एक सफल कार्यप्रणाली है।

एक बार पंजाब में एक बड़े सैनिक अधिकारी मुझसे मिले। उन्होंने प्रश्न किया, ''संघ में कौन-सी विशेष शिक्षा मिलती है?'' मैंने उत्तर दिया, ''केवल खेलने और गीत गाने की।'' उन्होंने पुनः पूछा, ''यह कैसे हो सकता है? आप लोग इसके अतिरिक्त भी कुछ अवश्य उन्हें सिखाते होंगे। मैं व्यक्तिगत रीति से भारत-विभाजन के विकट दिनों की पंजाब की अनेक घटनाएं जानता हूं जबकि संघ के अनेक स्वयंसेवकों ने वीरता और बलिदान में हमारे प्रशिक्षित सैनिकों को मात कर दिया। मुझे यह भी विदित है कि उनमें से अनेक ने लोगों की रक्षा में हंसते-हंसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। इसी से मुझे यह जानने की उत्सुकता है कि वह कौन सी विशेष शिक्षा है जिसके कारण आपके लोग ऐसे सूरमा बन जाते हैं।'' मैंने उन्हें अपनी संघ-शाखा के सहज-सरल कार्यक्रम की रूपरेखा समझाई और कहा कि हमारी समस्त शिक्षा ''कबड्डी''—इस एक शब्द से व्यक्त होती है। मेरी इस बात को सुनकर वे अत्यंत अविश्वास-युक्त दृष्टि से मेरा मुंह जोहने लगे।

वास्तव में अपने संघ-स्थान की पावन धूलि में ही वह शक्ति निहित है, जहां महिमामयी मातृभूमि के पुत्र प्रचुर संख्या में एकत्रित होकर खेलते, अपनी देवीस्वरूपा

भारतमाता का यशोगान करते और उसकी गौरव-वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं। यह वही भाव है जिसके कारण वेलिंगटन के ड्यूक के मुख से यह प्रसिद्ध उद्गार निकला था कि, "वाटरलू का युद्ध एटन और हैरो के मैदानों में जीता गया था।"

आजकल विशेष रीति से जब विघटनकारी शक्तियां हमारे राष्ट्र को छिन्न-विच्छिन्न करने को उद्यत हैं, एकमात्र संघ की शाखा द्वारा ही सम्पूर्ण समाज को एकत्र आने और अक्षुण राष्ट्रीय एकता के संजीवन स्रोत का रसपान करने का उच्च स्वर से आह्वान मिलता है। संघ के प्रारंभिक दिनों की, जब संघ के पूजनीय जन्मदाता जीवित थे, एक घटना है, जिससे संघ की कार्यपद्धति की सक्षमता का अनुमान लग सकता है। सन् १९३४ ई. में वर्धा में संघ शिविर लगा, जिसमें एक सहस्र से अधिक स्वयंसेवक बैरकों और तम्बुओं में आवास कर रहे थे। निकट ही गांधी जी का आश्रम था। शिविर में इन नवयुवकों की चहल-पहल देखकर उन्होंने शिविर का अवलोकन करने की इच्छा प्रगट की। तदनुसार वर्धा के संघचालक जी, जो पहले प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री भी रह चुके थे, गांधीजी को आदरपूर्वक शिविर में लाये। गांधीजी ने शिविर में आकर वहां की आवास एवं भोजनादिक संबंधी सम्पूर्ण व्यवस्था का अवलोकन किया और पूछा "इन (शिविर में भाग लेने वालों) में हरिजन कितने हैं?" संघचालक जी ने कहा, "मुझे इसकी जानकारी नहीं, कारण मैंने इस संबंध में कभी पूछताछ नहीं की।" इस पर गांधी जी ने कहा, "तो कृपा कर अब पूछकर मुझे बतायें।" संघचालक जी बोले, "यह मुझसे न होगा। हम संघ के लोगों के लिए ये सब हिन्दू हैं यही पर्याप्त है।" गांधी जी ने कहा, "तो फिर मैं स्वयं पूछ लूं?" संघचालक जी ने उत्तर दिया, "जैसी आपकी इच्छा।" सभी स्वयंसेवकों से प्रत्यक्ष एवं अत्यंत आग्रहपूर्वक बार-बार पूछने पर गांधी जी को विदित हुआ कि शिविर में हरिजनों सहित सभी जातियों के लोग थे और वे एक दूसरे की जाति के संबंध में बिना किसी प्रकार का विचार किये संघ-शिविर के सभी कार्यक्रमों में—खाने-पीने से लेकर खेलने-कूदने तक—आनन्द और समरसतापूर्वक साथ-साथ भाग ले रहे थे। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इसके पश्चात् डॉक्टरजी ने महात्मा जी से भेंट की और संघ की कार्यप्रणाली को स्पष्ट करते हुए उन्हें बताया कि संघ जो सम्पूर्ण देश में एकता और संगठन की स्थापना करने में सफल हो रहा है उसका रहस्य यह है कि हम समाज में अन्तर्निहित एकता के तत्वों को विशेष महत्व देते हैं और विभेदों की उपेक्षा करते हैं।

ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब स्वयंसेवकों के अनुशासन एवं समर्पण भाव की परीक्षा हुई है और शाखा की व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया कसौटी पर कसी गई है। और ऐसी प्रत्येक परीक्षा की आंच में तपकर स्वयंसेवकत्व रूपी कुंदन और अधिक निखरा और चमका है। सन् १९४८ ई. में जब सरकार ने न्याय के सभी सिद्धांतों को तिलांजलि देकर संघ पर प्रतिबंध लगा दिया तो संघ को राष्ट्रजीवन में न्याय और सत्य के पक्ष का मंडन

करने के हेतु देशव्यापी आंदोलन करना पड़ा। सरकार के समस्त प्रयत्नों के बावजूद इस आंदोलन को दबाया नहीं जा सका। इस आंदोलन की पूर्ण सफलता से यह प्रमाणित हो गया कि संघ की कार्यप्रणाली में राष्ट्र-हितार्थ असीम बलिदान, शौर्य तथा अनुशासन के संस्कार करने की अद्वितीय शक्ति है।

अपने चारों ओर हम जो अन्य कार्य-पद्धतियां देखते हैं, निश्चय ही वे शोर मचाने में विश्वास करती हैं, किन्तु उस शोर के पीछे, उसके अंदर क्या है यह विचारणीय प्रश्न है। निःसंदेह ढोल बहुत जोर का शब्द करता है, लेकिन अंदर उसमें पोल होती है। इसी से दूसरे लोगों के द्वारा जोर-जोर से ढोल पीटने तथा डिमडिम बजाने से संघ का स्वयंसेवक रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होता। संघ के पास ऐसी कार्यपद्धति है जिसने पुनरुत्थानशील एवं पुनः संगठित राष्ट्रजीवन के स्वप्न को साकार करने में अपनी उपादेयता सब दृष्टियों से प्रमाणित कर दी है।

हम सब यह जानते हैं कि सभी महान् व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं होते और सभी प्रसिद्ध व्यक्ति महान् नहीं होते। ऐसे ही महान् किन्तु अप्रसिद्ध, विशेष व्यक्तित्व संपन्न पुरुष के जीवन का एक दृष्टान्त है। एक बार किसी यूरोपियन ने उनसे कहा, "आप हिन्दू लोगों की कैसी अजीब पौशाक है। आप लोग धोती पहनते हैं। जरा लड़ाई करनी पड़े तो आप लोग उसमें उलझकर गिरे बिना न रहें।" उन महापुरुष ने तत्क्षण उत्तर दिया, "आपसे यह किसने कहा कि हम सदा युद्ध के लिए समुद्यत रहते हैं? हम हिन्दू लोग सुसंस्कृत मनुष्य हैं और हम विश्व शांति का विचार करते हैं। ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः—यह हमारा आदर्श वाक्य है। तदनुरूप ही हमारा आचार और वेशभूषा है। आप यूरोपीय जनों का चित्त सदा विक्षुब्ध रहता है और आप लोग सदा कट्टर शत्रु के रूप में एक दूसरे का गला काटने को तैयार रहते हैं। इसलिए आप ऐसी वेशभूषा धारण करते हैं मानो सदैव ही रणक्षेत्र में हों। हम निर्भय तथा शान्तिप्रिय हैं और तदनुकूल वेशभूषा धारण करते हैं। हम युद्ध का बाना तभी धारण करते हैं जब हमें कोई उसके लिए ललकारता है।" कितना उचित उत्तर था यह।

हमारी कार्य-विधि भी इसी प्रकार हमारे द्वारा अंगीकृत विशिष्ट लक्ष्य के नितान्त अनुकूल है। बहुधा हमारी शाखा का अत्यंत साधारण और सज्जा-शून्य खुरदरा स्वरूप अनेक अत्यंत बुद्धि-संपन्न व्यक्तियों को भी चकरा देता है और उनके मन में शंका उठने लगती है कि क्या शाखा कार्यक्रम द्वारा ऐसे उदात्त लक्ष्य की प्राप्ति संभव है? किन्तु मान लो कि कोई माली बाग में आम के फलों का उत्पादन करना चाहता है तो क्या वह अधिक सुस्वादु फलों की प्राप्ति के हेतु आम के बीज को शहद से भरे और इत्र से सुवासित गमले में बोयेगा? इसके विपरीत, क्या वह आम के बीज को खाद से युक्त मिट्टी में नहीं बोयेगा? यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि बहिरंग का खुरदरापन, शक्ति और चारित्र्य के संस्कार डालने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

अपनी शाखा के दैनंदिन कार्यक्रमों के बाहृय रूप को देखने से अपने समाज में, विशेषतया वयस्क प्रौढ़ वर्ग में यह भ्रांत धारणा निर्मित हुई है कि हमारे नित्य के खेल-कूद, व्यायाम, गीत एवं प्रार्थना इत्यादि के कार्यक्रम केवल बालों और तरुणों के लिए हैं तथा प्रौढ़ों का काम केवल सहानुभूति-प्रदर्शन करने एवं अल्पवयस्कों को आशीर्वाद, प्रोत्साहन तथा सहायता देने का ही है। यह तो अपने संगठन की मूल भावना को ही न समझने जैसा होगा। जब हम कहते हैं कि हमारा कार्य समाज के संगठन का है तो हमारा तात्पर्य समाज की वर्तमान पीढ़ी से ही होता है। और वर्तमान समाज की पीढ़ी से हमारा तात्पर्य समाज के प्रौढ़ वर्ग–गृहस्थ जनों से होता है। बालकों को "वर्तमान समाज" कोई नहीं कहता। यदि कुछ नंग-धड़ंग बच्चे नगर की किसी सड़क पर खेल रहे हों तो उन्हें देखकर क्या कोई यह कहेगा कि अमुक नगर के नागरिक सड़क पर नंग-धड़ंग होकर खेलते रहते हैं? अन्ततोगत्वा बालक कल का समाज, भावी पीढ़ी, मात्र है। अतः समाज के संगठन का कार्य पूर्णतया वर्तमान पीढ़ी अर्थात् प्रौढ़ वर्ग पर ही आ पड़ता है। और उन्हीं को राष्ट्र के पुनः संगठन के इस महान् व्रत की पूर्ति के लिए आगे बढ़कर काम करना होगा।

जब यह बात प्रौढ़ों के सम्मुख रखी जाती है तो वह दो कारणों से अपनी असमर्थता प्रगट करते हैं। पहला कारण वे समयाभाव बताते हैं। किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि क्षमतावान् व्यस्त व्यक्ति ही सार्वजनिक क्षेत्र में अतिरिक्त कार्य करने के लिए समय निकाल सकता है। एक बार वह इसको अपना परमावश्यक कर्त्तव्य समझने लगे, फिर तो वह स्वयं ही अपने शेष कार्यों का समायोजन इनके साथ कर लेगा और इस कार्य के लिए कुछ समय निकाल लेगा। आलसी और निकम्मा मनुष्य ही समय की कमी की दुहाई देता है। इस बात में यद्यपि विरोधाभास जान पड़ता है, किन्तु यथार्थता यही है।

दूसरा कारण यह है कि वे यह सोचते हैं कि इतने संभ्रांत और वयस्क व्यक्ति होकर उन्हें हाफ-पैंट पहनकर निरे बालकों के समान इधर-उधर घूमना और शारीरिक कार्यक्रमों में भाग लेना शोभा नहीं देता। यह उन्हें अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल जान पड़ता है। किन्तु क्या यह मनोवृत्ति उचित है? यदि सचमुच ही समाज में हमारी मान-प्रतिष्ठा है तो वह हमारे आन्तरिक गुणों एवं योग्यताओं के कारण है अथवा वस्त्र-भूषा के कारण? यदि हम यह सोचते हों कि प्रतिष्ठा का कारण वस्त्र-सज्जा है, तब तो इसका समस्त श्रेय दर्जी या धोबी को मिलना चाहिए। साथ ही, यदि हममें आन्तरिक गुणों या श्रेष्ठता का लेश भी नहीं है, तो बाहृय सज्जा इस अभाव की पूर्ति में क्वचित् ही सहायक हो सकती है।

इस संबंध में हमें एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर चलना चाहिए। भगवद्गीता में कहा गया है–

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।

(श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य व्यक्ति भी वैसा ही करते हैं।)

जब वास्तविक श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा से युक्त समाज के प्रौढ़वर्ग के लोग किसी श्रेष्ठ आदर्श के अनुरूप आचरण करते हैं, तो वह समाज के लोगों के लिए भी सम्मान्य और स्वीकार्य हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकार स्वयं उन व्यक्तियों की भी गौरव वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, जब महात्मा गांधी और पण्डित मदनमोहन मालवीय जी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंग्लैंड गए थे तो स्वदेशी वेशभूषा में ही गए थे। इससे उनकी प्रतिष्ठा को कोई आंच नहीं आई, उल्टे उनके प्रति लोगों का सम्मान और बढ़ गया।

आज वयस्क पीढ़ी के कंधों पर विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ा है कि विघटन और भ्रष्टता के विषैले कीटाणुओं से भरे हुए वर्तमान विषाक्त वायुमण्डल से अपनी खिलती हुई नयी युवा पीढ़ी को बचाएं, उसकी रक्षा करें ताकि राष्ट्र को उसके स्वाभाविक गौरव और महानता के उच्चतम शिखर तक पहुंचाने में समर्थ, उदात्त और पौरुषयुक्त मनुष्यत्व के रूप में वह फले-फूले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें राष्ट्र-संगठन के लक्ष्य को, जिसे करने में संघ अनेक वर्षों से सफलतापूर्वक जुटा हुआ है, अपने दैनिक जीवन में जीवन्त उपकरण के रूप में स्वयं के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करना होगा।

एक बार स्वामी विवेकानन्द की मनोनीत शिष्या भगिनी निवेदिता ने कहा था, ''यदि सभी हिन्दू मिलकर प्रतिदिन प्रातः-सायं केवल दस मिनट सामूहिक प्रार्थना किया करें तो केवल इतना करने से हिन्दू समाज अपराजेय बन जायगा।'' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दैनंदिन शाखा के द्वारा उस समर्पित महान् आत्मा के उत्कट भावपूर्ण स्वप्न के साकार होने के पूर्वलक्षण प्रगट होने लगे हैं।

अपने पुनीत राष्ट्र के चरणों में समर्पित अनुशासित, राष्ट्रव्यापी, सूत्रबद्ध, भ्रातृभाव के पुनर्निर्माण के सतत्, मौन, अथक तथा नित्य चलने वाले कार्य अर्थात् शाखा के परम आह्वान को हम सब सुनें और तदर्थ उठकर खड़े हों यही आज की आवश्यकता है।

(विचार नवनीत, पृ० ३५९-३६४)

१२

समाज की मंगलशक्ति

समाज-संगठन के अपने कार्य का आधार मातृभूमि की भक्ति है। समाज को संगठित करने का संकल्प धारण करके हम चले हैं। संगठितता उत्पन्न करने के लिए हमने अपनी शाखा की पद्धति स्वीकार की है। शाखा की रचना की यह महत्ता है। इसके बिना संगठितता उत्पन्न नहीं होती। शाखा ही नींव है। यह नींव जितनी पक्की होगी, कार्यशील होगी, उतना ही ऊपर का निर्माण अच्छा रहेगा। हम लोग यदि नींव की ओर दुर्लक्ष्य करके संघ-कार्य करने की इच्छा करते हैं, तो यह कदापि संभव नहीं होगा।

शाखा-कार्य में गटनायक के कार्य का सबसे अधिक महत्व है। गटनायक का कम से कम काम है गट के स्वयंसेवकों से मित्रता के संबंध रखना, उनकी हर स्थिति में सहायता करना, उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करना, संघ कार्य के लिए योग्य भावना जागृत करना, उसके आधार पर उन्हें दिन-प्रतिदिन शाखा में उपस्थित करना तथा ऐसे अति शुद्ध, पवित्र, स्नेहपूर्ण संबंधों तथा अपने गट के स्वयंसेवकों के भी वैसे ही व्यवहारों के माध्यम से समाज के अन्यान्य लोगों से परिचय प्राप्त करते हुए उनमें संघ के प्रति आकर्षण बढ़ाने का प्रयत्न कर शाखा की वृद्धि करते रहना। ऐसे गटनायक, शाखा में तैयार हों इसकी जिम्मेदारी शाखा के शिक्षक, मुख्य शिक्षक तथा ऊपर के जितने बड़े अधिकारी हैं, उन सबकी है।

शिक्षक याने क्या? गण में जाकर केवल खड़े हो जाओ, दक्ष-आरम की आज्ञा दो, कोई भी दो-चार कार्यक्रम कराओ और चले जाओ। गण शिक्षक का केवल इतना ही कार्य नहीं है। क्योंकि हम कोई वेतनभोगी शिक्षक नहीं है। हम संघ-कार्य की शिक्षा देने वाले याने सम्पूर्ण गण को संघ का उत्साहपूर्ण, समझदार, कर्त्तव्यवान, अविभाज्य अंग बनाकर रखने वाले कार्यकर्ता हैं। इसे समझकर, हमें नींव की याने गट और गटनायक की स्थिति

मजबूत बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए।

शाखा में भिन्न-भिन्न कार्यक्रम भी अच्छी प्रकार से होने चाहिएं। कई वर्षों से मैं इसका आग्रह कर रहा हूं, क्योंकि ये सब प्रकार से अपने लिए लाभदायक हैं। सूर्य नमस्कार, व्यायामयोग, प्राथमिक ही क्यों न हों परंतु दण्ड और समता इस प्रकार कार्यक्रमों की रचना का आग्रह मैं करता हूं। अन्य कार्यक्रमों की पूछताछ नहीं करता। क्योंकि खड्ग, छूरिका, योगचाप आदि उपकरण शाखा से देने चाहिएं। प्रत्येक स्वयंसेवक को अपने पास उन्हें रखने की आवश्यकता नहीं। कई शाखाएं ऐसी होंगी, जहां ये उपकरण नहीं हैं। परंतु दण्ड प्रत्येक स्वयंसेवक को रखना चाहिए। यह बहुत पुराना नियम है। इस नियम का अनादर नहीं करना चाहिए। सूर्य नमस्कार, व्यायामयोग और समता करने के लिए शरीर ही पर्याप्त है। इसलिए अपना शरीर और उसके साथ अपना दण्ड इतने से उपरोक्त चारों कार्यक्रम हो सकते हैं।

इन कार्यक्रमों के लिए शाखा में एक घंटे का समय रहता है। इसलिए मेरे मन में ऐसा कहने का विचार आया कि इस एक घंटे का ठीक विभाजन करें। कुछ समय खेल तो चाहिए। लोगों की इसमें रुचि है। उत्साह भी उत्पन्न होता है। फिर प्रतिदिन कम से कम १३ सूर्य नमस्कार के लिए समय रखें। इसके बाद सप्ताह का विचार करें तो व्यायामयोग तीन दिन और दण्ड तीन दिन करें। इस प्रकार छः दिन का हिसाब हो जाता है। सातवें दिन समता का खूब अच्छा रगड़कर अभ्यास नियमपूर्वक किया, तो केवल खेलने वाले स्वयंसेवकों का अड्डा जैसी शाखा की स्थिति दिखाई नहीं पड़ेगी। शाखा समाज की मंगल शक्ति है, ऐसी स्थिति उभरकर सामने आयेगी।

शाखा विकिर होने के बाद, मैं समझता हूं कि तुरंत घर भागने की जल्दी नहीं करनी चाहिए। छोटे-छोटे समूह बनाकर प्रत्येक स्वयंसेवक को प्रार्थना का अभ्यास कराना चाहिए। इसमें समाधान नहीं मानना चाहिए कि एक-दो स्वयंसेवक प्रार्थना जानने वाले हैं।

इस प्रकार शाखा में पौरुषयुक्त भावना जगाने की ओर ध्यान देना चाहिए। आजकल अपने शरीर की साज-सज्जा करने का आकर्षण उत्पन्न हुआ दिखाई देता है। बनाव-सिंगार में ही युवक मग्न रहते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति से पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। इसलिए युवकों में पौरुषयुक्त भाव भरने के लिए इन कार्यक्रमों का दृढ़ता से अभ्यास होना चाहिए।

शाखा के बौद्धिक कार्यक्रमों में महापुरुषों की जीवनगाथाएं बताई जाती हैं अथवा नहीं? ये कथाएं बताने का उद्देश्य क्या है? महापुरुषों के गुणों के संस्कार स्वयंसेवकों पर करना ही इसका उद्देश्य है। कभी-कभी इन महत्वपूर्ण बातों का हमें विस्मरण हो जाता है और महापुरुषों की बाहरी तौर पर दिखनेवाली विशेषताओं पर ही हम जोर देने लगते हैं।

बाह्य विशेषताओं की नकल करते रहने से कोई लाभ नहीं। स्वयंसेवकों के हृदयों पर महापुरुषों के आंतरिक गुण अंकित करना आवश्यक है। महापुरुषों की कथाएं, प्रेरणा स्रोत बननी चाहिएं।

कथाओं से स्वयंसेवक क्या सीखते हैं? कथा-कार्यक्रमों के माध्यम से गुणों को उभारने का प्रयत्न होता है, या कथाओं के विवरणात्मक हिस्से की ओर भी अधिक ध्यान दिया जाता है? इसकी ओर भी ध्यान रहना जरूरी है। मान लीजिए हमने बताया कि राणा प्रताप के हाथ पर अनेक घाव लगे थे तथा उनका भाला बहुत लंबा था। तो क्या इन्हीं बातों से हम उनकी महानता दर्शाना चाहते हैं? यह सही है कि ऐसी बातों से भी कुछ महानता विदित होती है। परंतु कथाओं के केवल वर्णनात्मक अंशों पर ही ध्यान केन्द्रित न करते हुए, उनके प्रेरणादायी, प्रखर ध्येयनिष्ठा, शौर्य, साहस, पराक्रम, राष्ट्राभिमान आदि मार्मिक, मार्गदर्शक एवं व्यावहारिक अंशों की ओर हमें अधिक ध्यान देना चाहिए।

महापुरुषों का इतिहास या उनकी कथाएं बताते समय क्या हम यह दिशा भी देते हैं कि उनके जीवन या जीवन-प्रसंगों से क्या सीखा जा सकता है? हम जिस वातावरण में रहते हैं उसी संदर्भ में हमें सभी बातें सीखनी चाहिए। अन्यथा वे कथाएं या प्रसंग, हमें निर्जीव या हंसी का विषय बना देंगी। एक बार मुझे अपने एक कार्यकर्ता के बारे में ऐसा बताया गया कि उसने शिवाजी और तानाजी के विषय में पढ़ने के बाद तानाजी बनना चाहा। इसलिए कहीं से उसने तानाजी जैसी वेशभूषा और बनावटी तलवार प्राप्त कर ली। फिर तांगे का एक घोड़ा किराये पर ले लिया और एक छोटी सी शाखा में संदेश भेज दिया कि वह तानाजी की तरह आ रहा है। यह बात उस गांव के लोगों में भी फैल गई। उन्हें बड़ी उत्सुकता हुई। लोग गांव के पटेल के यहां एकत्रित हो गए। संदेश के अनुसार घोड़े पर सवार होकर, तानाजी के वेष में वह २० या २५ मील की दूरी पार कर उस गांव में पहुंचा। लोगों ने उसका सम्मान के साथ स्वागत किया। परंतु वह घोड़े पर ही बैठा रहा। गांव के मुखिया ने उसे घोड़े से उतरने के लिए कहा तो वह बोला—"कृपा कर मुझे घोड़े से नीचे उतार लें।" लोगों ने सोचा कि वह तानाजी के रूप में आया है इसलिए चाहता है कि उसे समुचित सम्मान दिया जाय। लोगों ने उसे घोड़े से उतारकर जमीन पर खड़ा कर दिया। किन्तु दोनों पैर फैलाए वह ठीक उसी तरह खड़ा रहा जैसा कि वह घोड़े पर था। उसकी हालत देखते ही गांव का मुखिया सब कुछ समझ गया। अतः एकत्रित लोगों को उसने घर जाने के लिए कहा और बाद में इन महाशय को उठाकर भीतर पहुंचाया। उसने घुड़सवारी कभी नहीं की थी, इसलिए दोनों पैर अकड़ गए थे। वह चल नहीं सकता था। पंद्रह-बीस दिनों तक तेल मालिश-सिकाई करनी पड़ी। उसने शिवाजी और तानाजी से यही कुछ सीखा।

हम क्या ऐसी शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं? नहीं। जो योग्य हो, वही सीखना चाहिए। उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा, साहस, सभी प्रकार की स्थितियों का सामना करने की उनकी

बुद्धिमत्ता, धर्म और राष्ट्र की रक्षा के लिए सर्वस्व अर्पण करने की उनकी भावना जैसी महत्वपूर्ण बातों को हमें समझना है। उनके अच्छे और महान् गुणों को ग्रहण करना है, न कि उनकी बाहय वेशभूषा जैसी विशेषताओं को। परिस्थितिजन्य बातों को हम ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि परिस्थितियां तो बदल जाती हैं। समाज के लिए सदैव मार्गदर्शक होते हैं उनके गुण। इस बात की ओर हमें स्वयंसेवकों का ध्यान आकर्षित करना चाहिए ताकि वे महापुरुषों के जीवन से तेजस्विता, धर्म के प्रति समर्पण का भाव, बुद्धिमत्ता, नीति आदि बातें सीख सकें।

यह बात नियमित चलनी चाहिए। पढ़ने, समझने, बोलने और आकर्षक ढंग से कहानियां सुनाने की आदत स्वयंसेवकों में डालनी चाहिए। क्या हम उन्हें यह सिखाते हैं? क्या हम उनसे कहते हैं कि कोई कहानी, रामायण की कोई घटना या ऐतिहासिक महापुरुषों का कोई जीवन-प्रसंग बताओ? ये कुछ ऐसी बातें हैं जो हमें करनी हैं। हम चाहते हैं कि सर्वसामान्य जीवन में आज जो कुछ चल रहा है, उससे अपना स्वयंसेवक ऊपर उठा हुआ हो तथा अपने साथ-साथ वह अन्य लोगों को भी ऊपर उठाए। सतत् प्रयत्नों के द्वारा जब तक ये सभी गुण स्वयंसेवक में विकसित नहीं किए जाते तब तक यह कैसे संभव है?

जब हम कहते हैं कि यह हमारी मातृभूमि है, हम हिन्दू हैं, यह हिन्दू राष्ट्र है, तो हमें इनका ज्ञान भी होना चाहिए। हम हिन्दू हैं, तो हममें गुण कौन से हैं? यह हिन्दू राष्ट्र है, तो विश्व में उसको किस प्रकार जीना है, विश्व के रंगमंच पर उसे कौनसा कार्य करना है, आदि बातों का भी ज्ञान आवश्यक है। इसको समझ लेने के बाद हम उसे दृढ़ करें। बिना जाने तथा बिना अपनी समस्त भावनाओं और संवेदनाओं को अपने भक्तिस्थान पर केन्द्रित किए, न हम कोई महान् कार्य कर सकेंगे और न कोई महान् प्रयत्न ही कर पाएंगे। इसीलिए मैंने आपसे ये सब प्रश्न पूछे हैं।

ऐसी एक भी शाखा न हो जहां स्वयंसेवकों को दिन-प्रतिदिन अच्छी प्रेरणा और अच्छा मार्गदर्शन मिलने का अभाव हो। ऐसी एक भी शाखा न हो, जहां औसत स्वयंसेवक का स्तर पास-पड़ौस के गैर-स्वयंसेवकों की तुलना में पर्याप्त मात्रा में ऊंचा न हो। हमारा प्रत्येक स्वयंसेवक, शेष अन्य लोगों के लिए अनुकरणीय तथा आदर्श होना ही चाहिए। सबको यह लगना चाहिए कि यह एक ऐसा व्यक्ति है जो देश के प्रति समर्पित है, पवित्रता और चारित्र्य से युक्त है, धर्मनिष्ठ है, अतः, इसकी सभी कृतियां निष्कलंक होंगी। जब ऐसे आदर्श स्वयंसेवक संगठित और अनुशासित रूप में एकत्रित होंगे, तो सारे देश का वातावरण बदल जायेगा। यही हमें करना है। इसलिए हमें सातत्य के साथ अथक परिश्रम करना होगा। अपने कार्य के, इस बहुत छोटे दिखाई देने वाले किन्तु अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू की उपेक्षा हम कदापि न करें।

स्वयंसेवकों को समाज की न केवल भूतकालीन बल्कि वर्तमान स्थिति का भी अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। उन्हें जागतिक गतिविधियों का भी ज्ञान होना चाहिए और वर्तमान परिस्थितियों में संघ की आवश्यकता भी समझ लेनी चाहिए। एक बार किसी ने मुझे बताया कि अपने विद्यार्थी स्वयंसेवक अन्य विद्यार्थियों से तर्क करने से डरते हैं। क्योंकि अन्य विद्यार्थी लोकतंत्र, समाजवाद, आर्थिक नीतियों और ऐसी ही अन्य बड़े-बड़े विषयों की चर्चा करते हैं, जबकि उनके विषय में अपने स्वयंसेवक कुछ नहीं जानते। यदि यह सत्य है तो क्या हम इसे अच्छा कहेंगे? हमें प्रत्येक बात का ज्ञान होना चाहिए अन्यथा लोग हमारा मजाक उड़ायेंगे। मैं अपना एक व्यक्तिगत उदाहरण बताता हूं।

राष्ट्रपति पद के चुनाव की बात है। इस पद के लिए डॉ. जाकिर हुसैन और श्री कोका सुव्वाराव प्रत्याशी थे। उस समय द्वारकापीठ के स्वामीजी का इस आशय का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ कि केवल हिन्दू ही इस देश का राष्ट्रपति होना चाहिए। मैं दिल्ली गया तो वहां एक अंग्रेज पत्रकार से मेरी भेंट हो गई। उसने मेरा मत पूछा। विदेशी पत्रकार से अपने राष्ट्रीय मतामत की चर्चा भला क्या करना? तिस पर चुनाव हो चुका था और परिणाम भी घोषित हो गए थे। इसलिए मैंने कहा कि परिणाम घोषित हो चुके हैं, अतः इस विषय पर मत व्यक्त करने से कोई लाभ नहीं। फिर भी जब वह नहीं माना तब मैंने उसे ही उसके देश के इतिहास का उल्लेख करते हुए प्रति-प्रश्न पूछा कि क्या इंग्लैंड में यह परंपरा है कि प्रोटेस्टेन्ट ही वहां का सम्राट हो सकता है और क्या एडवर्ड अष्टम को सिंहासन इसलिए छोड़ना पड़ा कि वह एक रोमन कैथोलिक महिला से विवाह करना चाहते थे? उसके पास कोई उत्तर नहीं था। मुझे इंग्लैंड के इतिहास का ज्ञान था, इसीलिए मैं प्रति-प्रश्न पूछकर उसे उसका उत्तर उसके ही शब्दों में खोजने के लिए प्रेरित कर सका। इसलिए अपने सभी स्वयंसेवकों को हमें सब दृष्टि से विकसित करना होगा। ये बातें घोंटी-विद्या पढ़ाने से नहीं आयेंगी। हमें उनके भीतर सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र इच्छा जगानी होगी। अपनी शाखाओं में इस तरह का वातावरण निर्माण करना होगा, जिसमें प्रत्येक स्वयंसेवक के मन में यह इच्छा उत्पन्न हो कि उसे अपना ज्ञान बढ़ाना है और सब प्रकार की सामग्री से सिद्ध होना है।

शाखा में उपस्थित होने वाले प्रत्येक स्वयंसेवक का सब भांति विकास होना जरूरी है। हमारा यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक स्वयंसेवक का निरीक्षण करके उसका उचित मार्गदर्शन करें। उदाहरण के लिए यदि वह विद्यार्थी है तो हमें देखना होगा कि उसकी पढ़ाई में प्रगति कैसी है, अपने शिक्षकों के प्रति वह आज्ञाकारी है अथवा नहीं, उनके साथ उचित ढंग से व्यवहार करता है अथवा नहीं, माता-पिता एवं अन्य वरिष्ठों को सम्मान देता है अथवा नहीं, आदि। यह सब करना, निश्चित रूप से, अपना ही कार्य है। कोई व्यक्ति केवल शाखा जाता है और संघ-स्थान के सब कार्यक्रमों में भाग लेता है किन्तु शेष २३ घंटों में वह अनैतिक है तो कोई उपयोग नहीं। अतः इन सब बातों की ओर ध्यान देना

चाहिए। इसके लिए कार्यकर्ता द्वारा केवल बौद्धिक दे देने से कोई लाभ नहीं होगा। कार्यकर्ता को तो परिवार के मुखिया की तरह सभी स्वयंसेवकों के विकास की चिंता करनी होती है। अन्यथा वर्षों शाखा में आते रहने पर भी उनका कोई विकास नहीं होगा। लोग हमारे आचरण की ओर बड़ी सूक्ष्मता से देखते हैं। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक स्वयंसेवक एक आदर्श के रूप में लोगों के सामने उपस्थित हो। स्वयंसेवकों का विकास कार्य करना है, तो इसके लिए कुछ समय देने की आवश्यकता होगी। कुछ अतिरिक्त समय निकाले बिना हम यह कार्य नहीं कर सकते।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नीतिवान बना जा सकता है। यहां तक कि जिसके विषय में कहा जाता है कि धोखाधड़ी और झूठ के बिना व्यापार चल ही नहीं सकता, उस व्यापार में भी यह बात संभव है। व्यापार का मुझे कोई अनुभव नहीं। इसलिए एक बड़े व्यापारी से मैंने पूछताछ की। उसने बताया कि प्रारंभ के दिनों में यह कुछ कठिन होता है, किन्तु धीरज के साथ नैतिकता का पालन करने पर व्यापार में प्रगति होती है। साथ ही पूर्ण मानसिक शान्ति और समाज में सम्मान भी मिलता है।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में काम करने वाले अपने स्वयंसेवकों को नैतिक दृष्टि से अच्छा, भ्रष्टतारहित, प्रामाणिक और सच्चा होना ही चाहिए। इसके लिए हमें अथक प्रयत्न करने होंगे। इसी के द्वारा समाज में आज दिखाई देने वाले भ्रष्टता और अनैतिकता के वातावरण को हम बदल सकते हैं।

अपनी शाखाओं में बाल और तरुण स्वयंसेवक रहते हैं। वैसे ही विद्यार्थी, शिक्षक, वकील, डॉक्टर, किसान व अन्य कई व्यवसाय-क्षेत्रों के लोग भी आते हैं। इन स्वयंसेवकों की दृष्टि से शाखा प्रमुख का कार्य क्या है? क्या हम यह समझते हैं कि शिक्षक अथवा मुख्य शिक्षक का कार्य केवल संघ-स्थान तक ही सीमित है। क्या हम यह सोचें कि स्वयंसेवक संघ-स्थान पर आते हैं तो हम उनसे दक्ष-आरम कराते हैं, कुछ कार्यक्रम, कुछ औपचारिक बातें करते हैं और संघ-स्थान का कार्यक्रम पूर्ण हो जाता है। शाखा प्रमुख का, केवल इतना ही उत्तरदायित्व नहीं है। स्वयंसेवकों के विकास की ओर ध्यान देने में भी उसे सक्षम होना चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि विकास की आवश्यकता उसे स्वयं को भी है। जिस क्षण हम स्वयं का विकास करने की बात भूल जाते हैं, उसी क्षण से हमारा पतन प्रारंभ हो जाता है। अपने ज्ञान, चेतना, संवेदनाओं, भावनाओं में निरंतर विकास की हमें आवश्यकता होती है। इस बात का स्मरण रखते हुए अपना और प्रत्येक स्वयंसेवक का विकास निरंतर करने की ओर हमें ध्यान देना होगा।

एक बार की बात है। एक सज्जन से, अपनी एक शाखा के संघचालक का उत्तरदायित्व स्वीकारने के लिए कहा गया। वे वयस्क और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उन्होंने पूछा कि संघचालक के रूप में उनसे कौन से कार्यों की अपेक्षा की जायेगी? मैंने

कहा-"मान लीजिए आप संयुक्त परिवार के मुखिया हैं और परिवार में पुत्र, पुत्री और प्रपौत्र आदि हैं तो मुखिया के नाते आपका कार्य क्या होगा?" उन्होंने कहा कि वे उनकी देखभाल करेंगे। मैंने पूछा, "क्या आप उन्हें झगड़ने देंगे? वे बोले—"नहीं-नहीं, मैं उन्हें कतई लड़ने नहीं दूंगा।" फिर मैंने पूछा—"क्या परिवार के बच्चों को पढ़ा-लिखा देखना चाहेंगे अथवा नहीं? वे बोले, "अवश्य ही मैं उन्हें पढ़ा-लिखा देखना चाहूंगा।" मैंने कहा, "आप यह भी देखेंगे कि वे अपने जीवन में स्थिरता प्राप्त करते हैं।" वे बोले, "हां, मैं यह भी देखूंगा।" मैंने पूछा—"वे सद्‌गुणी हों इस ओर भी ध्यान देंगे अथवा नहीं?" उन्होंने कहा, "हां, यह भी मेरा कार्य होगा।" तब मैंने उनसे कहा कि संघ परिवार की देखभाल के लिए भी आपको यही सब कुछ करना होगा। सब स्वयंसेवकों की ओर सब प्रकार हमें ध्यान देना होगा। मान लो कि उनका व्यवहार अपने घरों में बाहर तथा दूसरे विद्यार्थियों, शिक्षकों, मित्रों आदि के साथ उचित है। उनकी आदतें अच्छी हैं। वे सद्‌गुण ग्रहण करें तथा शीघ्रता से करें, उसी तरह वे अपनी पढ़ाई की ओर उचित ध्यान दें, परीक्षा में ठीक प्रकार उत्तीर्ण हों। जो बड़ी आयु के स्वयंसेवक हैं उनके संबंध में हमें उनकी जान-पहचान और काम-धंधे का ठीक-ठाक पता कर लेना होगा, और यह भी देखना होगा कि वे अपने कार्यक्षेत्र की जिम्मेदारी ठीक प्रकार से निभाते हैं या नहीं। जो लोग संघचालक, कार्यवाह, मुख्य शिक्षक, गण-शिक्षक और गटनायक के उत्तरदायित्वों को संभालते हैं, उन्हें स्वयंसेवकों की इन सब बातों की ओर ध्यान देना होगा।

एक व्यक्ति के लिए सभी के पास जाना संभव नहीं, किन्तु कार्य विस्तार के द्वारा उसे यह करते बनना ही चाहिए। अब प्रश्न यह है कि सभी स्वयंसेवक बंधुओं के विकास की ओर हम ध्यान दे रहे हैं अथवा नहीं? संदेह नहीं कि इसके लिए अधिक समय देना होगा। हमारे पास समय नहीं है, ऐसा कहें तो कैसे होगा? हम अभी जितना समय देते हैं, उससे कुछ अधिक समय देना होगा।

स्वयंसेवकों से क्या हमें दूर से ही परिचित होना है? यह हो रहा हो तो उचित नहीं है। अपने स्वयंसेवकों के साथ हमें रक्त के संबंधों से भी अधिक गहरे संबंध विकसित करने हैं। प्रत्येक स्वयंसेवक का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए अपने कार्य को पूर्ण करने के लिए हम परिश्रम नहीं करेंगे, तो हम स्वयंसेवकों का विकास नहीं कर सकते।

स्वयंसेवकों के आपसी संबंधों का यह प्रश्न, मेरे समक्ष बहुत वर्षों से है। वह मेरे मन में हमेशा बना रहता है। एक बार अपनी एक सायं शाखा देखकर यह प्रश्न विशेष रूप से मेरे मन में उपस्थित हुआ। मैंने देखा कि शाखा में उपस्थिति केवल नौ ही है। संख्या घट गई है। मैंने कार्यवाह से कारण पूछा तो उसने बताया कि परीक्षा के दिन हैं, विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी कर रहे हैं। वे ट्यूशन क्लास में जाते हैं। शिक्षण वर्ग शाखा के समय में ही लगते हैं। समय टकराता है इसलिए विद्यार्थी शाखा में नहीं आ रहे हैं। यह सुनकर, मेरे भीतर के शिक्षक को बड़ी चोट पहुंची। क्योंकि परम्परा से मैं शिक्षक हूं। मेरे पिता भी

शिक्षक थे। इसलिए मेरे शिक्षक को आघात पहुंचा। इसका कारण यह कि हमारे द्वारा पढ़ाए गए विषय को सीखने के लिए हमारे विद्यार्थी अन्य किसी के पास जायं, इसे हम अपने शिक्षक होने का अपमान समझते थे। मैं अधिक समय तक शिक्षक नहीं रहा। किन्तु मैं अपने पिताजी के विषय में कह सकता हूं। उन्होंने अपने शिक्षकीय जीवन के तीस वर्षों तक जो विषय पढ़ाया, उस विषय के लिए अन्य किसी से परामर्श लेने की आवश्यकता, उनके किसी भी विद्यार्थी को अनुभव नहीं हुई।

कहने का मतलब है कि हमें अपने स्वयंसेवक बंधुओं के विकास के लिए सावधानी अवश्य रखनी चाहिए। हमें उन्हें यह बताते बनना चाहिए कि यदि तुम विद्यार्थी हो, तो बिना किसी समझ-बूझ के कुंजी द्वारा तैयार किए प्रश्नोत्तरों को अध्ययन मानोगे तो यह हम कदापि नहीं चाहेंगे। हम तुम्हें योग्य विचार करते हुए अध्ययन करने और विषय को भलीभांति समझने के लिए विकसित करेंगे। हम तुम्हें पढ़ाएंगे ताकि तुम परीक्षा में पास हो सको। यदि तुम विद्यार्थी नहीं, तो जो भी कार्य तुम कर रहे हो हम उसे ठीक ढंग से होता हुआ देखना चाहेंगे।

इस प्रकार हमारे सम्पूर्ण संगठन को, हमें अन्तर्बाह्य परिपूर्ण आत्मीयता की नींव पर खड़ा करना है। हमारा स्वयंसेवक उत्क्रांत होते हुए एक सुयोग्य, चारित्र्यवान, सूझ-बूझ रखने वाला, ज्ञानी, उद्योगशील, व्यवहारनिपुण, विविध प्रकार की ज्ञान-क्षमता रखनेवाला और ऐसे ही अनेक महान् गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति बनना चाहिए। यह हमारा प्रत्येक का उत्तरदायित्व है। हमें अपना यह उत्तरदायित्व भली-भांति निभाना चाहिए।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ७, पृ० ७२-७९)

१३

शाखा-कार्य

अपना संघ-कार्य समझना और करना भी बहुत सरल है। संघ-कार्य का हेतु हिन्दू समाज को संगठित करना है। इसे संगठित कर समर्थ बनाए रखना हमारा स्वाभाविक कर्त्तव्य है। संघ ने इसके लिए बड़ी सरल पद्धति आविष्कृत की है। समाज को संगठित करने के लिए स्नेह का, आत्मीयता का भाव चाहिए। यह उत्पन्न होता है, एक दूसरे से अधिक मात्रा में मिलते-जुलते रहने से। एक दूसरे को हम जितना समझने का प्रयास करेंगे और परस्पर समान संस्कार एवं परम्परा का अनुभव करते रहेंगे उतनी ही मात्रा में आत्मीय भाव जागृत होगा। इसलिए हम एकत्रित होने का उपक्रम करें। उसके लिए सोचा कि एकत्रित होना है तो अस्तव्यस्तता से नहीं, नियमबद्धता से हों। स्थान भी निश्चित करें, समय भी निश्चित करें और हम सब लोग इकट्ठा हों। निश्चित समय पर हम जिन बातों के संस्कार ग्रहण करते हैं वे संस्कार जीवन में पक्के होते हैं। इसलिए हमने नियमबद्धता का निश्चय किया।

फिर सोचा कि अपने जीवन में केवल आत्मीयता से तो काम नहीं होगा। अत: पूर्वकाल से चलती आई अपनी परम्परा में जो कुछ श्रेष्ठ गुण हैं वे इसमें से प्रत्येक के अंदर होने आवश्यक हैं। उन गुणों का स्मरण करा देने वाला अपना प्रतीक हम सामने रखें। उस प्रतीक की छत्रछाया में, उसे सम्मान देते हुए कार्यक्रम करें। इन गुणों में सर्वश्रेष्ठ गुण है, सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए स्वतः का जीवन-उत्सर्ग करना। अर्थात् त्याग करना। जीवन को यज्ञ बनाना। इसीलिए हमारे यहां प्राचीन काल से कहा है कि जो कुछ कमाओगे, प्राप्त करोगे, जो कुछ भगवान ने हमें दिया होगा, उस सबका हवन करो। सब समाज के

कल्याण के लिए है। उसका उसको समर्पित करो। इसमें से जो अवशिष्ट बचेगा, उससे अपना और अपने परिवार का जीवन चलाओ।

इस प्रकार जीवन को एक यज्ञ बनाकर सबका-सब हवन करके जो अवशिष्ट ग्रहण करता है, उसके सब बंधन छूट जाते हैं और वह अमृत तत्व को प्राप्त करता है। अपने शास्त्रों ने हमें यह अभिवचन दिया है। सबसे बड़ा गुण— आत्म-उत्सर्ग का है। अपने सम्पूर्ण जीवन को यज्ञ बनाने का, समाज के हित की दृष्टि से अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने का है। इस श्रेष्ठ गुण का प्रतीक, याने यज्ञ की ज्वालाओं का प्रतीक, यह अपना पवित्र भगवा ध्वज है। इसको हमने अपने सामने आदर्श के नाते रखा है, दिन-प्रतिदिन इसका सम्मान करना, हमने अपना व्रत बनाया है। अतः इसकी छत्रछाया में, हम सबके प्रति आत्मीय भाव को अपने अंदर प्रकट करें।

फिर हमने एक और बात सोची है कि अपने सम्पूर्ण समाज को संगठित करना है तो केवल आत्मीयत्व के कारण वह काम पूरा नहीं होता। उसके साथ-साथ अपने व्यक्तिगत अभिमान को छोड़कर, एक दूसरे के साथ मेल कर, सूत्रबद्धता से, समग्र समाज की भलाई के लिए हमें काम करते बनना चाहिए। याने अपना जीवन जैसे समाज के प्रति आत्मीयता से भरा हो, हम समाज समर्पित हों, वैसे ही अपना जीवन एक दूसरे के साथ अनुशासन के सूत्र में आबद्ध भी रहे, इसकी आवश्यकता रहती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए, अनुशासन का सूत्र प्राप्त करने हेतु हमें दिन-प्रतिदिन उसकी शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य होता है। इसीलिए हम लोगों ने ऐसी शिक्षा का प्रबंध किया कि जिससे हम लोग एक दूसरे के साथ अपने जीवन के व्यवहारों को मिलाकर काम करने में समर्थ हों, काम में कोई आगा-पीछा, कोई अस्तव्यस्तता न हो। बड़ी शुद्ध रीति से, शुद्ध पद्धति से हम अपना सब काम कर सकें।

संगठित जीवन के लिए, आत्मीयतापूर्ण संबंध और अनुशासनबद्ध रूप में कार्य करने की सिद्धता, दोनों आवश्यक हैं। इसीलिए हम लोगों ने प्रतिदिन, निश्चित स्थान तथा निश्चित समय पर एकत्रित होकर, भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्यक्रमों के माध्यम से इन गुणों को प्राप्त करने का संकल्प किया है। किसी एक स्थान पर एकत्र आना, पवित्र ध्वज को प्रणाम करना, उसकी छत्रछाया में अनुशासन और आत्मीयता बढ़े ऐसे कार्यक्रमों का अभ्यास करना, फिर अपने ध्येय का स्मरण करने के लिए अपनी पवित्र प्रार्थना बोलना, ध्वज को प्रणाम कर, ध्वज को उस दिन के लिए विसर्जित कर अपने-अपने दैनिक जीवन के कार्यों को ध्येयानुरूप समर्पण भाव से करते रहने की प्रेरणा लेकर घर वापस जाना, अपने कार्य का स्वरूप है। इस प्रकार संगठित जीवन निर्माण करने के लिए हमने बड़ी सरल पद्धति सामने रखी है। इसे ही हम अपनी शाखा कहते हैं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ७, पृ० ८४-८५)

* * * *

अपने यहां महापुरुषों ने ऐसा कहा है कि जिसे हम जानते हैं उसी का पुनर्विचार और चिंतन करो। उससे अपना विचार पक्का हो जाता है। मनुष्य में अनेक गुणों के साथ विस्मरण का अवगुण रहता है। विस्मरण से कार्य के विषय में अपनी धारणा विपरीत न बने, कार्य का ज्ञान सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप से रहे, इसलिए समय-समय पर काम का विचार और चिंतन आवश्यक रहता है।

अपना यह कार्य संघ-शाखा के रूप में चलता है। शाखा में हम एक दूसरे से मिलते हैं, अपने समाज की संस्कृति और परंपरा का स्मरण कर मातृभूमि का वंदन करते हैं और अपने राष्ट्र-जीवन की धारणा का स्मरण कर निश्चय करते हैं कि अपने इस राष्ट्र को हम श्रेष्ठ, अति वैभवसंपन्न बनायेंगे। वैभव की अपनी कल्पना में हमने केवल धन-संपत्ति और सत्ता प्राप्ति में संतोष नहीं माना। वह सम्पत्ति और सत्ता धर्मानुकूल, धर्मरक्षार्थ और धर्मपालनार्थ रहने से ही हम संतोष मानेंगे। धर्म की रक्षा का हमने सबसे अधिक महत्व माना है और वह करते हुए राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त करा देंगे ऐसा अपनी प्रार्थना की अन्तिम दो पंक्तियों में कहा है। ध्वज के सम्मुख प्रार्थना करते हुए, अपने अंतःकरण का यह पवित्र निश्चय हम अभिव्यक्त करते हैं। धर्म-रक्षण के बिना स्वतंत्रता और वैभव हमारे लिए निरर्थक है, ऐसी अपनी प्रारंभ से ही निश्चित धारणा है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ७, पृ० ८८)

१४

गौण प्रश्न

संघ का कार्य दैनंदिन शाखा के रूप में चलता है। प्रतिदिन निश्चित समय पर सब स्वयंसेवक बंधुओं का एकत्रित होना, अपने सम्मुख अपना पवित्र ध्वज लगाना, उसे प्रणाम कर उसकी छाया में ध्येयानुकूल कार्यक्रमों का अभ्यास करना और इस प्रकार के कार्यक्रम एक घंटा चलाकर, ध्वज के सम्मुख श्रद्धा और नम्रतापूर्वक अपनी प्रार्थना का सब मिलकर उच्चारण कर, फिर अपने ध्वज को प्रणाम कर और ध्वजावतरण कर उस दिन के लिए अपनी शाखा का कार्यक्रम पूरा करना, यह स्थूल दृष्टि से अपने कार्य का स्वरूप है।

शाखा चलाने के लिए जिन भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों का अभ्यास करना है, उनमें से कई अंश हमें ऐसे दिखेंगे कि वे महत्व के नहीं हैं। अपने यहां, प्रातःकाल से लेकर रात तक अनेकविध कार्यक्रम समय पर हों यह अपेक्षित है। सामान्य खेलों के भी कार्यक्रम होते हैं। अपना वेष, गणवेष, रहने की व्यवस्था, सभी बातों पर हम लोगों को ध्यान देना उचित है। यह सोचना ठीक नहीं होगा कि इनका कोई हिस्सा महत्व का नहीं है और इसलिए उधर विशेष ध्यान न देने से काम चल सकेगा। छोटी बात की ओर यदि दुर्लक्ष किया, तो बहुत बड़ी हानि होती है। मैंने बाल्यकाल में पढ़ी एक अंग्रेजी कविता की एक पंक्ति ऐसी थी "फॉर दि सेक ऑफ ए नेल किंगडम वाज लॉस्ट" अर्थात् एक कील की ओर ध्यान न देने के कारण राज्य नष्ट हो गया। सेना युद्ध के लिए जा रही थी। राजा साहब के घोड़े की नाल की एक कील गिर गई। उसकी ओर लोगों ने ध्यान नहीं दिया। एक कील के गिर जाने से पूरी नाल गिर गई और घोड़ा लंगड़ाने लगा, इसलिए राजा साहब पीछे रह गये। उनके पीछे रह जाने के कारण उस सेना का पराभव हुआ।

छोटी-छोटी बातों को हम नित्य ध्यान में रखें। बूंद-बूंद मिलकर ही बड़ा जलाशय

बनता है। एक-एक त्रुटि मिलकर ही बड़ी गलतियां होती हैं। इसलिए शाखा में जो शिक्षा मिलती है उसके किसी भी अंश को नगण्य अथवा कम महत्व का नहीं मानना चाहिए।

कई लोगों को प्रतिदिन एकत्रित होना तथा नियम से चलना कष्टदायक मालूम होता है। नियम का बंधन स्वीकारने के लिए लोग तैयार नहीं होते और सोचते हैं कि अपने मन में जैसी लहर उत्पन्न होगी, वैसा वे चलेंगे। वास्तविक रीति से मनुष्य को सोचना चाहिए कि मन की जैसी-जैसी लहर उठती जायगी वैसे-वैसे यदि मनुष्य आचरण करने लगे, तो उसका स्वातंत्र्य कहां रहा, वह तो अपने मन का दास बन गया। मन उसको हर प्रकार से दौड़ाता है। कोई मनुष्य घोड़े की सवारी करता है और घोड़ा जिधर जाय उधर अगर वह जाने लगे, तो उसकी घोड़े की सवारी व्यर्थ ही नहीं, प्राण-हारक भी है। जब मनुष्य सोचता है कि वह घोड़े की सवारी करेगा और अपनी इच्छा के अनुसार घोड़े को ले जायेगा, तब तो घोड़े की सवारी में उसका कुछ लाभ है। इसी प्रकार हम लोगों को अपने मन का भी नियंत्रण करना चाहिए। दिन-प्रतिदिन एक विशिष्ट कार्य में अपना ध्यान लगाने से और उसमें एक दिन भी त्रुटि न आने देने का निश्चय निभाने से हम अपने मन पर नियंत्रण प्राप्त कर सकते हैं।

कई बार मुझसे लोगों ने यह प्रश्न पूछा कि "हम कितने दिन कार्य करें। समय की मर्यादा बताइये, दो साल, पांच साल, तब तो उतने दिन के लिए हम अपने मन की तैयारी करेंगे।" परंतु विचार यह करना चाहिए कि अपने सामने लक्ष्य क्या है? परीक्षा के लिए जाने वाले विद्यार्थी को यदि पूछा कि तुम कितनी बार परीक्षा में बैठोगे, तो वह कहता है कि जब तक मैं उसमें उत्तीर्ण नहीं होता, तब तक प्रयत्न करता रहूंगा। वह यह तो कभी नहीं कहता कि दो साल प्रयत्न करूंगा और बाद में सब छोड़-छाड़कर भीख मांगने लगूंगा। हमें विचार करना चाहिए कि अपने सामने कौन सा लक्ष्य है? हमें अपना कौन सा उद्दिष्ट सिद्ध करना है? कितने दिन करने का प्रश्न गौण है। परंतु दुर्भाग्य है कि आजकल कोई बात यावज्जीवन करते रहने का अभ्यास टूट गया है। केवल इतना ही नहीं, आज के कुछ नवयुवक सोचने लगे हैं कि एक ही काम बार-बार करते रहना अच्छी बात नहीं है। मुझे तो एक बड़े अध्यापक ने यहां तक बताया था कि 'कनसिस्टनसी एंड कोन्स्टन्सी इज द वर्च्यू ऑफ अॅन एस"—"सुसंगति और सातत्य तो गधे का गुण है।" ऐसा जब उसने कहा, तो मैंने उससे कहा कि "इसका मतलब है कि गधा भी आप लोगों से अच्छा है", क्योंकि "ही इज बोथ कोनस्टेन्ट एण्ड कनसिस्टेन्ट।" यह एक विचित्र वृत्ति है। इसका शिकार हमें नहीं बनना चाहिए।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृ० १-४)

१५

राष्ट्र कल्याण का मार्ग

सामर्थ्य संगठन से आता है। वही मनुष्य-समुदाय संगठित शक्ति के रूप में खड़ा होता है, जिसमें सब लोगों के मन, बुद्धि और शरीर की सब शक्तियों का समीकरण याने अनुशासन होता है। जब एक लक्ष्य पर सबका अंतःकरण केंद्रित हो, बुद्धि का निश्चय रहे, शरीर की सब क्रियाएं सुनियंत्रित तथा एक दूसरे से मेल खाने वाली हों तब अनुशासनयुक्त जीवन बनता है।

बुद्धि को स्थिर करने के लिए अपने सामने विचार कौन सा होना चाहिए? हम किस प्रकार के उद्दिष्ट को लेकर काम करें, इसे हम लोग समझें। यह अपनी मातृभूमि है, अतः यदि हम इसकी रक्षा नहीं करते, तो हमारी बुद्धिमत्ता, हमारे जीवन की शक्ति का क्या उपयोग है? उसका सम्मान अगर हम लोगों ने बढ़ाया नहीं, तो इसका अर्थ यह होगा कि इसमें जन्म लेकर, इसके द्वारा पोषण पाकर भी हम कृतघ्न हैं। कृतज्ञता की मांग है कि अपनी इस भूमि के प्रति नितांत श्रद्धा और आदर का भाव हृदय में धारण कर, उसका कहीं से भी अपमान न होने दें और उसकी मान-मान्यता संसार में नित्य बढ़ाते रहें। इस माता के पुत्र के रूप में अपना सम्पूर्ण समाज है, अपने सामने यह एक सुस्पष्ट रीति से हमें प्रेरणा देने वाली पवित्र बात है। अपनी एकता का आवाहन करने के लिए यह एक उत्कृष्ट साक्षात्कार की अनुभूति है। अपने समाज की उस अंतर-बाह्य एकता के कारण ही यह राष्ट्र-जीवन है और उस राष्ट्र के हम अंग हैं। मनुष्यता को यह शोभा नहीं देगा कि हम इतने सारे कोटि-कोटि लोग यहां पर रहें और सामान्य उदर-भरण के लिए हमें भिक्षा मांगनी पड़े। यह कितनी बड़ी लज्जा की बात होगी? इसलिए हमें यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हम लोग अपने इस राष्ट्र का सुख-समृद्धि से भरा हुआ, वैभव, सम्पन्न, सब

प्रकार से निर्भय, निष्कंटक, सुरक्षित, विजयशाली जीवन बनाएंगे। उसी में हमारी मनुष्यता है, हमारे जीवन की सफलता है तथा हमारे सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता है।

लक्ष्य बड़ा रोचक, हृदय को आकर्षित करनेवाला, पवित्र और श्रेष्ठ है। परंतु उसे किस प्रकार से हम लोग प्रत्यक्ष में ला सकते हैं? केवल कोई सिद्धांत बताने से काम नहीं चलता। उसे प्रत्यक्ष में लाने की कोई योजना होनी चाहिए। जीवन-धारण के लिए जल-प्राशन आवश्यक है। किन्तु जैसे कुआं हो या जलाशय उसमें से जल-प्राशन करने के लिए बर्तन या हाथों की अंजलि का उपयोग करना पड़ेगा, अन्यथा किनारे पर बैठा हुआ मनुष्य अपने इतने निकट जल का इतना बड़ा आशय भरा हुआ होने के उपरांत भी बिना जल के अपने जीवन से हाथ धो बैठेगा, इसी प्रकार ऐसी कोई व्यवस्था चाहिए जो अपने इस ध्येय को अपने अंदर धारण कर, इसे अभिव्यक्त करने में अपने लिए उपयोगी हो सके। ऐसी व्यवस्था कौन सी है, जो अनुशासन की शिक्षा देकर, दिन-प्रतिदिन ध्येय का चिंतन करने की व्यवस्था बनाकर हमें सामर्थ्य-संपन्न राष्ट्र-जीवन बनाने के लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए उपयोगी हो सकेगी? संघ के प्रारंभ में जो विचार हुआ, उसके परिणामस्वरूप अपने सामने आज की जो कार्यपद्धति चल रही है, वह आई है। दिन-प्रतिदिन की अपनी शाखा और पराक्रम की भावना, निर्भयता, पौरुष और सभी प्रकार से दूसरों के प्रति भाईचारा, अनुशासन का प्रबल बंध (बंधन) इत्यादि निर्माण करने की जिनके अंदर क्षमता है ऐसे भिन्न-भिन्न कार्यक्रम, अपने यहां पर ग्रहण किए गए हैं। दिन-प्रतिदिन निरंतर कार्य करना, दिन-प्रतिदिन कार्य करते रहने से अपने हृदयों में संस्कारों को दृढ़ बनाते रहना, और दुर्बल पड़ने से रोकना और अपने समाज को इस प्रकार खड़ा करना कि वह एक-दूसरे को दृढ़ संपर्क से आविष्कृत होने वाली नित्य सिद्ध शक्ति से युक्त हो, अपनी दैनंदिन शाखा और उसके कार्यक्रमों के सुस्पष्ट हेतु हैं। एक लक्ष्य और उसके लिए सामर्थ्य-संचय की दृष्टि से दिन-प्रतिदिन चलने वाली अपनी इस शाखा के कार्य का स्वरूप, ये दोनों बातें अपने सामने आ गई। यही संघ शब्द का भावार्थ है।

कार्य का स्वरूप, ये दोनों बातें अपने सामने आ गईं। इन दोनों को जोड़ने वाला शब्द है "स्वयंसेवक"। स्वयंसेवक संघ-शक्ति उत्पन्न करने का कार्य करेगा। किराये से लाये गए आदमी यह कार्य कर सकेंगे क्या? भाड़े के टट्टू यह कर नहीं सकते। जो अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम रखता है और यह सोचता है कि यह मेरा समाज, जो-जो दिया है वह सब मैं लगाऊंगा, वही इसे कर सकेगा। किसी के कहने पर नहीं, किसी के दबाव के कारण नहीं, किसी प्रलोभन या किसी मोह में पड़ने से नहीं। किसी प्रकार के बाह्य कारण मेरे लिए प्रेरक बनेंगे ऐसा नहीं, तो इस मातृभूमि, धर्म, राष्ट्र, समाज, समग्र महान् राष्ट्रशरीर के प्रति मेरे अंतःकरण में जो भक्ति है, वह मेरे लिए स्फूर्तिदायक है। उस अंतःप्रेरणा से मैं अपने राष्ट्र की सेवा करूंगा और वह सेवा उसी ढंग से करूंगा, जिससे इसका संगठित और अभेद्य सामर्थ्य सारे संसार के अनुभव में आ सके। इस प्रकार की

१६

महत्व की बात

अपने यहां किन बातों को महत्व दिया गया है, यह हम लोग थोड़ा सा सोचें। अति प्राचीनकाल से अपने यहां पर यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वतः के शरीर को स्वस्थ, शुद्ध, निष्कलंक तथा सबल रखना चाहिए। अपने शास्त्रों का सिद्धांत है कि दुर्बल के लिए इहलोक-परलोक कुछ भी नहीं है। यह हमें दिखाई देता है कि शरीर यदि दुर्बल हो तो मनुष्य कोई कार्य नहीं कर सकता, न तो वह अपने स्वार्थ पूर्ण कर सकता है, न परमार्थ की साधना कर सकता है। इसलिए शरीर को सबल, सक्षम और स्वस्थ रखना चाहिए। सभी प्रकार के कष्टों को सहन कर अपने मार्ग पर आगे बढ़ने की उसके अंदर क्षमता चाहिए। इस राष्ट्र के विचारकों ने हमें प्राचीनकाल से यह शिक्षा दी कि शीतोष्ण इत्यादि सभी प्रकार की परिस्थितियों में तितीक्षा के गुण का संवर्धन करके अपने कर्त्तव्य पर हमें डटकर खड़े रहना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि साधु-संन्यासियों को शरीरबल-संपादन के लिए कुछ व्यायाम इत्यादि करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तो शरीर से ऊपर उठकर परमात्मा का चिंतन करते रहते हैं। परंतु आधुनिक काल में अपने महान् जगद्वंद्य साधु विवेकानंद स्वामी ने अपने आश्रम में प्रतिदिन, अपने सब शिष्यों से व्यायाम करवा लेने का नियम बनाया था। वे कहते थे कि "दुर्बल शरीर से तुम क्या करोगे? साधु होने पर भी अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। मार खानेवाला दुर्बल देह लेकर हम लोग क्या करेंगे?" उनके जीवन का एक प्रसंग है। वे एक बार रेलगाड़ी में बैठे जा रहे थे। किसी भक्त ने उनके लिए पहले दर्जे का टिकट लिया था। इसलिए पहले दर्जे के डिब्बे में बैठे थे। उसी डिब्बे में दो अंग्रेज भी थे। उन अंग्रेजों ने एक हिन्दुस्थानी को, भगवा वेष पहने हुए साधु को, वहां

बैठे देखा तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने सोचा कि उसे वहां से उतार दें। उन्होंने रेलवे के लोगों से कहा। पर रेलवे के लोगों ने कहा कि उनके पास टिकट है, इसलिए यहां बैठने का उन्हें अधिकार है। जब गाड़ी चली तो वे दोनों अंग्रेज आपस में एक दूसरे से बातचीत करने लगे कि ''इस हिन्दुस्थानी आदमी को देखो, इतना मोटा-ताजा है, परन्तु साधु का वेष पहनकर घर-घर भीख मांग कर खाता है, लोगों के श्रम पर अपनी जीविका चलाता है। इसका जीवन 'पैरिसाईट' (शोषक) के समान है। ऐसे ही लोगों के कारण भारत की यह दुर्दशा है। इन सब निकम्मे लोगों से जबर्दस्ती से सड़क बनवाने, पत्थर तुड़वाने के काम करवा लेने चाहिए।'' इधर विवेकानंद जी शांति से ऐसे निर्विकार बैठे हुए थे मानो उन्हें कुछ समझ ही न रहा हो। दोनों आपस में ऐसा समझकर कि यह केवल संन्यासी है, अंग्रेजी वगैरह नहीं जानता होगा, बड़ी मुक्तता से सभी प्रकार की विचित्र बातें बोल रहे थे। बाद में एक स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो स्टेशन के किसी एक अधिकारी से विवेकानंद स्वामी ने कहा, ''भाई! यहां पर पीने का स्वच्छ पानी हो तो एक गिलास भर मेरे लिए भेज दो।'' ये बातें उन्होंने अंग्रेजी में कहीं। उनके अंग्रेजी में बोलते ही दोनों अंग्रेज एक-दूसरे की ओर आश्चर्य से देखने लगे। अपनी सब बातें यह समझ गया होगा यह सोचकर वे कुछ संकोच में पड़ गए। पानी आया। स्वामीजी ने पी लिया। गाड़ी चली। गाड़ी चलने के बाद उन दोनों अंग्रेजों में से एक अंग्रेज ने जरा धैर्य से स्वामीजी से पूछा, ''क्या आप अंग्रेजी जानते हैं?'' उन्होंने कहा ''थोड़ा-थोड़ा जानता हूं।'' ''तो हम लोग जो बातचीत कर रहे थे, वह क्या आपकी समझ में आ गई?'' अंग्रेजों ने पूछा। ''हां, मैं सब कुछ समझ गया'' विवेकानंद जी ने जवाब दिया। अंग्रेजों ने पूछा—'' तो आपने इसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया?'' स्वामीजी ने कहा, ''माय फ्रेंड्स, दिस इज नॉट दि फर्स्ट टाइम आय हॅव मेट फूल्स'' अर्थात् 'मुझे ऐसे बेवकूफ लोग पहली बार नहीं मिले हैं।' उनके यह कहते ही दोनों के दोनों बड़े क्रूद्ध हो गए कि यह हिन्दुस्थान का आदमी, हम राज्य करने वालों को ''फूल्स'' कहता है। वे उनके साथ झगड़ा करने के लिए खड़े हो गए। जैसे ही वे खड़े हुए स्वामीजी ने उठकर दोनों की गर्दनें अपने हाथों से पकड़कर कहा, ''देखो, मैं तुम्हारे लिए पर्याप्त हूं और अगर तुम गड़बड़ करोगे तो गाड़ी से बाहर फेंक दूंगा।'' यह सुनते ही वे बिलकुल शांत हो गए और बैठ गए। गाड़ी रुकने के बाद वे उतरे और दूसरे डिब्बे में चले गए। स्वामी विवेकानंद सब लोगों से बराबर कहा करते थे कि शरीर अच्छा रखो, मुर्दे बनकर रहने में कोई मतलब नहीं, अपने अंदर चैतन्य, तेजस्विता और बल चाहिए। वे स्वयं बड़े मल्ल थे। कुस्ती खेलना बहुत अच्छा जानते थे। उनका यह उपदेश ध्यान में लेकर हम लोग विचार करें कि अगर हमें राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा करने के लिए कटिबद्ध होना है, तो उसके लिए शरीर को कार्यक्षम रखना चाहिए। यदि शरीर सबल नहीं रहा तो बहुत इच्छा होने पर भी हम काम नहीं कर सकेंगे। इसीलिए हमें प्रयत्नपूर्वक शरीर में शुद्ध बल प्राप्त करना चाहिए।

परंतु केवल शरीर की ओर ध्यान देने से काम नहीं बनता। मनुष्य का शरीर अगर

बलवाम हुआ और उसके अंदर कोई मन की शक्ति न रही तो उसका बल व्यर्थ होता है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मन की शक्ति बड़ी होती है। इसे यदि अपने शरीर के सामर्थ्य के पीछे खड़ा करने की अपने अंदर पात्रता न हो तो शरीर का सामर्थ्य भी उपयोग में नहीं आता। इसलिए हमें अपने मन को शक्तिशाली तथा निर्भय बनाना आवश्यक है।

मन की शक्ति के संबंध में विचार करेंगे तो हमें दिखाई देगा कि इसमें यदि भटकने की आदत न हो, यदि अच्छे श्रेष्ठ विषय पर अपनी संपूर्ण भाव-भावनाओं को एकत्रित करने का गुण हो और अच्छे श्रेष्ठ विषय पर केन्द्रित होने के कारण मन के अंदर भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षुद्र मोह, अनेक प्रकार के अनिष्ट आकर्षण, अवगुणों की ओर प्रवृत्ति, अनाचार की प्रवृत्ति इत्यादि दुर्गुण न हों, याने मनुष्य यदि सुशील है, सत्प्रवृत्त है और उसने श्रेष्ठ कार्य के लिए कटिबद्ध होकर मन को उस पर केंद्रीभूत किया है तो ऐसे मनुष्य का मन सामर्थ्य युक्त होता है। इस प्रकार का शुद्ध अंतःकरण बनाने के लिए हम लोगों को प्रयत्न करने की बड़ी आवश्यकता है।

अपने अंतःकरण में अनेक प्रकार के बुरे विचार आयेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। मनुष्य के मन के ऊपर मोह का परिणाम जल्दी होता है, यह भी असंदिग्ध रूप से सत्य है। परंतु हम लोगों को सोचना चाहिए कि अपना तो जीवन मनुष्य का है, जरा-जरा से आकर्षण के कारण इधर-उधर दौड़ना अपने लिए ठीक नहीं है। जिस प्रकार कोई मामूली जानवर कहीं भी घास दिखाई दी तो खाने के लिए चला जाता है, वैसे हम भी कहीं भी मोह की वस्तु दिखाई दी तो उसे प्राप्त करने के लिए उधर दौड़ने लग जाएं, तो पशु और हममें कोई अंतर न रहेगा। ऐसे समय हमें विवेक से काम लेकर मन का नियंत्रण करने की शिक्षा स्वतः को देनी और शुद्धत्व की उपासना करनी चाहिए।

कितने ही भारतीय महापुरुषों के जीवन अपने सामने हैं जो पवित्रता के आदर्श बने हुए हैं। जगत् में कितने ही बड़े लोग होंगे, परंतु उनका चरित्र शुद्ध नहीं था। बहुत बड़े पराक्रमी योद्धा के नाते जिस नेल्सन् का नाम लिया जाता है, वह चरित्र से खराब था। उसी प्रकार और भी अन्य बड़े लोगों के उदाहरण मिलेंगे। परंतु प्रभु रामचंद्रजी या अभी-अभी हुए छत्रपति शिवाजी के चरित्रों को यदि हम लोग देखेंगे तो पता लगेगा कि अपने ये महापुरुष निष्कलंक हैं और जगत् के अंत तक सारे संसार की मानव जाति के लिए उनके चरित्र आदर्श के रूप में रहेंगे। अपनी इस परम्परा की हम उपासना करें। कुछ स्खलन होगा, कुछ दोष उत्पन्न होंगे, ऐसे समय हम विचार करें और वैसी भूल फिर से न होने देने का निश्चय करें। ऐसा समझें कि गुणी मनुष्य बनना अपने लिए आवश्यक है। ऐसा कभी भी न मानें कि हमारा व्यक्तिगत जीवन कैसा भी रहा तो क्या होता है, इतना ही देखो कि हम अपने राष्ट्र के लिए काम करते हैं कि नहीं, परिश्रम करते हैं कि नहीं? इस प्रकार कहने से नहीं चलेगा। अगर गंदे पात्र से पानी पिया तो रोगजंतु पेट में जाकर शरीर खराब हो जाता है। इसलिए पात्र भी स्वच्छ रखना चाहिए। केवल जल का स्वच्छ रहना ही पर्याप्त

नहीं है। अतएव इतना कहने मात्र से नहीं होगा कि हम राष्ट्रभक्ति से कुछ काम करते तो हैं। यह काम करने वाला भी अच्छा, स्वच्छ, शुद्ध होना चाहिए, अन्यथा जो काम किया जाता है, वह भी खराब हो जायेगा। जैसे सिक्के के दो पहलू रहते हैं, उसी प्रकार अपने जीवन के दो पहलू हैं। एक पहलू व्यक्तिगत चरित्र का है, वह शुद्ध चाहिए। दूसरा राष्ट्र की दृष्टि से, समाज की दृष्टि से अपना जो व्यवहार है, वह व्यवहार भी चरित्र है। याने स्वार्थ को नियंत्रित करके, राष्ट्र को प्रमुख स्थान देकर उसके लिए अपने जीवन की सर्वशक्ति और अनुकूलता लगाने की नित्य तत्परता और उसमें यदि कष्ट हुए तो उन कष्टों में ही आनंद पाते हुए काम करने की क्षमता अपने जीवन के नित्य व्यवहार में रखना दूसरा पहलू है। यही राष्ट्रीय चरित्र बतलाता है। जो व्यक्ति चारित्र्य के इन दोनों पहलुओं से युक्त है, वही अच्छा है। सिक्के का एक अंग बराबर हो और दूसरा खराब या मिट गया हो तो वह खोटा रुपया है। वह बाजार में नही चलता। अगर चलाने का प्रयत्न किया तो कारागार में जाना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को सोचना चाहिए कि अपना भी चरित्र व्यक्तिगत तथा राष्ट्र समर्पित जीवन की दृष्टि से पूरा रहना चाहिए। ऐसे विशुद्ध मन में विशुद्ध धैर्य का संचार होगा तथा अपने शरीर के बल से उस धैर्य का योग होने से अपनी कार्यशक्ति अत्यंत प्रचण्ड हो जायेगी।

अपने कार्य में कई प्रकार की कठिनाइयां आती हैं। कभी बाहर से संकट आते हैं, कभी अपने अंत:करण में अपने स्वत: के संबंध में कुछ अयोग्य धारणा के उत्पन्न हो जाने से संकट आते हैं। कभी अपने बंधुओं से थोड़ा-बहुत किसी प्रकार का मनोमालिन्य के कारण मतभेद उत्पन्न होने से संकट उत्पन्न होते हैं। जैसे कांटों के रास्ते पर चलते समय मनुष्य को कष्ट होता है, वैसे अनेकविध संकटों से अपना यह रास्ता भरा हुआ है। यदि पैर में जूता न हो या दृष्टि ठीक न हो, तो और भी कष्ट होते हैं। संकटमय जगत् के इस जीवन में अपने कार्य को अपने लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए हमें जो प्रयत्न करना है, उसमें आगे बढ़ने के लिए इस मार्ग से जाने की अपने में क्षमता चाहिए। यह क्षमता कैसे प्राप्त होगी? तो हमें इस प्रकार की योग्य जानकारी चाहिए जिससे हम संकटों का आना समझ सकें, संकटों का स्वरूप समझ सकें, उनमें से पार निकलने का मार्ग प्राप्त कर सकें। हमें इस प्रकार की ज्ञान-सम्पन्नता आवश्यक है। यदि कोई संकट आया, तो उस संकट के सभी पहलुओं का परीक्षण कर, उसमें से मार्ग निकालने की पात्रता अपने में हो और अपने इस सबल मन से अत्यंत प्रभावी बने हुए अपने शारीरिक सामर्थ्य का भी उपयोग कर उस संकटमय मार्ग से पार होते हुए, अपने ध्येय की ओर हम लोग आगे बढ़ सकें। ऐसी जानकारी प्राप्त करने का हमें अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए। यह सोचना उचित नहीं है कि हम कुछ नहीं जानते हुए केवल अपने लक्ष्य को प्राप्त करेंगे और सभी प्रकार की उद्दंडता करते हुए आगे बढ़ेंगे। उद्दण्डता से काम हमेशा नहीं चलता। एक आध बार कभी उद्दण्डता करनी पड़ेगी; परंत साधारणतया उद्दण्डता से कभी काम नहीं होता। संकट भी भिन्न-भिन्न

प्रकार के होते हैं। कॉलेज में जाने पर, नौकरी या व्यवसाय में स्थायी होने पर तथा विवाह होने के बाद स्वयंसेवक में अनेक प्रकार के मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं। विवाह होने पर मनुष्य जल्दी अपने को बूढ़ा और प्रतिष्ठित भी समझने लग जाता है। सोचता है कि एक विशिष्ट प्रकार की सज्जनता का आभास उत्पन्न करके चलना चाहिए, नहीं तो पत्नी घर के अंदर नहीं आने देगी। भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव उसके मन के अंदर उत्पन्न होते हैं। और फिर वह सोचता है कि यह शाखा अपने लिए नहीं है।

अब ये जो संकट है, उनमें उद्ण्डता से काम नहीं चलेगा। वहां पर तो ज्ञान चाहिए, विवेक चाहिए। इस प्रकार विवेक करते आना चाहिए कि कौन सी बात महत्व की है, किसको जीवन में प्रमुख स्थान देना है और कौन सी बात गौण है। विवेक करने के लिए पूर्वजों के उदाहरण अपनी आंखों के सामने रखें, तब हमें ठीक मार्गदर्शन होगा। सिंहगढ़ नाम का प्रसिद्ध किला है। शिवाजी ने उस किले को जीतने का निश्चय किया। तब सब लोगों के सामने तानाजी मालसुरे का नाम आया। वह इतना वीर पुरुष था कि बड़े अभेद्य किले को भी जीत लेता था। इसलिए तानाजी के पास आदमी भेजे गए। जाते-जाते उन्होंने देखा कि तानाजी स्वयं शिवाजी से मिलने आ रहे हैं। वह आकर मिला और शिवाजी को अपने पुत्र के विवाह का निमंत्रण दिया। उसका बड़ा आग्रह था कि शिवाजी को उस विवाह के अवसर पर आना ही चाहिए। तब शिवाजी बड़े चिंतित हो गए। तानाजी ने पूछा "आप चिंतित क्यों हैं", तो उन्होंने कहा, "किले पर आक्रमण करने के लिए तुम्हारा नाम सामने आया, परंतु तुम्हारे घर में तो पुत्र का विवाह है। तुम्हें कैसे कहें, दूसरा कोई इतना योग्य नहीं है।" उन्होंने फिर कहा, "अब तुम मेरी राह मत देखो, अपने पुत्र का विवाह कर लो। मैं स्वयं किले को जीतने के लिए उस पर आक्रमण करने जाता हूं।" तब तानाजी ने बड़े आवेश से कहा, "आप कैसी बातें करते हैं, आप हमारे प्रमुख हैं, आप स्वयं संकट में जाएं और हम पुत्र के विवाह का उत्सव मनाएं? यह बात कैसे हो सकती है? यह नहीं होगा। पुत्र का विवाह चाहे हो या न हो, परंतु आपकी आज्ञा का पालन कर मैं किले को जीतूंगा।" ऐसा कहकर उसने अपने सब लोगों को भेज दिया और उनसे कहा, "जाओ, और बोल दो कि विवाह स्थगित हो गया है।" वह अपनी सेनाओं को सिद्ध करके किले को जीतने के लिए गया। वहां पर वह मारा भी गया। बाद में शिवाजी ने उसके लड़के का विवाह कराया। अब इस तानाजी ने विवेक किया। उसने विचार किया कि घर में पुत्र का विवाह है, एक अत्यंत मांगल्यपूर्ण कार्य है। यह भी ठीक है कि पिता के नाते वहां उसका उपस्थित होना आवश्यक है, परंत इन सबके होते हुए भी राष्ट्र-कार्य की मांग सर्वप्रथम है। पुत्र का विवाह होगा कि नहीं होगा, यह कौन सी बड़ी बात है? यह आगे हो जायेगा। प्रथम राष्ट्र-कार्य है, उसके लिए प्राण गए तो भी परवाह नहीं। किसी एक मनुष्य के प्राण जाने से संसार तो रुकता नहीं। इसलिए उसकी परवाह नहीं, कर्त्तव्य की पूर्ति होनी चाहिए।

अगर अपने पास यह विवेक और योग्य रीति से विचार करने का ज्ञान रहे, तो हमें

सुझेगा कि क्या करना, क्या नहीं करना। इस प्रकार हमने यदि अपने अंतःकरण को शुद्ध, चारित्र्य को शीलसंपन्न, बुद्धि को स्थिर, ध्येय पर अडिग और उस ध्येय के लिए लगने वाले सांगोपांग ज्ञान से युक्त शरीर को भी सक्षम और सबल बनाया और ऐसा सब प्रकार से अपने स्वतः को सिद्ध किया तब तो हम लोग उस प्रकार के धैर्य से प्रेरित होकर अपने कार्य में चल सकेंगे, जिस प्रकार के धैर्य से तानाजी जैसे महावीर पुरुष अपने राष्ट्र को सब प्रकार से विजयी और स्वतंत्र बनाने के लिए प्रयत्न करने में यशस्वी हुए। ऐसे वीरत्व की वृत्ति हम अपने में भरें और उसी वृत्ति को अपने समाज में जगाएं।

वीर का अर्थ केवल मारपीट करनेवाला नहीं है। वीरवृत्ति सभी प्रकार के जीवन के क्षेत्रों में आवश्यक है। यह बात हमें भूलनी नहीं चाहिए। अध्ययन करने बैठे हुए विद्यार्थी में अगर ऐसी पराक्रम और विजयशालिता की वृत्ति है कि चाहे कितना भी कठिन विषय क्यों न हो, मैं उसको ठीक प्रकार से हृदयंगम और बुद्धिगम्य करके परीक्षा में उत्तम रीति से उत्तीर्ण होऊंगा तो वह उत्तीर्ण होगा, नहीं तो नहीं होगा। इस प्रकार की दृढ़ता आग्रह और संकटों के सामने न डिगने की विजिगीषा के बिना मनुष्य श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता। अतः ऐसी विजिगीषु वीरता अपने में रखनी चाहिए, तभी राष्ट्र का जीवन सुखसंपन्न होगा और तभी अपने जीवन में हम श्रेष्ठतम परमार्थ का लाभ पा सकेंगे।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि केवल अपने व्यावहारिक और राजकीय जीवन में ही वीरत्व का उपयोग होता है। अपने देश में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की उपासनाओं के सम्प्रदाय हैं, उनमें से एक सम्प्रदाय में साधना की श्रेष्ठ से श्रेष्ठकर भूमिकाएं बताई गई है। निम्नतम कोटि की भूमिका कौन सी, उससे ऊंची कौन सी, ऐसी भिन्न-भिन्न भूमिकाएं बताई गई हैं। उनमें से अन्तिम भूमिका का नाम ही "वीरभूमि" है। कभी-कभी कुछ लोग जब साधना करने के लिए बैठते हैं तब उनको कई प्रकार के भयभीत करने वाले दृश्य दिखाई देते हैं। उस समय समझदार, जानकार और अनुभवी लोग कहते हैं कि हृदय में धैर्य रखो, डरो मत। यह परीक्षा करने के लिए कि तुम "वीरभूमि" पर आरूढ़ हो गए कि नहीं, कल्पना मात्र के और आभास मात्र के ऐसे दृश्य तुम्हारे सामने आते हैं। उस परीक्षा में हृदय में भीति न आने देते हुए अपना पथ-क्रमण करते हुए आगे बढ़ो। सभी पहलुओं से अगर हम लोग सोचें, तो जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ऐसा असामान्य, धैर्ययुक्त, विजिगीषा की भावना से ओतप्रोत होने वाला वीरत्व का भाव अपने हृदय में रखना चाहिए। जो अपने मन में कहेगा कि यह काम कितना भी कठिन हो, मैं करूंगा, जरूर करूंगा, वही वीर कहलाने लायक है। जो रोते बैठेगा कि काम बहुत बड़ा है, मुझसे कैसे होगा, बड़ी कठिनाइयां हैं, मैं नहीं कर पाऊंगा उसको क्या कोई वीर कहेगा? मनुष्य के सामने कठिन से कठिन कार्य भी लाकर रखा और कहा कि भाई यह कर सकोगे कि नहीं, तो उसने कहना चाहिए कि आपने काम दिया है, फिर कर सकने की बात क्या, जरूर करूंगा, उसमें यश पाऊंगा, सर्वस्व उसके लिए गंवाना पड़ा तो गंवाऊंगा, पर यश प्राप्त करके उसका फल

आपके स्वाधीन करने के बाद ही संतोष पाऊंगा, तब तक नहीं। यह वीरता का लक्षण है। यही राष्ट्र को समृद्धि प्राप्त कराता है। यही भगवान् से भेंट करवाता है। यह वीरत्व, यह विजिगीषा अपने में जागृत करना चाहिए। जब अंतःकरण में इस प्रकार का विशुद्ध, प्रबल और प्रखर भाव जागृत करेंगे कि कृत-संकल्प होकर दृढ़ निश्चय से काम करने में कभी मेरा कदम पीछे नहीं हटेगा तब कार्य करने में सभी प्रकार का यश मिलेगा। इस प्रकार का यश संपादन करने की दृष्टि से अपने को ठीक प्रकार से गठित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

परंतु उसके साथ यह भी विचार करना है कि यद्यपि मनुष्य इन सब गुणों से युक्त हो तो भी उसको एक विशेष गुण की आवश्यकता रहती है, जिससे वह यश पाता है। अब तक अपने संपर्क में जो आए नहीं उनके पास हमें जाना है, उनसे बातचीत करनी है, उनके साथ सहानुभूति का, निष्कपट स्नेह का व्यवहार और अंतःकरणपूर्वक संबंध प्रस्थापित करना है। इस प्रकार की स्थिति निर्माण करना है कि उनके और अपने बीच में एकात्मभाव अभिव्यक्त होता रहे। समाज के साथ सम्पर्क करते समय हमें सोचना चाहिए कि यदि अपने में कोई अवगुण होगा तो समाज के व्यक्तियों के साथ हम योग्य रीति से व्यवहार नहीं कर सकेंगे। उनके साथ बोल भी नहीं सकेंगे और उन पर अपने बोलने का कोई परिणाम नहीं होगा। इसलिए अपने व्यवहार को शुद्ध और स्नेह सम्पन्न बनाना पड़ता है। सब प्रकार की सहायता करने के लिए और कष्ट उठाने के लिए नित्य तत्परता जिसमें है, उस प्रकार की जीवन-पद्धति को स्वीकार करके हमें चलना पड़ता है। तभी सब लोगों के अंतःकरण में हमें स्थान प्राप्त होता है। तब हम अपने विचार सब बंधुओं के अंतःकरण में प्रस्थापित कर उन्हें अपने सहयोगी के रूप में कार्य में लाकर खड़े कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के भिन्न-भिन्न लोग अपने संबंध में आते रहते हैं, इन सब संबंधों में हमें माधुर्य भर देना चाहिए।

वाणी का भी माधुर्य चाहिए। सच परंतु मधुर बोलना चाहिए, कटु सत्य नहीं। यह नहीं कहना चाहिए कि मैं बड़ा अक्खड़ आदमी हूं और उद्दंड बात करूंगा। सच तो बोलना चाहिए, परंतु इस प्रकार की मीठी भाषा में कि जो सुनने वाला है उसके हृदय को चोट न पहुंचते हुए वह उस सत्य को ग्रहण करेगा। अब मैं एक उदाहरण देता हूं। एक राजा था। उसे ज्योतिषियों से अपना भविष्य समझ लेने की बड़ी उत्सुकता रहती थी। परंतु राजा होने के कारण कोई अनिष्ट बात सुनने का उसे अभ्यास ही नहीं था। उसने एक ज्योतिषी को बुलाया और अपनी जन्मपत्री उसके सामने रखकर उससे पूछा कि "मेरा भविष्य कैसा है, बताओ।" तो उस ज्योतिषी ने वह जन्मपत्रिका पूरी पढ़कर कहा कि "सब कुछ तो अच्छा है, परंतु एक बात बहुत खराब है, आपको अपने पुत्र की मृत्यु का दुःख होगा।" राजा को बड़ा क्रोध आ गया। राजा ने उसे कारागार में डाल दिया। कई ज्योतिषी उस राजा के पास धन की अपेक्षा से आते रहे और कारावास भोगते रहे। फिर एक बड़ा ज्योतिषी राजा के

पास पहुंचा। उसने वह जन्मपत्री पढ़ी तो जो अन्य ज्योतिषियों को दिखाई दिया था वही उसे भी दिखाई दिया। परंतु उसने राजा से कहा कि "महाराज ! मैंने इतनी अच्छी जन्मपत्री अब तक की अपनी पूरी आयु में नहीं देखी, बहुत उत्तम है। भगवान् ने आपको ऐसी दीर्घायु दी है कि आप अपने हाथ से अपने पौत्र को राजा की गद्दी पर बैठाएंगे।" राजा ने कहा, "वाह ! वाह ! बहुत अच्छी बात बताई।" ज्योतिषी को उसने बहुत बड़ा पुरस्कार दिया। अब उस ज्योतिषी ने वही सत्य बात बताई पर मीठी भाषा में। हमें भी सत्य से पूर्ण परंतु माधुर्य से युक्त बोलना चाहिए। अगर वाणी कटु रही तो कौन अपना बोलना सुनने के लिए आयेगा? अपनी वाणी की मधुरता की अनुभूति और ऐसी अनुभूति की उसमें सत्य पूरे प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है, जब लोगों को भाती है, तो लोग अपने पास आते हैं। हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे प्रति प्रत्येक के हृदय में एक आदर, आत्मीयता, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास का भाव उत्पन्न हो।

अपने पड़ोसी के यहां कोई कष्ट हो और यदि हम लोगों ने उस कष्ट की किसी प्रकार की चिंता नहीं की और केवल आते-जाते रहे, तो पड़ोसी का धर्म हमने नहीं निभाया। वास्तव में प्रत्येक के पास नित्य जाकर पूछताछ कर उसे कष्टमुक्त करने के निमित्त तत्परता से सिद्ध होकर आगे बढ़ना चाहिए। ऐसा सोचना बड़ी भूल है कि मैं कोई विशिष्ट प्रतिष्ठित हूं और मैं किसी की सहायता करने के लिए क्यों जाऊं? हमें यह समाज-धर्म, अपने पड़ोसी के संबंध में अपना कर्त्तव्य पूर्ण करना इत्यादि सभी बातों का योग्य रीति से विचार कर अपना व्यवहार ठीक रखना चाहिए। अच्छा व्यवहार, अच्छी ध्येयनिष्ठा और अपने संघ-कार्य में अत्यंत उत्कृष्ट और कठोरता से चलने वाली अपनी नियमितता का नियम, इन सब बातों का परिपालन करते हुए हम लोग यदि चलें तो लाभ होगा। तब अपने अंदर वे सब गुण आएंगे जिनके द्वारा अपने कार्य की वृद्धि, विस्तार, दृढ़ीकरण इत्यादि करने में हम यशस्वी हो सकेंगे।

इस प्रकार से अपनी गुण-वृद्धि करते समय हमें एक और बात का ध्यान रखना चाहिए। जब मनुष्य गुणवान बन जाता है तो उसमें एक प्रकार का अभिमान हो जाता है। अभिमान के कारण और लोगों के साथ व्यवहार करते समय या तो उनको तुच्छ और छोटा मानकर चलता है, या इस प्रकार की भावना से बातचीत करता है कि हम बड़े ऊंचे स्थान पर हैं और बाकी के लोगों से बातचीत करके उन पर हम लोग कृपा कर रहे हैं। यह अच्छा नहीं है। यह हमें अपने कर्त्तव्य से गिरा देगा। जो कुछ थोड़ा बहुत कर्तृत्व अपने में होगा वह भी नष्ट हो जायेगा। मनुष्य को इस भयंकर अभिमान के दोष से अपने स्वतः को सदैव मुक्त रखना चाहिए। यह नित्य सोचना चाहिए कि वास्तविक सर्वश्रेष्ठ गुण तो इस अपने समष्टिरूप राष्ट्र-पुरुष के हैं जो एक श्रेष्ठ एवं ईश्वर स्वरूप महान विराट देह है। इस प्रकार की भावना अपने हृदय में दृढ़ होने के लिए अपने परमपूज्य संघ निर्माता नित्य कहते थे कि अपना जो कार्य एहै वह ईश्वरीय है। इस प्रकार की धारण और श्रद्धा प्रत्येक के हृदय

में जागृत करने में दो उद्देश्य सफल होते हैं। एक उद्देश्य यह है कि कार्य भगवान् का है और भगवान् के सर्व-समर्थ, सर्वशक्तिमान् होने के कारण उसे मेरे जैसे किसी दूसरे आदमी की आवश्यकता नहीं है, परंतु मैं उसके हाथ में एक उपकरण मात्र हूं। दूसरा लाभ यह होता है कि अपने अंतःकरण में विश्वास होता है कि भगवान् ने अपने सम्मुख जीवन में आविष्कार के हेतु धर्म की रक्षा, अधर्म का विनाश, धर्म के अनुयायियों और पालनकर्ताओं का संरक्षण और इनके विरोधी और द्वेष्टा व्यक्तियों के नाश के जो चतुर्विध कार्य बताए हैं वे कार्य हमें भी करना है। धर्म को उत्तम और श्रेष्ठतम जीवन की प्रणाली समझकर उसका आचरण करना, अपने इस महान् पवित्र प्राचीन काल से चलते आए धर्म के आचरणकर्ताओं का याने महान् हिन्दू समाज का रक्षण करना, जो इनके विरोधी हैं उनके संबंध में कठोरता से खड़े होने की शक्तिसंपन्न अवस्था कायम रखना और इसके लिए परिपूर्ण सिद्धता करना ईश्वरीय कार्य के नाते अपना कर्त्तव्य हो जाता है। इन दोनों प्रकार से विचार करके अपने यहां बताया जाता है कि यह ईश्वरीय कार्य है। हमने प्रार्थना में भी कहा है कि हमने तेरे कार्य के लिए कमर कसी है—"त्वदीयाय कार्याय वद्धाकटीयम्"।

ध्येय के साथ एकरूपता होगी, उठते-बैठते, सोते-जागते, सभी समय अपने अंतःकरण में, अपने जीवन में, ध्येय का स्पंदन चलता रहेगा, तो अपने शब्दों में सामर्थ्य आयेगा। जिनसे बात करेंगे वे अपनी बात मानेंगे। जिसको कुछ करने के लिए कहेंगे, वह करने के लिए तैयार होगा। जिसके सामने अपना सिद्धांत रखेंगे वह उसे मानेगा। यह हमें समझ लेना चाहिए कि अगर अपने कहने पर अपने सामने बैठा हुआ आदमी अपने सिद्धांत को अमान्य करता है तो अपनी तपस्या कुछ कम पड़ी है। उसको बढ़ाना चाहिए। अपना ध्येयचिंतन कुछ मंद है, कमजोर है, तो उसको तेजस्वी और बलवान करना अपना काम है। दूसरों को दोष नहीं देना चाहिए। सोचना चाहिए कि अपने अंदर ही कमी है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृ० १३-२२)

* * * *

प्रत्येक स्वयंसेवक आदर्श बनने का प्रयास करे। प्रत्येक इस दृढ़ निश्चय से परिपूर्ण हो कि मैं अंतःस्फूर्ति से राष्ट्र की सेवा करूंगा। मैं उस कार्य के लिए समग्र जीवन समर्पित करूंगा। राष्ट्र की सेवा से मेरा पैर कभी पीछे नहीं हटेगा। सब प्रकार से उत्तम शरीर, उत्तम मन, स्थिर निश्चयात्मक और सब प्रकार से समझदार बुद्धि और हृदय में आत्म-विश्वास की उमंग वीरत्व की विजिगीषा आदि गुणों से युक्त होकर स्वयं का एक आदर्श स्वयंसेवक का जीवन बनाने का प्रयत्न करना है। सब लोगों के जीवन ऐसे ही बनने से, उनके अंदर सुसंगठितता, अनुशासनबद्धता के कारण उत्पन्न होने वाली संघ-शक्ति निरंतर विजयशालिनी रहेगी। संघ-शक्ति के निरंतर विजयशालिनी होने के कारण सब संकटों को परास्त करते हुए, अपने इस राष्ट्र को "यावच्चंद्र-दिवाकरौ" वैभव से,

सुसम्पन्नता से, सब प्रकार की समृद्धि से, गौरव से, सम्मान से, जगद्गुरू के पद पर आरूढ़ कराने में हम यशस्वी हो सकते हैं। यह कार्य हमें करना है।

इसी दृष्टि से ''राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ'' यह संपूर्ण नाम हम सबके सामने रखा गया है। हम लोगों को इस नाम का विचार करते हुए सोचना चाहिए कि अपना यह राष्ट्र है और इस राष्ट्र को संघबद्ध करने वाला मैं स्वयंसेवक हूं। अपने अंत:करण की प्रेरणा मैं जागृत रखूंगा। उसमें किसी सुख की अभिलाषा, या इस प्रकार की अभिलाषा की मुझे कोई पारितोषिक मिलेगा अंत:करण में न आने देते हुए, निरलस होकर, पूर्ण शक्ति लगाकर मैं, ''स्वयंसेवक'' अपने इस अभिधान को सार्थ करता हुआ, इस संघबद्ध शक्ति के निर्माण के कार्य में जीवन का प्रत्येक क्षण आमरणांत लगाऊंगा, इस प्रकार निश्चय करते हुए अपना कर्त्तव्य पूर्ण करने के लिए हमें आगे बढ़ना है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृ० २५-२६)

१७

अत्यन्त सरल कार्यक्रम

हमारी कार्यपद्धति सरल है। प्रतिदिन शाखा पर भगवा ध्वज की छात्रछाया में एक घंटे एकत्रित आकर हम शारीरिक और बौद्धिक कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। शाखा में हिन्दू समाज के अधिकाधिक लोगों को सम्मिलत करने के लिए लोगों से मिलने, उन्हें संघ स्थान पर लाने तथा अपनी विचारधारा समझाने का हम प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टि से संघ का कार्य दिन भर ही चलता रहता है। लोगों से मिलने, उन्हें अपनी विचारधारा और कार्यपद्धति से परिचित कराने, अपने कार्य के प्रति उनकी सहानुभूति प्राप्त करने का काम हम प्रतिदिन करते हैं। और इस कार्य को कुशलतापूर्वक करने तथा उसकी पूर्ति के लिए अपनी दैनंदिन शाखाओं का संचालन करने की शिक्षा ग्रहण करने के लिए हम एकत्रित होते हैं।

आज लोगों का जीवन इतना अस्तव्यस्त तथा अनुशासनहीन हो गया है कि नियमपूर्वक काम करने की पात्रता कम हो गई है। लोगों के सामने कोई लक्ष्य नहीं रहा इसलिए नियमित कार्य में उनकी रुचि नहीं रही। वह उनको कष्टदायक लगता है।

यदि हम अपने कार्यक्रमों की दृष्टि से सोचें, तो वे अत्यन्त सरल हैं। यदि ठीक ध्यान रहा, तो सभी स्वयंसेवक उन्हें अच्छी प्रकार से सीख सकेंगे। परन्तु यदि हमारा ध्यान नहीं रहा, तो हम कुछ भी नहीं सीख सकेंगे। नागपुर के एक संघ शिक्षा वर्ग में मासभर एक स्वयंसेवक को चलना सिखाने के लिए एक स्वतंत्र शिक्षक देने पर भी वह कुछ नहीं सीख सका। उससे पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसका मन सीखने में नहीं था। अब मैं अपना अनुभव बताता हूँ। संघ शिक्षावर्गों के कार्यक्रमों की शिक्षा प्राप्त करने का मुझे अवसर ही नहीं मिला। मैंने जब सोचा तब अपने संघ निर्माता ने शिक्षार्थी के बजाय मुझे सर्वाधिकारी बना

दिया। फिर भी एक दिन मैंने अपनी सायं शाखा के मुख्य शिक्षक से कहा कि मुझे इन कार्यक्रमों की शिक्षा दीजिए। उसने शाखा "वीकिर" होने के बाद सिखाना प्रारंभ किया। सिद्ध से लेकर दण्ड की नौ क्रमिकाएं, चतुष्क, युद्धयोग और द्वंद्व का भी अंश उसने पढ़ाया, और मैंने केवल ४५ मिनट में सीख लिया। आज ४० वर्षों के बाद भी मुझे वह सब याद है। मुझे विश्वास है कि कोई भी स्वयंसेवक मन लगायेगा तो प्रथम अथवा द्वितीय वर्ष का अभ्यासक्रम एक सप्ताह में पूरा कर सकेगा। बाकी समय उसके अभ्यास के लिए रहेगा।

इस सम्बंध में एक दूसरा उदाहरण बताता हूं। विदर्भ प्रान्त के अकोला नगर में संघ शिक्षावर्ग का आयोजन किया गया था। केवल प्रथम वर्ष की शिक्षा के लिए वर्ग लगा था। वर्ग लगने के कुछ पूर्व, अपने कुछ कार्यकर्ता उस प्रान्त में छोटे-बड़े स्थानों पर शाखा प्रारंभ करने गए थे। इन स्थानों से कार्यकर्तागण, वर्ग के लिए स्वयंसेवक ले आए। अधिकांश स्वयंसेवक देहातों के थे। वे किस स्तर के थे इसका उदाहरण बताता हूं। जब वह वर्ग चल रहा था उसी समय अपने संघ-निर्माता डॉक्टर जी पूना के संघ शिक्षावर्ग की समाप्ति के बाद रेलगाड़ी से नागपुर जा रहे थे। हम लोगों ने सोचा कि वे अकोला रुक नहीं सकेंगे, अतः अपने स्वयंसेवक बंधुओं की भेंट उनसे कराने के लिए स्टेशन पर पहुंचे। डॉक्टर जी को इस बात का पता था कि हम लोग स्टेशन पर उनसे मिलने वाले हैं। उन्हें देखकर हम सभी उस डिब्बे के सामने जाकर खड़े हो गए। उसी समय एक स्वयंसेवक भागता-भागता इंजिन की ओर गया। पता नहीं उसने क्या देखा। फिर इधर-उधर भागता हुआ बिलकुल पीछे की ओर गया। फिर दुबारा वापस इंजिन की ओर दौड़ने लगा, तो उसे पकड़कर पूछा, "अरे, कहां भाग रहा है? जिनको मिलने के लिए हम आए हैं, वे तो यहीं खड़े हैं।" उसने कहा, "ठीक है, लेकिन मैं यह देख रहा था कि इतनी बड़ी गाड़ी को खींचने के लिए बैल कैसे होंगे?" उसने अपनी १६-१८ वर्ष की आयु में बैलगाड़ी छोड़कर दूसरा वाहन भी नहीं देखा था। परन्तु जब वर्ग का समारोप हुआ तो विभिन्न शारीरिक कार्यक्रमों के प्रदर्शन में इन्हीं स्वयंसेवकों ने हिस्सा लिया। जनता में से कुछ लोगों ने मुझे कहा कि ये ग्रामीण स्वयंसेवक बहुत कुशल हो गए हैं। उन्होंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"ये पहले कहीं शिक्षा ग्रहण कर आए थे, अथवा इन्होंने यहीं पर सब सीखा है?" मैंने कहा, "यहीं सीखा है। जब यहां आए थे, तब बिलकुल कोरे थे। इनमें से बहुत से स्वयंसेवक रेल गाड़ी तक नहीं जानते थे।" बहुत आश्चर्यचकित होकर उन्होंने कहा, "तब तो इन तीस दिनों में जो कुछ भी इन्होंने सीखा है, वह एक चमत्कार है।" मैंने अपने मन में सोचा कि इसमें चमत्कार कुछ नहीं है। वर्ग के कार्यक्रम अत्यन्त सरल हैं।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० १-३)

* * * *

मैंने प्रारंभ में बताया कि दैनिक शाखा कुशलता के साथ चलाने की शिक्षा हमें ग्रहण

करनी है। हम अधिक योग्यता तथा सफलता से अपने बंधुओं को एकत्र कर सकें, उनके साथ बन्धुता के सम्बन्ध निर्माण कर सकें, शाखा के अनेकविध कार्यक्रमों में से सब मिलकर अपने लिए अपेक्षित अवस्था निर्माण कर सकें, इन सारी बातों की शिक्षा हमें ग्रहण करनी है।

उत्तम तथा सुरक्षित जीवन चलाने के लिए समाज के लिए जो शक्ति अनिवार्य है, वह अपनी इसी शाखा-पद्धति से जागृत होगी। इस संगठित शक्ति के बल पर हम अपने स्वतः के पराक्रम से जगत् में आवश्यक सभी प्रकार की सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकेंगे तथा सभी प्रकार के संकटों का निवारण कर सकेंगे।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० ४)

१८
मौलिक सेवा

प्रश्न उपस्थित होता है कि समाज-सेवा का रास्ता क्या हो? समाज सेवा अनेक प्रकार से की जा सकती है। समाज-सेवा के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। कोई शिक्षा-प्रसार करते हैं, कोई रोगियों की सेवा करते हैं तथा कोई निसर्ग के प्रकोप के समय उत्पीड़ित लोगों की सहायता करते हैं। जहां-जहां समाज में दुःख और आपत्ति दिखाई पड़े वहां-वहां पहुंचकर सहायता पहुंचाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। ये सारे कार्य अभिनन्दनीय हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि संघ में हमने इन कार्यों को अपना लक्ष्य क्यों नहीं बनाया? समाज-संगठन को ही अपना उद्देश्य क्यों माना? इसका हम विचार करें।

अपने संघ-निर्माता केवल सतही विचार नहीं करते थे। उन्होंने सोचा कि वर्तमान सामाजिक दुरवस्था का कारण है पिछली अनेक शताब्दियों से सम्पूर्ण समाज-जीवन का अस्तव्यस्त होना। उनके जीवन के एक प्रसंग से यह बात विशेषतः स्पष्ट होती है। एक बार जब वे बम्बई गए थे, तब वहां के एक अनाथालय के प्रमुख ने उन्हें संस्था देखने के लिए बुलाया। डॉक्टर जी वहां गए। कार्य निरीक्षण करने के बाद संस्था के कार्यकर्ताओं ने इस समस्या को हल करने के विषय में उनका अभिप्राय पूछा। डॉक्टरजी ने कहा, "भाई, अनाथालय खोलने की अपेक्षा अपने समाज में कोई अनाथ ही न बन जाए ऐसा प्रयत्न करना कितना अधिक अच्छा होगा? समाज की ऐसी स्थिति बनायें कि कोई अपने को अनाथ अनुभव ही न करे। किसी के ऊपर कोई आपत्ति आए तो उसका पड़ोसी स्वाभाविक रीति से उसकी देखभाल के लिए आगे आए। ऐसा स्नेह, इतनी आत्मीयता तथा सहानुभूति की भावना, समाज में निर्माण करने का हम प्रयन्त क्यों न करें? जब शरीर का रक्त दूषित हो जाता है, तब अनेक प्रकार के फोड़े होते हैं। यदि एक-एक फोड़े की मरहम-पट्टी करते गए, तो एक फोड़ा ठीक होने लगेगा कि दूसरे निकल आएंगे। इस प्रकार उनका इलाज

कहां समाप्त होगा? अशुद्ध रक्त यदि फोड़ों का कारण है तो ऊपरी उपचार से काम नहीं बनेगा। रक्त शुद्ध करना ही रोग दूर करने का मूलगामी उपाय है।" इस प्रकार अपने डॉक्टरजी समस्या के मूल कारण का विचार करनेवाले थे। उन्होंने अपने समाज के मौलिक दोषों का पता लगाकर, उन्हें दूर करने का संकल्प किया।

इसके लिए डॉक्टरजी ने इतिहास को साक्षी बनाया। इतिहास बताता है कि एक समय अपने समाज का जीवन बहुत सुखी और समृद्धिशाली था। तब यह समाज इतनी सुस्थिति में था कि कोई भूखा, निराश्रित, वस्त्रहीन तथा असुरक्षित नहीं था। इस संदर्भ में एक कीर्तनकार की कथा का मुझे स्मरण हो रहा है। हम समाज के समष्टिरूप को भगवान समझते हैं, और अपने यहां उसका वर्णन सबको भोजन कराने वाला अर्थात विश्वंभर किया गया है। कीर्तनकार के मुंह से मैंने यह कथा सुनी थी कि एक बार नारद ने भगवान की परीक्षा लेने के लिए कुछ चींटियों को एक डिबिया में बंद करके उसे अपनी अंटी में रख लिया। उसके बाद वीणा बजाते हुए विश्व-भ्रमण के लिए चल पड़े। कुछ घंटों बाद वे पुनः भगवान विष्णु के पास पहुंचे। भगवान भोजन करके लेटे हुए थे। नारद ने उनसे पूछा, "क्या भोजन हो गया?" विष्णु ने कहा, "नित्य क्रम के अनुसार अखिल प्राणि-सृष्टि की क्षुधा तृप्ति होने के पश्चात् मैं भी भोजन कर चुका हूं।" नारद ने कहा, "मैंने डिबिया में जिन चींटियों को बन्द कर रखा है, उन्हें तो किसी ने भोजन नहीं कराया है, और आप कहते हो तो कि सबका भोजन हो गया?" भगवान बोले, "अरे रे, बड़ा अपराध हो गया। अभी निकालो उन चींटियों को।" नारद ने डिबिया खोली, तो वे क्या देखते हैं कि प्रत्येक चींटी के मुंह में शक्कर का दाना है। नारद के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। विष्णु बोले, "देखो, मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया कि नहीं?" इस काल्पनिक कथा में, हमारे समाजरूपी भगवान की सुस्थिति का वर्णन है। इतिहास कहता है कि इस देश में कोई भी व्यक्ति भूखा, प्यासा, निराश्रित नहीं रहता था। इतना ही नहीं, यहां के लोग पशु-पक्षी, यहां तक कि चींटियों को भी भोजन कराने का नित्य व्रत पालन करते थे।

परन्तु आज समाज की वैसी सुस्थिति नहीं रही है। यह दुःस्थिति कैसे उत्पन्न हुई? इतिहास बताता है कि पिछले बारह सौ वर्षों में बाहर के लोग इस देश पर बार-बार आक्रमण करने के लिए आए और यहां की सम्पूर्ण राजसत्ता के स्वामी बन गए। अपने समाज को दासता स्वीकार करनी पड़ी। आक्रमण के फलस्वरूप सम्पत्ति नष्ट हो गई और दासता के कारण गुणों का लोप हो गया।

अब प्रश्न उपस्थित है कि आक्रमणकारियों से यह देश पराजित क्यों हुआ? क्या आक्रमणकारी हमसे अधिक बुद्धिमान, पराक्रमी या साधन सम्पन्न थे? ऐसा तो नहीं था। फिर हम पराभूत क्यों हुए? इतिहास में गहराई से खोजने पर पता चलता है कि बहुत दीर्घकाल तक निष्कंटक रूप से सुख-समृद्धिपूर्ण जीवन का उपभोग करते-करते हम लोग क्रमशः आलसी, ईर्ष्यालु तथा स्वार्थी बन गए। एकता नष्ट हो गई। छोटे-छोटे राज्यों में

देश को बांटकर, आपसी कलह में मग्न हो गए। जहां आपस में संघर्ष होने लगते हैं, वह समाज टिक नहीं पाता। इसलिए अपने विद्वान् पूर्वजों ने चेतावनी दी है कि जिस प्रकार जंगल में हवा के प्रकोप से एक ही वृक्ष की शाखाएं आपस में रगड़ी जाकर अग्नि पैदा करती है और उसमें वह वृक्ष और उसके साथ सम्पूर्ण वन भस्मसात् हो जाता है, उसी प्रकार समाज भी आपसी द्वेषाग्नि-कलहाग्नि से नष्ट हो जाता है। जहां आपसी कलह होती है, वहां शक्ति का क्षय अवश्यंभावी है। अतः देश में दुर्बलता आई। दुर्बलों की सम्पत्ति लूटने की इच्छा सभी को होती है। अपने देश पर विदेशियों के जो आक्रमण हुए, उसका कारण यही है। आक्रमणकारी पहले-पहले तो यहां का धन लूटकर ले गए। परन्तु उनको दिखाई दिया कि एक राज्य पर आक्रमण हुआ तो पड़ोसी राज्य सहायता के लिए नहीं दौड़ता। यही नहीं, अपने पड़ोसी राज्य को नष्ट करने के लिए, वह विदेशी सहायता भी मांगता है। तब उन्होंने सोचा कि यहां के इन छोटे-छोटे राज्यों को नष्ट करके स्वयं ही इस देश का स्वामी क्यों न बना जाए? भारत पर आक्रमणों और उससे उत्पन्न गुलामी का यही इतिहास है।

इतिहास का यह बोध है कि जब तक समाज में अपने स्वत्व का अभिमान जागृत रहा और उसके कारण भूमि, धर्म, संस्कृति तथा राष्ट्र की एकात्मता की भावना विद्यमान रही, तब तक इस समाज की ओर आंख उठाकर देखने का भी साहस किसी को नहीं हुआ। परन्तु एकात्म जीवन का विस्मरण होते ही छोटे-बड़े अनेक स्वार्थ घुस आए, सत्ता-लोभ में राज्य आपस में टकराने लगे, इससे निर्बलता आई और गुलामी सहित अनेक प्रकार की दुर्दशा इस समाज को भोगनी पड़ी।

इसलिए इतिहास का यह निष्कर्ष है कि यदि सब प्रकार की दुर्दशा को दूर हटाना है, तो उत्तम संगठित समाज-जीवन खड़ा करना होगा। यही है सबसे उत्तम मौलिक सेवा, जो हम कर रहे हैं। राष्ट्र की सुसंगठित अवस्था निर्माण करना ही हमारा काम है। परम पूज्यनीय डॉक्टरजी कहा करते थे कि हमें इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना है। समाज के साथ एकात्मभाव स्थापित कर स्वत्वबोध का जागरण किया, तो स्वसामर्थ्ययुक्त समाज अपने ही बलबूते पर सब वैभव और यश प्राप्त कर लेगा। इसी विचार से, संघ ने समाज-संगठन का लक्ष्य स्वीकार किया है।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० ७-९)

१९

शक्ति और शील का स्रोत

सम्पूर्ण शक्ति का मूल स्रोत है समाज। अन्य बातें साधन मात्र हैं। अतः उसे विशुद्ध तथा प्रबल बनाना आवश्यक है। इसलिए संघ ने हिन्दू समाज को संगठित करने का लक्ष्य सामने रखा है। राष्ट्र की शक्ति समाज के सूत्रबद्ध तथा राष्ट्रभक्तिपूर्ण व्यक्तियों से बने हुए संगठन में ही रहती है। उसी का निर्माण करना अपना परम कर्तव्य है।

संगठन से शक्ति आती है। अतः हमें अपने हिन्दू समाज को संगठित करना चाहिए यह बात तो अपने संघ के निर्माण के ५०-७५ वर्ष पहले ही अनेक बड़े लोगों ने उत्तम युक्तिवाद के साथ प्रस्तुत की थी। सिद्धान्त तो सब जानते थे, परन्तु उसे प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने की पद्धति किसी के पास नहीं थी। पद्धति, रचना तथा व्यवस्था के बिना, सिद्धान्त कोरा सिद्धान्त ही रहता है। उसका कोई उपयोग नहीं होता। उत्तम लक्ष्य का उच्चारण मात्र करने से वह साध्य नहीं होता है। उसी प्रकार केवल संगठन करो कहने से समाज संगठित नहीं होता है। परम पूजनीय डॉक्टरजी की यह विशेषता थी कि उन्होंने उच्च सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए एक कार्यपद्धति का भी निर्माण किया।

अब यह संगठन कैसे निर्माण करना चाहिए? इसका विचार करना पड़ेगा। जिन व्यक्तियों का संगठन करना है उनमें परस्पर आत्मीयता, बन्धुता एवं परस्पर सहायता करने का गुण, सुख-दुःख में समरस होने का भाव जागृत करना आवश्यक है। बिना परिश्रम के यह संभव नहीं है। अतः इसके लिए नित्य परिश्रम करने की सिद्धता होनी चाहिए।

इसके साथ ही व्यक्ति-व्यक्ति के शरीर, मन तथा बुद्धि की सम्पूर्ण शक्ति परस्पर जोड़कर, उसका सामंजस्य से उपयोग करने की क्षमता उत्पन्न करनी पड़ेगी। अब

शरीर, मन तथा बुद्धि तीनों का सामंजस्य होता है, सबकी शक्तियां एक दूसरे के साथ सुव्यवस्था से काम करने में लगती हैं, तब उसे अनुशासन कहते हैं। ऐसा अनुशासनयुक्त समाज सच्चे अर्थ में संगठित अतएव बलवान रहता है।

केवल कुछ शारीरिक क्रियाएं एक साथ कर लीं किन्तु मन भटकनेवाला हो, हरएक के मन की भावनाएं अलम-अलग हों, तो थोड़ा समय बीतते ही हर एक मनुष्य के मन की लहर के अनुसार शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं में लगकर परस्पर का मेल टूट जायगा। अतः मन के अंदर समान प्रेरणा तथा समान भावना चाहिए। इसके लिए बुद्धि के सामने समान लक्ष्य होना आवश्यक है। थोड़ा "लेफ्ट-राइट" कर लिया तो अनुशासन आ गया, ऐसा थोथा विचार नहीं करना चाहिए।

सबकी बुद्धि एक निश्चय पर स्थिर और दृढ़ हो, उससे नियंत्रित अन्तःकरण में एक ही महान प्रेरणा जागृत हो, उसके फलस्वरूप सभी शारीरिक क्रियाओं में सुव्यवस्था हो, ऐसी हमारी अनुशासन के सम्बन्ध में धारणा है।

कुछ शारीरिक शिक्षा देने मात्र से अनुशासन का भाव निर्माण होता है, ऐसी धारणा लेकर जिन लोगों ने कार्य किया है, वे अनुशासन निर्माण नहीं कर पाए इसके कई उदाहरण मिलते हैं। अपने देश के शासन ने, विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्रों की उदण्डता, स्वच्छंदता और अनुशासनहीनता देखकर, छात्रों में अनुशासन निर्माण करने की दृष्टि से एक योजना, "नेशनल डिसिप्लिन स्कीम" (राष्ट्रीय अनुशासन योजना) बनाई थी। उस कार्य का भार, नेताजी सुभाष बोस की आजाद हिन्द फौज के एक कट्टर देशभक्त को सौंपा गया था। उन्होंने इस काम के प्रचार के लिए देशभर का दौरा करके, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में उस योजना का प्रारंभ किया। धन की कोई कमी नहीं थी, क्योंकि सरकार उसके पीछे थी। उस योजना के अन्तर्गत कई कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

एक बार प्रवास में मैं दिल्ली गया तो उनके एक सहकारी मुझसे मिलने आए। वैसे योजना के प्रमुख के ही मिलने की बात थी, परन्तु कार्यव्यस्तता के कारण वे न आ सके। बातचीत में राष्ट्रीय अनुशासन योजना के प्रमुख सहकारी ने मुझसे कहा, "सुना है आपके संघकार्य में अनुशासन है।" मैंने कहा, "हां, मैंने भी सुना है।" उन्होंने पूछा, "आप यह अनुशासन कैसे उत्पन्न कर रहे हैं?" मैंने उनसे पूछा, "क्यों, आप नहीं करते क्या?" उन्होंने कहा, "हम प्रयत्न तो बहुत करते हैं। सारे नौजवान बड़ी अच्छी तरह से कार्यक्रम कर लेते हैं। परन्तु कार्यक्रम से छुट्टी मिलते ही सड़कों पर वे उदण्डता करते हैं। ऐसा लगता है कि अनुशासन उत्पन्न करने के स्थान पर हम उदण्डता ला रहे हैं।"

मैंने उनसे कहा कि अनुशासन लाने के लिए सामान्यतः दो तरीकों का प्रयोग किया जाता है। पहला दण्डित करना और दूसरा प्रलोभन दिखाना। ईश्वर की कृपा से ये दोनों

बातें हमारे संघकार्य में नहीं है। हम किसी को डराते नहीं, डरा सकते नहीं, और डराना-धमकाना हमारा काम भी नहीं। प्रलोभन हम किसी को देते नहीं। उलटे संघशाखा में आने वाले स्वयंसेवकों को अपना स्वयं का खर्च करके कार्यक्रमों को सफल बनाना होता है। सरकारी धमकियां भी, कि नौकरी से निकाल दिए जायेंगे, उन्हें मिलतीं। फिर भी "जहां लात मारेंगे वहां पानी निकालेंगे" वाली हिम्मत से काम करते हुए लोग यहां अनुशासन का पालन करते हैं।

तब संघ में अनुशासन रहने का कारण क्या है? मैंने उन्हें कहा कि मनुष्य स्वयं पर कठोर से कठोर अनुशासन के बंधन बहुत आनन्द से उस समय स्वीकार कर लेता है, जब उसको यह अनुभव होता है कि उसके द्वारा कोई महान कार्य संपादित होने जा रहा है। हमने स्वयंसेवकों के समक्ष सीधा और सरल सत्य, लक्ष्य के नाते रखा है कि यह हमारा देश है, यह हिन्दू राष्ट्र है और इस हिन्दू राष्ट्र को हम जगत् में श्रेष्ठ तथा विजयशाली बनायेंगे। यह इतना भव्य-उदात्त लक्ष्य है, जो हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करनेवाला है। यह लक्ष्य सामने रखकर हमारा स्वयंसेवक कहता है कि इसके लिए मैं हजार बन्धन भी हों तो स्वीकार करूंगा।

उन्होंने मेरी बात स्वीकार की। बोले, "आपका कहना ठीक है। आपने जो लक्ष्य बताया है, मैं स्वयं उसे मानता हूं। परन्तु सरकारी चौखट में होने के कारण हम लोग बोल नहीं सकते।"

मैंने उनसे कहा, "भाई, जब तुम सत्य भी बोल नहीं सकते, उसे तरुणों के सामने रख नहीं सकते, तब उनमें अनुशासन आदि लाने की आशा मत करो। बस मौज करते चलो।"

परन्तु केवल भव्य लक्ष्य सामने होने मात्र से अनुशासन का भाव निर्माण नहीं होता। उसके लिए निरन्तर शरीर, मन तथा बुद्धि को लक्ष्य की सिद्धि की दिशा में कार्यप्रवण होने के लिए, उसका अभ्यास कराने के लिए, एक व्यवस्था भी चाहिए। भव्य लक्ष्य और उसके अनुरूप कार्य की रचना, दोनों ही कार्य की सफलता के लिए आवश्यक हैं। अनुशासन के साथ आत्मीयता का भाव भी निर्माण होना आवश्यक है। आत्मीयता में परस्पर बंधुभाव, मन में विशुद्ध भावनाएं तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख में समरस होने की तत्परता आदि बातें भी आती हैं। यह तभी संभव होगा, जब परस्पर में निकट सम्पर्क रहेगा, जब सब प्रकार के कामों में हम सहयोगी बनकर रहेंगे तथा आपस में नित्य मिलते-जुलते रहेंगे। इसलिए अपने यहां नियमबद्धता से प्रतिदिन सायं-प्रातः निश्चित समय पर एकत्रीकरण की व्यव्स्था शाखा के रूप में की गई है। इसी कार्यपद्धति में से संगठन, अनुशासन तथा आत्मीयता का भाव निर्माण होता है। दिन-प्रतिदिन नियबद्धतापूर्वक काम करने से प्रचण्ड शक्ति निर्माण होती है।

संसार में बड़े-बड़े संकट आते है। उनका निवारण करने के लिए वैसी ही प्रचण्ड

शक्ति चाहिए। अतः यह विचार मन में आ सकता है कि क्या अनेक लोगों के सामूहीकरण में से शक्ति का उतना प्रचण्ड आविर्भाव हो सकता है? साधारणतया लोग ऐसा विचार करते हैं कि जितने लोग होंगे उस अनुपात में शक्ति का निर्माण होगा, उससे अधिक तो निर्माण नहीं हो सकेगा। परन्तु अंकगणित में जिस प्रकार एक और एक का योग दो होता है, मनुष्यों के योग में इससे अधिक होता है। दो हृदयों के मिलन से जो शक्ति निर्मित होती है, उसका मापन नहीं हो सकता। अनुभव यह है कि जब दो आदमी एकत्र काम करने लगते हैं, तो दोनों की शक्ति के सामंजस्य से तिगुनी शक्ति खड़ी हो जाती है। रसायनशास्त्र में जब पानी और गंधक का तेजाब एकत्र मिलाया जाता है, तब दोनों के प्रारंभिक तापमान से कहीं अत्यधिक तापमान उस मिश्रण का हो जाता है। ऐसी अधिक शक्ति, सहयोग में से उत्पन्न होती है।

अतः अपने कोटि-कोटि संख्या के समाज को हम एक दिव्य मिश्रण से अनुप्राणित करें, उसके हृदय में एक शुद्ध भावना जगाएं और सबकी शक्ति का सामंजस्य से उपयोग करनेवाला अनुशासन उसमें निर्माण करें तो अभेद्य, अजेय, नित्य विजयशाली सामर्थ्य हम खड़ा कर सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। अपनी दिन-प्रतिदिन की शाखा कार्यपद्धति में से ऐसे सामंजस्ययुक्त प्रचण्ड सामर्थ्य का आविष्कार करने का अपना संकल्प है।

अपनी शाखा कार्यपद्धति की विशेषता यह है कि यह हमें समय के बंधन को स्वीकार करने के लिए कहती है। अतः दिन-प्रतिदिन समय-पालन का दायित्व अपने पर स्वाभाविक रूप से आता है। आजकल सामान्य व्यक्ति बन्धन में रहना पसन्द नहीं करता। परन्तु जो किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है और सोचता है कि अपना जीवन उस लक्ष्यपूर्ति के हेतु है, उसे यह सोचना पड़ेगा कि स्वच्छन्द तथा स्वैर आचरण करना लाभदायक नहीं होगा। उसे नियमों के बन्धनों को स्वीकार करके चलना होगा।

पिछले सहस्रों वर्षों से हमारे समाज के अन्तःकरण पर दासता तथा चारित्र्य-भ्रष्टता के अनेक विपरीत संस्कार होते आ रहे हैं। परिणामस्वरूप राष्ट्रीयत्व, मातृभूमि की भक्ति, एकरस समाज-जीवन आदि बातें वह भूल गया है। इन अनिष्ट संस्कारों को हृदय से मिटाकर, मातृभूमि, समाज तथा राष्ट्र के प्रति भक्ति का भाव सबके अन्तःकरण में जागृत करने का कार्य हम लोगों ने लिया है। परन्तु वह एक दिन में होने वाला नहीं है।

शताब्दियों से अपने अन्तःकरण पर जमे हुए मैल को धीरे-धीरे कुशलता से घिस-घिसकर दूर करना आवश्यक है। एक-एक अच्छे संस्कार का स्मरण करते हुए हमें अपने हृदय को शुद्ध, पवित्र, संस्कारित तथा राष्ट्र-भक्ति से ओतप्रोत करना है। यही सोचकर अपना दिन-प्रतिदिन का कार्य चलता है। हृदय में राष्ट्र-संस्कार जागृत रखने के लिए हमें दिन-प्रतिदिन की उपासना नियमपूर्वक करनी पड़ेगी।

हम दैनंदिन कार्य करनेवाले लोग हैं। अतः हमें कार्य की पद्धति तथा लक्ष्य के अनुसार

अपने जीवन को ढालना होगा। इसलिए सर्वप्रथम आवश्यक बात है हृदय में सम्पूर्ण हिन्दू समाज के लिए एकता की अनुभूति होना। इसका अर्थ है अपने समाज के किसी भी बंधु के प्रति तुच्छता या घृणा की भावना हृदय में न हो।

एक पुरानी बात का मुझे स्मरण होता है। उस समय मुझ पर आज जैसा कोई दायित्व नहीं था। आज जैसी ही दाढ़ी जरूर बढ़ी थी। उन दिनों डॉक्टर जी के पास एक कार्यकर्त्ता का आना-जाना बहुत अधिक था और वे डॉक्टर जी के निकटवर्ती माने जाते थे। एक दिन बातचीत में मैंने उनसे कहा, "हम सम्पूर्ण हिन्दू समाज का संगठन कर रहे हैं और आज तो कार्य कुछ छोटे-बड़े शहरों तक ही सीमित है। अतः हमें ग्रामवासियों, गिरिजनों, वनवासियों तक पहुंचना चाहिए तथा आत्मीयता की भावना जगानी चाहिए। यह विचार तुम्हारे सामने है या नहीं?"

उस कार्यकर्त्ता ने उत्तर दिया, "क्या बात करते हो? गांव के लोग तो बेवकूफ होते हैं। वे क्या संघ को समझेंगे?"

उनका उत्तर सुनकर मैं आश्चर्यचकित हो गया। लगभग ८० प्रतिशत हिन्दू समाज गांवों में रहने वाला है और उन्हें यह बेवकूफ समझता है। मैंने उनसे कहा, यदि तुम्हारी ऐसी धारणा हो, तो तुम अधिक दिनों तक संघ का काम नहीं कर सकोगे। उन्होंने उस समय मेरे शब्दों को पागल का प्रलाप समझा था। परन्तु मैंने उनके बारे में जो भविष्यवाणी की थी, वह सच सिद्ध हुई। उनके अन्तःकरण की भावना समग्र समाज के प्रति आत्मीयता, प्रेम तथा आदर की न होने से वे कार्य करने के लिए अपात्र हो गए।

ऐसा सोचकर हम लोगों को बहुत प्रयत्नपूर्वक हृदय में से घृणा, तुच्छता तथा भेद के भाव उखाड़ डालना चाहिए। हम कहते हैं कि समाज समष्टि याने भगवान का स्वरूप है और उसका साकल्य से साक्षात्कार तथा दर्शन करने का हम प्रयत्न कर रहे हैं।

एक बार रामकृष्ण परमहंस के पास एक पागल, नंग-धड़ंग, मैला-कुचैला रुखे-अस्तव्यस्त केशवाला व्यक्ति आकर खड़ा हो गया। रामकृष्ण उठकर उससे बड़े प्रेम से मिले और उन्होंने उससे बातचीत की। उन्होंने क्या बातचीत की, किसी की समझ में नहीं आई। उस पागल व्यक्ति के चले जाने पर रामकृष्ण बड़े आनन्द से अपने स्थान पर आकर बैठ गए। रामकृष्ण के भक्तों ने पूछा "पागल से मिलने गए थे आप?" उन्होंने कहा, "अरे, तुम लोग पहचानते नहीं? वह पागल नहीं था। उसे भगवान का साक्षात्कार हुआ है। ऐसे व्यक्ति उन्मत्त और पिशाच्चवत् व्यवहार करते हैं।" भक्तों में से एक ने विचार किया कि जिसने भगवान का साक्षात्कार किया है वह उसे भी साक्षात्कार करा सकता है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि बिना मेहनत तथा उपासना किए उसे भगवान का साक्षात्कार जल्दी से हो जाये। वह भक्त उस पागल के पीछे गया। पागल ने उसे देखा, तो वह तेज गति से भागने लगा। भक्त भी उसके पीछे दौड़ा। कुछ दूर जाने पर पागल ने हाथ

में एक बड़ा पत्थर उठाकर भक्त की ओर मुड़कर देखा। भक्त घबड़ाकर रुक गया और उसने कहा, "महाराज! नाराज न हों। मुझे कृपया भगवान का साक्षात्कार करा दीजिए।" तब वह पागल उन्मुक्त हास्य करता हुआ बोला, "अरे! ईश्वर दर्शन क्या कोई सरल बात है? जब तुझे गंदी नाली का जल तथा गंगाजल एक जैसा दिखाई देगा, तब मेरे पास आना। उसी क्षण मैं तुझे भगवान का साक्षात्कार करा दूंगा।"

अर्थात् हृदय से घृणा का भाव निकल जाना चाहिए। सब भगवतस्वरूप हैं ऐसा अगर साक्षात्कार हुआ, तो हृदय में घृणा का भाव नहीं रहता। हृदय में भेदभाव हो तो भगवान के दर्शन नहीं होते। इसीलिए हमें अपने हृदय के अंदर उस समाजरूपी भगवान का साक्षात्कार करना है। समग्र समाज के प्रति हमें आत्मीयता रखनी है। परंतु एक साथ तो पूरा समाज नहीं मिलता। जहां हम रहते हैं वहीं से अपने चारों ओर मित्र मण्डली एकत्रित करते हुए, उनसे अधिकाधिक परिचय तथा आत्मीयता बढ़ाते हुए तथा उसकी संख्या वृद्धि करते हुए, हमें समाज के साथ अधिकाधिक मात्रा में एकरूप होने का प्रयत्न करना है। इस मित्र-परिवार और अपने विचारों में सामंजस्य उत्पन्न करके, उसे अपने कार्य में सहयोगी बनाकर खड़ा करने का हमारा प्रयत्न होना चाहिए।

मित्र-परिवार इकट्ठा करना कोई सीधी-सरल बात नहीं है। चैनबाजी, उच्छृंखलता तथा अनेक प्रकार के व्यसनों में अनेक लोग साथ आ सकते हैं। परन्तु क्या इसे मित्रता कहा जायगा? मित्रता तो उसे कहते हैं जहां अपने मित्र की पूरी देखभाल करने का दायित्व मनुष्य स्वीकार करता है। मित्र के सुख-दुःख की ओर ध्यान देना, उसके साथ घर के समान सम्बन्ध प्रस्थापित करना, उसके परिवार के लोगों के साथ बड़ा शुद्ध तथा आत्मीयता का व्यवहार करना, अपने आचरण से उनके मन में अपने प्रति विश्वास का भाव जागृत करना तथा प्रत्येक के सुख का संवर्धन एवं दुःख का निवारण करने के हेतु अपरिमित कष्ट उठाने के लिए स्वेच्छा तथा आनन्द से सिद्ध रहना हमें सीखना चाहिए।

ये सब परिश्रम करने के लिए, शरीर सुदृढ़ रखना भी आवश्यक है। इसके लिए प्रतिदिन नियमपूर्वक थोड़ा समय व्यायाम करने की आवश्यकता है। आजकल तरुण लोग अपने शरीर के प्रसाधन में जितना समय लगाते हैं, उसका सौवां हिस्सा भी यदि शरीर बलसम्पन्न रखने के लिए दें तो जन्मभर निश्चिन्तता से रह सकोगे। हमारे शरीर में परिश्रम करने की क्षमता और तितीक्षा चाहिए। अतः नियमित व्यायाम करना आवश्यक है। अपने शरीर में इतना बल चाहिए कि हम सारे जगत् का आह्वान कर सकें।

अपने महापुरुषों का जीवन इस प्रकार का पौरुषसम्पन्न रहा है। जब रामचन्द्रजी दण्डकारण्य में निवास कर रहे थे, तब खर-दूषण-त्रिशिरा अपनी बहिन शूर्पणखा के अपमान का बदला लेने के लिए चौदह हजार राक्षस सेना के साथ उन पर टूट पड़े। लक्ष्मण को सीता की रक्षा के लिए छोड़कर, राम अकेले उनका सामना करने के लिए चल पड़े और

उन्होंने सम्पूर्ण राक्षस सेना का विनाश किया। अब इतनी शक्ति तो अपने शरीर में नहीं आ सकती, परन्तु काम करते समय शरीर में थकान न आये, इतनी शक्ति तो अवश्य आनी ही चाहिए।

हम लोग अपने शरीर को ऐसा बना सकते हैं जो सम-विषम परिस्थितियों को सह सके। इसके लिए मैं अपने बंधुओं से कहता हूं कि प्रतिदिन योग्य रीति से कम से कम २५ सूर्य नमस्कार, दो-चार आसन तथा दस-बारह दीर्घश्वसन का अभ्यास करो। इससे निसर्ग के द्वंद्व सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जायेगी। यह काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूं। मैं कितने वर्षों से निरंतर प्रवास कर रहा हूं। कभी नींद मिलती है, कभी नहीं। मैं संघकार्य के लिए सम्पूर्ण नागपुर जिला पैदल घूमा हूं। जब शाखा खोलने के लिए मुझे कलकत्ता महीना-डेढ़ महीने के लिए भेजा गया तो किराया आदि मिलाकर बीस रुपया मुझे दिया गया था। आने-जाने का किराया निकल जाने के बाद, मेरे पास प्रायः कुछ भी नहीं बचा था। कलकत्ता में प्रतिदिन शहर भर पचीस-तीस मील पैदल घूमना, भोजन मिल गया तो भगवान की कृपा, न मिला तो उससे भी बड़ी कृपा मानकर चलना, इस प्रकार महीना भर आनन्द के साथ काम करके नागपुर लौट आया, और उन्नीस रुपए सवा पन्द्रह आने खर्चे का हिसाब देकर, तीन पैसे (पुराने) लौटा दिए। अब मैं तो बड़ा मल्ल नहीं हूं। दुबला-पतला आदमी हूं। वर्ष भर सर्दी, वर्षा, धूप में प्रवास करने पर भी शरीर चलता रहता है। मैंने अपने पूर्व आयुष्य में व्यायाम करके अपने शरीर में एक प्रकार की दृढ़ता रखी है। मैंने उन दिनों सूर्य नमस्कार, आसन, कुस्ती, डबल सिंगल बार, मुदगर घुमाना, दस मील तक दौड़ना आदि सभी व्यायाम किए थे। अभी-अभी तक मैं सूर्य नमस्कार तथा आसन करता रहा। यही मेरा बैंक एकाउंट है। आपरेशन के कारण, अब मेरा व्यायाम बन्द हो गया है; तो भी उस बैंक एकाउंट के भरोसे चल रहा हूं।

अपने संघ-निर्माता डॉक्टर जी के जीवन का एक प्रसंग भी हम लोगों को विदित है। उससे हमें उनकी शारीरिक क्षमता का बोध होता है। नागपुर की शाखाओं के साप्ताहिक प्रातःकालीन एकत्रीकरण के कार्यक्रम में पहुंचने के लिए वे बीस-बाईस मील दूरी के आड़े गांव स्थान से रात्रि को पैदल ही चल पड़े थे। निश्चयी पुरुष के भगवान भी सहायक होते हैं। पीछे से एक टैक्सी आ रही थी। टैक्सी चालक ने डॉक्टरजी को पैदल चलते हुए देखकर गाड़ी रोक दी और पूछा, "कहां जा रहे हैं?" पैदल नागपुर जाने की बात सुनकर ड्राइवर ने आश्चर्य व्यक्त किया। डॉक्टरजी ने कहा, "पैदल जाने में क्या आपत्ति है? प्रातःकाल तक आनन्द से नागपुर पहुंच जाऊंगा।" टैक्सी पहले से ही भरी हुई थी। फिर भी उसमें सवार यात्रियों ने उनके लिए जगह बना दी। अतः हम लोगों को कार्य करने के लिए अपना शरीर अवश्य सुदृढ़ बनाना चाहिए। किन्तु हमें केवल शारीरिक शक्ति ही अर्जित नहीं करनी है। शक्ति के साथ यह ज्ञान भी चाहिए कि शक्ति वही अच्छी है जो सद्गुण, शील, पवित्रता, सब पर उपकार करने की प्रेरणा तथा समाज के प्रति प्रेम से युक्त हो।

यदि व्यक्ति या राष्ट्र का बल, सद्‌गुणसम्पन्न न हो तो उसे राक्षसी बल कहते हैं। रामायण में वर्णन है कि जब रामचन्द्र लंका में पहुंच गए तो उन्होंने रावण को देखा। उन्होंने विभीषण से उसके बारे में पूछा। विभीषण ने कहा, "वह तुम्हारा शत्रु रावण है" राम ने विभाषण से कहा, "ओह! कितना भव्य पुरुष है। यदि पापकर्म करने वाला नहीं होता तो वह त्रिलोक का भी राजा बनने योग्य था। रावण की शक्ति दुर्गुणों से युक्त रही, इसलिए उसको राक्षस कहा गया। हमें राक्षस की शक्ति नहीं चाहिए। हमें सद्‌गुणसम्पन्न, प्रेमपूर्ण तथा सबका भला करने वाली शक्ति चाहिए। ऐसी शक्ति के लिए, हमारे अंदर शुद्ध पवित्र भाव आवश्यक है। इन सद्‌गुणों को अपने में लाना होगा। स्वार्थ तथा मोह से चारों ओर का वायुमण्डल भरा हुआ है, जो मन को विचलित करता है। अतः अपने लक्ष्य की पवित्रता का ध्यान रखते हुए, हमें अपने अंतःकरण को शुद्ध रखना चाहिए।

सद्‌गुणसम्पन्न शक्ति के साथ कर्मशीलता भी चाहिए। अपने संघ के संस्थापक कहा करते थे कि ऐसे कर्मशून्य सज्जन का क्या उपयोग जो नाक की सीध में चलता है तथा घर-दफ्तर के काम के सिवा अन्य किन्हीं बातों की ओर ध्यान नहीं देता। गुणों का उपयोग करने की जिसमें प्रेरणा नहीं, ऐसे कर्मशून्य गुणवान मनुष्य से क्या लाभ है?

संघकार्य करने में कितनी बाधाएं हैं, यह हम सभी जानते हैं। समाज में अनेक प्रकार की विकृतियां आ जाने से, अड़चनें पैदा होती हैं। कभी-कभी प्रत्यक्ष में विरोध भी होता है। आज देश के अंदर राष्ट्र-द्रोही शक्तियां कार्य कर रही हैं, और देश के बाहर प्रत्यक्ष आक्रमण करने वाले भयंकर शत्रु खड़े हैं। इन संकटों में से मार्ग निकालते हुए कार्य को यशस्वी करना है। कहां पर संकट से लोहा लेना चाहिए और कहां पर उससे टक्कर न लेते हुए, बगल देकर निकल जाना चाहिए, ये बातें परिस्थिति का विचार करके निश्चित करनी पड़ती हैं। ऐसा विवेक-बोध चाहिए।

छत्रपति शिवाजी महाराज द्वारा मिर्जा राज जयसिंह को लिखे गए पत्र में एक वाक्य है—"हर मैदान में घोड़ा नहीं दौड़ाया जाता, कहीं ढाल फेंककर भाग जाना भी आवश्यक होता है।" भगवान श्रीकृष्ण के अनेक नामों में रणछोड़दास भी एक नाम है। जिसका अर्थ है रण-मैदान छोड़कर जानेवाला। अब यह तो अपने यहां कायरता का लक्षण माना गया है। परन्तु जरासंघ ने सत्रह बार मथुरा पर आक्रमण किया था तथा हर बार कृष्ण के हाथों उसने मुंह की खाई थी। कृष्ण ने सोचा जरासंघ द्वारा मथुरा पर आक्रमण किए जाने से मथुरावासियों को अत्यधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। अतः मथुरा से चले जाना और उचित समय पर जरासंध को अच्छा पाठ पढ़ाना उचित होगा। वे जरासंध की सेना से घिरी हुई मथुरा को छोड़कर एक टीले पर जाकर खड़े हो गए। तब जरासंघ ने उस टीले के चारों ओर आग लगा दी। कृष्ण ने अग्नि में कूदने का दिखावा किया और वहां से वे चल दिए। उनका पीछा करने वाले को उन्होंने मार डाला तथा वे सकुशल द्वारका पहुंच गए। वहां

पहुंचकर उन्होंने बल-संचय किया और अवसर आते ही जरासंध का सम्पूर्ण विनाश कर डाला। अतएव जगत तथा अपनी परिस्थिति और उसमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इन सब बातों का हमें सदा ज्ञान रखना चाहिए।

इसलिए केवल गुणवान या कर्मशील बनकर ही नहीं चलेगा, तो समग्र परिस्थिति का साकल्य से आकलन कराने वाला ज्ञान भी चाहिए। तितली के समान इधर-उधर उड़ते रहने से काम नहीं होगा। गहनता से परिस्थिति का अध्ययन और उसमें से अपने कार्य तथा राष्ट्र-सामर्थ्य को बढ़ाने के सम्बन्ध में योग्य निर्णय लेने का गुण अपनाकर हमें चलना होगा।

सब प्रकार के संकटों से जूझकर लक्ष्य तक पहुंचने के लिए हममें ज्ञान, धैर्य, साहस तथा पौरुष चाहिए। ये गुण क्या व्यावहारिक और क्या आध्यात्मिक, दोनों ही जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए नितान्त आवश्यक हैं। कभी-कभी लोग सोचते हैं कि व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए संन्यास ग्रहण करना उत्तम है। अपने यहां ऐसे पलायनवाद की शिक्षा नहीं दी गई। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने को तो "क्षुरस्य धारानिशित्या दुरत्यया" जैसा असिधाराव्रत कहा गया है।

भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि पर हुए संभाषण का जिस भगवद्गीता में समावेश हुआ है, वह हमें कर्म का, इहलोक का वैभव तथा परलोक के सुख तथा दोनों को पार कर जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग बतलाता है। यह धर्म बतलानेवाले वे दोनों अपने समय के अतुलनीय वीर पुरुष थे। पांडवों की ओर से श्रीकृष्ण जब अकेले दुर्योधन के साथ संधि-वार्ता करने के लिए हस्तिनापुर जाने के लिए चले, तब पांडवों ने चिंता व्यक्त की। उनसे कहा, "तुम तो हमारे सर्वस्व हो। यदि तुम्हें दुष्ट दुर्योधन ने या उसके भाइयों ने पकड़ लिया या मार डाला, तो हमारा क्या होगा?" श्रीकृष्ण ने उनको हंसकर उत्तर दिया, "तुम क्यों चिंता करते हो? यदि उनमें से किसी ने मुझे पकड़ने या मुझ पर आघात करने का प्रयत्न किया, तो अनायास ही तुम्हारा भाग्य खुल जायेगा। क्योंकि मुझ पर आघात करने का प्रयत्न करते ही मैं अकेला ही कौरवों को उनके सब साथियों के साथ नष्ट कर हस्तिनापुर का निष्कण्टक राज्य तुम लोगों को सौंप दूंगा। बिना लड़ाई के तुम्हें राज्य मिल जायेगा।" श्रीकृष्ण कितने पराक्रमी थे तथा उनमें कितना आत्मविश्वास था, इसका यह एक उदाहरण है।

उनके सखा अर्जुन भी उनके ही समान पौरुषसम्पन्न थे। विराटनगरी में छद्म वेष में रहते समय जब कौरवों ने सुना कि विराट् राजा का कीचक नामक सेनापति अज्ञात व्यक्तियों द्वारा मार डाला गया है, तब उन्होंने इसे उत्तम अवसर समझकर विराटनगरी पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इसी बीच विराट नगरी पर सुशर्मा ने आक्रमण किया था। उसका प्रतिकार करने के लिए, स्वयं विराट, राज्य की दक्षिण सीमा पर गए हुए

थे। विराट की अनुपस्थिति में, कौरवों ने विराटनगरी की उत्तर सीमा पर आक्रमण करके सारा गोधन लूट लिया। गोरक्षकों ने राजप्रासाद में जाकर इस बात की सूचना दी। तब विराट पुत्र उत्तर ने कहा, "सारथी होता, तो मैं स्वयं कौरवों से गोधन छीनकर ले आता।" युधिष्ठर पास ही भिक्षुक वेष में खड़े थे। उन्होंने उत्तर से कहा, "बृहन्नल को ले जाओ। वह सारथ्य-कर्म में कुशल है। उसकी बराबरी करनेवाले दो ही पुरुष हैं। एक भगवान कृष्ण और दूसरे शल्य।" उत्तर प्रथम हिचकिचाया। परन्तु बाद में वह राजी हो गया। रथ के कौरव सेना के निकट पहुंचने पर जब उत्तर ने भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि रथी-महारथियों को देखा, तो उसका हौसला टूट गया और रथ से कूदकर भागने लगा। बृहन्नल ने उससे कहा, "क्षत्रिय होकर रण से भागता है?" उत्तर ने गिड़गिड़ाकर कहा, "मुझे घर जाने दो। मैं नहीं लड़ सकता।" बृहन्नल ने कहा, "तू घोड़े की रास पकड़कर रथ में बैठ, लड़ने का काम मैं करता हूं।" उत्तर को आश्चर्य हुआ। वह उसकी ओर आंखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। रथ लेकर दोनों शमी वृक्ष के निकट पहुंचे और वहां से बृहन्नल ने गांडीव धनुष, अक्षय तरकस और अन्य सभी दिव्य अस्त्र-शस्त्र निकालकर रथ में रखे। उत्तर की आंखें चौंधिया गईं। उसने पूछा, "तुम कौन हो?" बृहन्नल ने कहा—

"अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यासाची धनंजयः।

रण मैदान में पहुंचते ही अर्जुन ने गाण्डीव धनुष्य की प्रत्यंचा का टंकार किया। उसे सुनकर भीष्म-द्रोण आपस में कहने लगे, "यह तो अर्जुन के धनुष की आवाज लगती है। अब मामला टेढ़ा है। गोधन लूटते समय तो बड़ा आनन्द लूटा। अब अर्जुन के साथ पाला है। अब क्या होगा?" "होना क्या था? कौरव सेना में जितने बुजुर्ग थे उन्हें छोड़कर बाकी सभी के वस्त्र उतारकर अर्जुन विजयी होकर विराट नगरी में पहुंचा।

इन दो वीर पुरुषों द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर, हम अपने अंदर साहस, धैर्य, निर्भयता तथा वीरता धारण करें। जो नित्य अपने लक्ष्य की उपासना में रंगा रहता है वही निर्भय रहता है और जिसका मन इधर-उधर भटकता है, वह भयभीत रहता है।

अतः अपना शरीर शक्तिमान तथा अन्तःकरण शीलवान हो। हमें कर्म-अकर्म तथा चारों ओर की परिस्थिति का ठीक-ठीक आकलन करवाने वाला ज्ञान हो। हम निर्भयता, निःशंकता तथा वीरता को जन्म देने वाले ध्येय का अखण्ड चिंतन, नित्य अपने हृदय में करते रहें।

इस प्रकार यदि हम स्वयं को योग्य तथा गुणी बनायेंगे, तो अपने कार्य का लक्ष्य तथा उस लक्ष्य को पूर्ण करने वाली अपनी कार्यपद्धति, इन दोनों को जोड़कर कार्य में यश पाने वाली कड़ी याने कार्यकर्तागण कार्यक्षम बनने का श्रेय पाते हुए अल्पकाल में परिपूर्ण कार्य सम्पन्न कर सकेंगे। ऐसा विचार कर, नित्य चिंतन द्वारा अपने जीवन में परिवर्तन करके हम सुयोग्य, निश्चयी, अविरत परिश्रमी तथा यावज्जीवन ध्येय की उपासना करने वाले बनें।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० १७-२८)

२०

गटनायक

मैंने आपसे कुछ प्रश्न पूछे थे। सोचा, अपनी शाखाओं की व्यवस्था, उसके परिणामस्वरूप अपने चारों ओर रहने वाले समाज से बढ़ता हुआ सम्बन्ध इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लूं। सबको इस बात का स्मरण होगा कि सभी तहसीलों और तहसील केन्द्रों में अभी शाखाएं नहीं हैं। इसका भी हमें बोध हुआ होगा कि जिन तहसीलों में शाखाएं हैं, उनके संघचालक या कार्यवाह का दायित्व लेनेवाला कोई एक स्थानीय व्यक्ति, सब तहसीलों में है, यह बात भी नहीं है। अनेक बड़े नगरों की शाखाओं में भी जो छोटी-छोटी उप-शाखाएं बनती हैं या ग्रामीण शाखाओं में जहां एक शाखा ही रहती है, उन सबमें भी इस प्रकार से कोई कार्यवाह हैं सो बात नहीं। अपनी व्यवस्था में यह अभी न्यून है। इसका विचार सबको करना चाहिए। यह कहना ठीक नहीं होगा कि योग्य व्यक्ति मिलते ही नहीं। अनेक बार योग्य व्यक्ति के सम्बन्ध में अपना विचार कुछ विचित्र हो जाता है। कोई सर्वगुण सम्पन्न मनुष्य मिलेगा तभी उसे दायित्व सौंपेंगे, ऐसा हम लोग कभी-कभी समझकर चलते हैं। वस्तुतः इस जगत् में, जगत् के बाहर भी, भगवान् को छोड़कर कोई दूसरा सर्वगुणसम्पन्न मिलने की आशा नहीं है। तो क्या हर स्थान पर कार्यवाह, मुख्य शिक्षक आदि भगवान ही हो जाएं और हम छुट्टी लेकर घर में बैठ जाएं? ऐसी तो कोई अपनी अपेक्षा नहीं है।

इसलिए हमें अपनी कल्पना को जरा व्यावहारिक बनाना चाहिए। आदर्शवादी बनते समय भी हमें ऐसा कोई आदर्शवाद अपने सामने नहीं रखना है कि जिस पर चलना अपने लिए असंभव हो। अतः हम व्यावहारिक दृष्टिकोण रखें। जो संघ के संपर्क में आये हैं, संघ के विचार और उसकी व्यवस्था को मानते हैं, इसके अनुशासन का अभिनंदन करते हैं, ऐसे

महानुभावों को यह काम दिया जा सकता है। हम लोगों को इस दृष्टि से व्यवस्था बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

लगभग एक वर्ष पहले, विदर्भ और महाराष्ट्र प्रान्तों की, केवल संघचालकों की बैठकें हुई थीं। मैंने कहा कि आपके जो संघचालक हैं, उनकी संख्या बढ़ाने का काम आपका है। मानो कि आप अगर दस हैं, या पचास हैं—महाराष्ट्र में सौ के ऊपर हैं—परन्तु अपनी शाखाएं तो पांच सौ से ऊपर हैं। तो इसका अर्थ है कि संघचालक कम हैं। अपना यह जो भ्रातृमण्डल है, इसको बढ़ाना चाहिए। भिन्न-भिन्न स्थानों के संघचालकों ने अपने जिले में जाकर सभी स्थानों का निरीक्षण करते हुए तथा स्थानीय स्वयंसेवकों से परामर्श करके किसी व्यक्ति को निश्चित कर अपनी पद्धति के अनुसार उसे दायित्व स्वीकार करने के लिए कहना चाहिए। जो अपना उत्तरदायित्व समझेगा और शाखा का सब प्रकार से संचालन करने के लिए आवश्यक परिश्रम करेगा, उसको कार्यवाह के नाते नियुक्त करना चाहिए। थोड़ा-थोड़ा भार भी अगर न हो, तो मनुष्य काम नहीं करता। याने क्या करना, यह समझ में नहीं आता। किन्तु यदि स्पष्ट बता दिया जाय कि तुमको कार्यवाह का काम करना है, तो उसकी सीमाएं ध्यान में रखकर वह काम करने के लिए उद्यत होता है। नहीं तो किसी को कहा कि जरा संघ का काम करो याने क्या काम करना यह लोगों को समझता नहीं। इसलिए निश्चित कार्यभार किसी को दे दिया जाय तो वह काम कर सकेगा।

अपने कार्य का यह स्वरूप संगठन का है। यह कोई ढीला-ढाला, असम्बद्ध लोगों का जमाव तो है नहीं। एक दूसरे के साथ अति निकट, आत्मीयता और अनुशासन में बंधे हुए, एक ध्येय के उपासक के नाते, सुव्यवस्थित संगठित शक्ति के रूप में अपना काम है। ऐसा संगठित सुव्यवस्थित स्वरूप अपने कार्य को प्राप्त होने के लिए, गट व्यस्था बनाई गई।

संघकार्य हर एक घर में होना चाहिए। इसीलिए गटनायक का काम केवल किसी को पुकार लगाना और चलो-चलो, समय हो गया इतना कहकर स्वयं चले जाना ही नहीं है। अपने सभी स्वयंसेवकों के साथ नित्य मेल-जोल रहना चाहिए। एक दूसरे के घर में प्रवेश रहे, घर के सभी लोग स्वयंसेवकों के सम्बन्ध में आत्मीयता का भाव रखें, यह दायित्व गटनायक पर होने के कारण उसे अपना व्यवहार सबके साथ उत्तम रखना चाहिए।

गटनायक अपने स्वयंसेवकों से ही नहीं, तो घरों में उनके पिता, चाचा, बड़े भाई, आदि सभी से बड़ा आदर और स्नेह का सम्बन्ध जोड़ें। उनसे बातचीत करें। उनके अन्तःकरण में यह भाव निर्माण करें कि यह स्वयंसेवक गटनायक के साथ शाखा में यदि आता है तो इसका भला होगा, उन्नति होगी, चरित्र का विकास होगा। घरों में संघ के प्रति प्रीति उत्पन्न होने के कारण यदि कोई कार्यकर्ता उनके घर गया तो आवश्यकतानुसार उसके भोजन आदि का प्रबंध करने में घर के लोगों को कष्ट का अनुभव नहीं होता, आनन्द होता है, तभी संघ का प्रभाव, संघ का संस्कार घर में भरा है, ऐसा कहा जा सकेगा। ये सब

छोटी-बड़ी बातें, सब लोगों के साथ गटनायक के जो सम्बन्ध रहते हैं, उनसे निर्माण हो सकने वाली हैं। कार्य-निर्माण का इतना बड़ा दायित्व गटनायक पर है। कार्य परिश्रम का है। परन्तु संघकार्य आराम से चलने वाला नहीं है। इसलिए हमें विचार करना चाहिए कि अपना गटनायक ऐसा व्यवहार करता हैं कि नहीं।

इतना करने पर भी गटनायक का काम पूरा नहीं होता। आप लोग कहेंगे कि ये तो गटनायक के कामों की सूची बढ़ाते जा रहे हैं। हां, मैं जरूर बढ़ाता हूं, बढ़ा रहा हूं। उसे सोचना चाहिए कि मैं केवल इतने स्वयंसेवकों का ही गटनायक नहीं हूं। ये स्वयंसेवक जिस छोटे क्षेत्र में रहते हैं, उस क्षेत्र का मैं प्रमुख हूं। उस क्षेत्र के सभी लोगों को संघानुकूल करने का दायित्व मेरा है। सबको संगठित जीवन के विचार का अनुगामी बनाने का दायित्व मेरा है। इस दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न लोगों के घर जाता रहे। सब लोग सोचें कि यह बहुत उत्तम मनुष्य है, हमारे लिए एक प्रकार का आधार है। साथ ही बीच-बीच में चारों ओर होने वाली घटनाओं का उल्लेख करते हुए वह उनके साथ बातचीत करें। बातचीत में संघ का विचार सामने रखता जाय, और यही विचार किस प्रकार योग्य है, इसका ठीक प्रकार से वर्णन करें। उनके अन्तःकरण में जो कुछ भाव हों, उनमें योग्य और उचित परिवर्तन करें। एक दिन किसी ने विचार मान लिया, तो उसे उतने मात्र से संतोष नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक दिन किसी ने माना भी तो कुछ दिन बाद वह भूल जायेगा। अतः इस प्रकार का कार्य हमें बार-बार करते रहना चाहिए। हर एक स्थान की जो कुछ विशेषता होगी, उसके अनुरूप कार्य की पद्धति बनाने की विचार-शक्ति और प्रतिभा भी उसमें चाहिए। कहीं-कहीं पर सब लोगों को एकत्रित करने के लिए साप्ताहिक विचार-विमर्श हेतु कोई विषय सामने रखना, उसके ऊपर सबने मिलकर चर्चा करना और उसमें कोई निष्कर्ष निकालना भी उपयोगी होगा।

इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों को इकट्ठा करके उस क्षेत्र का वह स्वाभाविक रीति से नेतृत्व करनेवाला बने। उसके कथन के अनुसार चलने में ही लोग अपना भला समझ सकें, यह प्रयत्न भी करने का दायित्व गटनायक का रहता है। ऐसा योग्य व्यक्ति अपने काम में लगाना चाहिए। इससे लाभ होता है। समाज को अपने साथ ले जाने की क्षमता उसमें उत्पन्न होती है। ऐसी व्यवस्था हमारी शाखा की है या नहीं, यह देखना चाहिए।

अब प्रश्न उत्पन्न होगा कि ऐसे गटनायक मिलेंगे कहां? अपने आप तो मिलते नहीं। अच्छी सुंदर, स्वयंभू मूर्ति तो कहीं एक-आध मिलती होगी। बाकी की मूर्तियां तो बनानी पड़ती हैं। मिलता है टेढ़ा-मेढ़ा, विचित्र आकार का पत्थर। उसको ठीक प्रकार से कांट-छांटकर ही उसकी मूर्ति बनानी पड़ती है। इसी प्रकार चारों ओर जो व्यक्ति मिलेंगे, वे इन सब आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए लगने वाले गुणों से युक्त ही मिलेंगे, सो बात नहीं। हमें उन्हें आवश्यक गुणों से युक्त करना पड़ता है। यह शिक्षक का दायित्व है,

समझदार बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए व्यक्तिशः प्रयत्न करना बड़े महत्व का है। ऐसे गटनायकों को व्यक्तिशः तैयार करना चाहिए। समाज-संगठन इससे होगा।

अभी कुछ दिन पूर्व हम लोगों ने जनसम्पर्क किया। जन सम्पर्क का कार्यक्रम अल्पमात्रा में हुआ। विचार करना चाहिए कि किसी ऐसे समय जनसंपर्क करने के लिए हमें विशेष रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है? अपना नित्य का जनसंपर्क नहीं होता, इसलिए। जनसंपर्क नित्य का रहना चाहिए, यह अपने कार्य का रूप है। परन्तु उस रूप को यथार्थ रीति से हम अभी अपने जीवन में नहीं उतार पा रहे हैं। इसलिए कभी-कभी विशेष कार्यक्रम कर लेना पड़ता है। विशेष कार्यक्रम हो जाने के बाद भी हम लोग भूल जाते हैं न? 'जनसंपर्क अभियान' महाभयंकर शब्द है। अभियान (कैम्पेन) शब्द मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। कैम्पेन याने तात्कालिक (टेम्परारी) याने थोड़े समय के लिए चलाना और फिर उसको भुला देना। हमें जनता का संपर्क जीता-जागता, नित्य के लिए बनाकर रखना है। अभियान अपने लिए उपयोगी नहीं है।

हां, यदि विवेकानन्द शिला स्मारक जैसे अवसर पर धन इकट्ठा करने के लिए थोड़ा अभियान है, तो ठीक है। क्योंकि वह नित्य-कार्य नहीं है। वह अनित्य है। पर संघ-कार्य, संघ का जन-सम्पर्क कार्य, तो नित्य है। इसलिए वहां अभियान की भावना नहीं रखनी चाहिए। वह निन्य कैसे बने? उसकी व्यवस्था है, शाखा की रचना में है। ऐसी रचना हमें सुयोग्य रीति से करनी चाहिए। उसके लिए अपने सब स्वयंसेवकों को बराबर समझदार और योग्य बनाना चाहिए। उसके लिए उनका कर्तृत्व विकसित करना चाहिए। हम भी स्वतः के विचारों को बार-बार चिंतन के द्वारा और अपने बड़े कार्यकर्त्ताओं से परामर्श द्वारा शुद्ध रखें। अपना व्यवहार, सब प्रकार की अपनी चतुराई, अपने व्यवहार का कौशल्य, ये सब जागृत रखें, और अपने उदाहरण से अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में काम करने वाले अपने बंधुओं की योग्यता को हम बढ़ाएं।

हम लोगों ने एक और कार्य जनसंपर्क के नाम से किया। वह भी एक तात्कालिक विषय था। कौन सा विषय? बीच में हवा फैली थी कि दिल्ली का केन्द्रीय शासन संघ पर प्रतिबंध लगाने का प्रयत्न कर रहा है। कोई एक कानून बनाने का प्रयत्न कर रहा है। उस प्रयत्न के विरोध में जनमत कितना प्रबल है, यह उनको दिखाकर, उनके उस प्रयत्न को नष्ट करने का हेतु लेकर वह काम हुआ। वह भी एक तात्कालिक हेतु था। ऐसा हम लोगों को समझना चाहिए। तात्कालिक हेतु को लेकर काम करना (अभियान वगैरह) मुझे पसंद नहीं। किसी तात्कालिक हेतु का, संघ के नित्य कार्य से कोई मेल नहीं है।

किसी तात्कालिक हेतु को लेकर जैसे-जैसे काम होता है, वैसे-वैसे मनुष्य स्वयं को एक छोटी-सी दीवार के अंदर बन्द करने लग जाता है। याने कार्य का पंथ बनने लग जाता है।

फिर बाहर देखने की, समाज के अंदर अन्य लोगों की ओर देखने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। लगता है कि हमारा जितना काम है उसकी आवश्यकताएं तो अपने स्वयंसेवकों के बीच के व्यवहार से पूरी हो जाती हैं। फिर बाकी जनता से सम्बंध क्या करना है? ऐसी एक उपेक्षा-वृत्ति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। यह केवल अपने अकेले का ही दोष नहीं, मनुष्यमात्र का दोष है। कितने पंथ हो गए, ऐसी छोटी-सी दीवारों में बन्द? ऐसा अपना नहीं होना चाहिए। अपना तो संगठन है। अपना कोई पंथ नहीं है। सम्प्रदाय नहीं है। अपना ऐसा न हो, इसी दृष्टि से अपने कार्य की यह व्यवस्था है कि हमारा अपने समाज से नित्य सम्पर्क रहे। विचारों का आदान-प्रदान होता रहे। सबका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास नित्य चलता रहे।

इसका पूर्ण रीति से हम लोग हमेशा पालन कर पाते हैं, ऐसा नहीं। कारण? कारण यह है कि पालन करने की इच्छा नहीं रहती। इसीलिए बीच के कालखण्ड में मैंने देखा कि हमारा गटनायक केवल बाहर जाकर पुकारनेवाला हो गया। बाकी के हमारे शिक्षक वगैरह अपने स्वयंसेवकों से मिलकर अपना कार्यभार पूरा हुआ मानने वाले हो गए। समाज को किसी उत्सव का निमंत्रण देने मात्र के लिए वे जाते थे, नहीं तो नहीं। अतः मैंने कई स्थानों पर यह नियम किया कि निमंत्रण पत्रिका पोस्ट से नहीं भेजना। याने स्वयंसेवक प्रत्येक के घर जायं, वहां का प्रमुख व्यक्ति अगर न मिला तो दुबारा जाकर उन्हें मिले और उन्हें पत्रिका देकर कहें कि, "यह अपना संघ है, संघ का ऐसा उत्सव है, अमुक सज्जन अध्यक्ष के नाते आने वाले हैं," इस प्रकार बोलकर घर के सभी लोगों को प्रत्यक्ष निमंत्रण दें। यह नियम किसलिए? इसलिए कि अपना नित्य सम्पर्क ठीक रहे। कहीं पर उसमें न्यून न हो और अपना संघ पंथ न बने।

हम यह दृष्टि रखकर जनता का संपर्क करने के लिए चलें। अपना भाग्य अच्छा है। कभी मित्र, तो कभी शत्रु हमें मौका देते हैं। पिछली बार अपने मित्रों ने गोहत्या निरोध के लिए काम करने का मौका प्राप्त करवा दिया। अपना विरोध करने वाले जो लोग हैं, उन भाई-बहनों ने मौका दिया। चारों ओर घोषणा करते हैं कि संघ बहुत खराब है, इसे बन्द करेंगे। कानून बनायेंगे। मैंने कहा था चिंता मत करो। परन्तु उसका निमित्त बनाना अच्छा था। इसे निमित्त बनाकर सबके बीच में जाओ। वे भिन्न दलों के हुए तो क्या हुआ? हिन्दू हैं कि नहीं? वे सब हिन्दू ही हैं। इसलिए सबसे मिलना चाहिए। सबको आत्मीय बनाकर रखना अपना धर्म ही है। इस प्रकार सब दूर जाकर जन-जागरण करें। सबका समर्थन प्राप्त करें। सब अपने पीछे, अपने साथ खड़े हैं, ऐसा दृश्य उत्पन्न करें।

अपने उस जनसंपर्क में अनेक प्रकार से राजनीतिक लोग आ गए। बड़े-बड़े नेता आ गए। लोकसभा के, राज्यसभा के, सदस्य आ गए। भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करने वाले लोग आ गए। सामाजिक संस्थाएं आ गईं। जन-साधारण तो थे ही। क्योंकि अपनी सबसे बड़ी शक्ति याने जन-साधारण। तो उसका भी समर्थन हमें मिला। राजस्थान से समाचार

आया कि जोधपुर में, जयपुर में, जो अपने प्रमुख स्थान हैं, वकील जहां ज्यादा हैं, वहां के अधिकांश वकीलों ने एक संयुक्त ज्ञापन शासकों को भेजा। उसमें उन्होंने लिखा कि संघ के बारे में जो प्रतिकूल योजना चल रही है वह सर्वथा अश्लाध्य है। उसका हम सब लोग बहुत विरोध करते हैं। छोटे-छोटे गांवों में भी विशाल सभाएं हुईं तथा हमें जनता का समर्थन प्राप्त हुआ है। अनेक प्रान्तों से आए हुए समाचारों का यह निष्कर्ष है। हमने सोचा, हमारे स्वयंसेवक अपनी छोटी सी मर्यादा में बंद रहते हैं, उनकी मर्यादा को जरा विस्तीर्ण करने के लिए, समाजव्यापी करने के लिए एक मौका मिल गया है। तो इस मौके का उपयोग कर लेना चाहिए। इस दृष्टि से जनसम्पर्क किया।

कोई प्रतिबन्ध करें, चाहे न करे, कोई दूसरा प्रतिबंध की बात करेगा तब हम काम करेंगे, ऐसा तो अपना काम नहीं है न?

अपना काम तो अपने स्वत: के विचार से चलता है। अपने ध्येय की पूर्ति, समग्र समाज के संगठन में है। इसलिए उसका ही अपने सामने आकर्षण रखकर हमको जनसम्पर्क का अपना यह कार्य निरंतर करना है। उसमें से चुन-चुनकर स्वयंसेवक बनाना, स्वयंसेवक बनाकर उनको नित्य-नियमित शाखा पर आने के लिए प्रेरणा देना अपना काम है। आजकल यह काम कम होता है। ऐसा मैंने देखा है। याने जिस आग्रह के साथ हम लोगों को यह कहना चाहिए कि शाखा में चलो, हम कहते नहीं। आखिर ऐसा अपना आग्रह क्यों नहीं है? याने मन में मानों एक प्रकार की दुर्बलता आ गई है कि कहूं कि न कहूं? मैं समझता हूं कि कहना चाहिए। कहने में कोई कठिनाई नहीं। हम सरलता से सब लोगों को यह बात समझा सकते हैं।

हमने जनसम्पर्क योजना के नाते, उसको निमित्त बनाकर, लोगों तक पहुंचने का थोड़ा सा प्रयत्न किया। अब हम उसे अधिक व्यापक स्वरूप दें। और उसको निरन्तरता से चलाने का अभ्यास करें। इस प्रकार अपनी शाखा का संवर्धन करें। भिन्न-भिन्न स्थानों पर शाखाओं का निर्माण करके उनको अधिकाधिक अच्छी प्रकार से चलाने के लिए प्रयत्न करें। हम यह मानकर चलें कि इसके लिए लगने वाला जितना समय लगाना है, उसे लगाना, जितना इसके लिए कष्ट करना पड़ेगा, वह करना ही अपना धर्म है। मन में यह विचार पक्का होना चाहिए कि संघ देश की एक अनिवार्य आवश्यकता है। आज समय की मांग है कि संगठन होना चाहिए, संघ होना चाहिए। हिंदू समाज की मांग है कि संगठन देशव्यापी होकर सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करनेवाला होना चाहिए। ऐसा हम लोगों के मन के अंदर का पूर्ण विश्वास, विचार, और कार्य से उभर आने की आवश्यकता है।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० ४७-५४)

२१

अधिकारी और संघकार्य

संघ कार्य की क्रमानुसार प्रगति का जो इतिहास है, जो चित्र हमारे सामने है, उसमें नागपुर शाखा को केन्द्र के नाते प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त होता है। यहीं पर हमें अन्य शाखाओं के लिए उदाहरण उपस्थित करना है। स्वयंसेवकों के सामने उदाहरण उपस्थित करना है, और यहां की शाखा में कार्य का विस्तार तथा स्वरूप इस प्रकार बनाकर रखने की आवश्यकता है कि सम्पूर्ण देशभर के कार्य का हम लोग संचालन, नियंत्रण, मार्गर्शन कर सकें। देशभर में अच्छे कार्य के उदाहरण के रूप में, नागपुर की शाखा को कार्य करना आवश्यक है। यह बात मैंने दो-चार बार कही थी। हमारे एक कार्यकर्ता मित्र ने तब कहा था कि नागपुर के बारे में ऐसा नित्य कहना ठीक नहीं है, तो मैंने तबसे यह बात नहीं कही। आज फिर अनेक वर्षों के बाद उसका उल्लेख कर रहा हूं। आज फिर इसलिए उल्लेख किया कि अन्ततोगत्वा अपने को यह दायित्व संभालना ही चाहिए। चाहे कोई कुछ भी कहे कि नागपुर की शाखा को ऐसी प्रतिष्ठा देने की क्या आवश्यकता है, फिर भी नागपुर शाखा पर केन्द्र की जिम्मेदारी आती ही है। संघकार्य के इतने वर्षों के जीवन में जो कुछ प्रगति अभी तक हो रही है, उसके ऐतिहासिक कारणों से, सम्पूर्ण संगठन के आधारस्वरूप उदाहरण बनने का भाग्य नागपुर को प्राप्त हुआ है। अब हम उसको टाल नहीं सकते। उसको टालना याने संगठन को क्षति पहुंचाना है, धक्का देना है। यह दायित्व, हमारी इच्छा हो, चाहे न हो, हम पर आ गया है। हम नागपुर में आए, नागपुर में रहे, किसी का नागपुर में जन्म हुआ अथवा कोई अपना जीवन चलाने के लिए बाहर से नागपुर में आकर बस गया, नागपुर के शाखा के स्वयंसेवक बन गए। यह हमने स्वेच्छा से किया हो, या भाग्य के कारण हुआ हो, परन्तु नागपुर शाखा के स्वयंसेवक बनने का अवसर हमें प्राप्त हुआ है। हममें से प्रत्येक को, वह छोटा हो या बड़ा, यह विचार करना होगा कि यह भार

हमें उठाना ही है। इस प्रकार की शिकायत करने का कोई कारण नहीं कि "हमने स्वेच्छा से यह भार नहीं लिया है, फिर हमारे ऊपर यह क्यों लादा जा रहा है।" हमको तो यह भार उठाना ही होगा और उसको उठाने के लिए स्वतः की शक्ति लगानी ही पड़ेगी।

हम अपनी देशभर की शाखाओं के सामने क्या उदाहरण रखें? क्या हमने नागपुर का पूर्ण नक्शा अपनी आंखों के सामने रखा है, कौन-कौन से क्षेत्र हैं, कहां-कहां पर शाखाएं हैं, क्या इसकी पूरी जानकारी हमको है? उसे ध्यान में रखकर कार्य के विस्तार की क्या ऐसी योजना बनाई है कि कोई भी क्षेत्र संघकार्य से अछूता नहीं रहेगा? ऐसा करने के लिए जितनी मनुष्य शक्ति लगेगी उतनी लगाएंगे। इस प्रकार देशभर की शाखाओं के सामने उदाहरण प्रस्तुत करेंगे कि तुम भी ऐसा ही करो। अपने नगर, तहसील, जिले की ऐसी व्यवस्था करें। कार्य में अस्तव्यस्तता न आने देते हुए योजनाबद्ध रीति से प्रगति करने का निश्चय करके कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो जायं।

कार्यकर्त्ताओं के सामने भी उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। नागपुर में भिन्न-भिन्न प्रान्तों से बहुत से स्वयंसेवक और कार्यकर्त्ता आते रहते हैं। स्मृति-मंदिर का दर्शन करने तथा कार्यालय में मिलने अवश्य आते हैं। वे सब अपनी ओर देखते हैं। ऐसा हम न समझें कि अपनी ओर कोई नहीं देखता। हमारा काम कैसा चलता है, कैसी व्यवस्था है, कार्यकर्त्ता कैसा आचरण करते हैं, उनका कैसा व्यवहार है, चाल-ढाल कैसी है, आदि सभी बातों की ओर उनका सूक्ष्म ध्यान रहता है। मुझे कई बार बाहर मिलने वाले स्वयंसेवक यहां के कार्य के सूक्ष्म न्यून दिखाते हैं। दुर्भाग्य से किसी की कमजोरी देखना मनुष्य का स्वभाव होने से, वही उनको दिखाई देता है। अच्छाई नहीं दिखाई देती। इसलिए हमें बड़ा सतर्क रहकर काम करना चाहिए। न्यून सबके ध्यान में आना, कार्य के लिए लाभदायक नहीं है। इसलिए हमें अपने सम्पूर्ण आचरण, व्यवस्था उद्यम की ओर दत्तचित्त से ध्यान देकर निर्दोष होकर चलने के लिए प्रयत्न करना होगा। यह भी अपना दायित्व है। निर्दोष होने के लिए मुझे काफी कष्ट उठाने पड़ेंगे। इतना भारी कष्ट उठाने के लिए मैं क्यों तैयार होऊं? ऐसा हम कह सकते हैं। परन्तु, हमने कार्य करने का संकल्प किया है, तो निर्दोष बनने का प्रयत्न हमें करना ही होगा। इन प्रयत्नों में चारों ओर के लोग हंसेंगे तो उसे भी सहन करना पड़ेगा। आसपास का समाज अस्तव्यस्त है, ध्येयशून्य है, स्वार्थी है, कोई अन्य व्यक्ति यदि लक्ष्य सामने रखकर चलनेवाला हो तो वह उसकी मखौल उड़ाता है। परन्तु हमें इन सब बातों को सहन करना है और अपने को निर्दोष बनाने के प्रयत्न में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने देना है।

अब हमें व्यवहार में क्या करना होगा? हम सोचें कि अपने कार्य-दायित्व को हम कितनी मात्रा में पूर्ण कर रहे हैं? "अधिकार" शब्द अपनी हिन्दू प्रणाली में अंग्रेजी के "राइट" शब्द के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। अपने यहां "अधिकार" शब्द का अर्थ ही "कर्तव्य" है। अंग्रेजी के सम्पर्क के कारण आज अधिकार को, "राइट" का समानार्थक

मानकर, उस शब्द को अर्थभ्रष्ट कर दिया गया। "अधिकार" का अर्थ है "अधिक दायित्ववाला"। उस पर अधिक कार्य का भार होना। अपने सब व्यवहारों में उसे अधिक सतर्क होकर चलने की आवश्यकता होती है। अपने साथी कार्यकर्त्ताओं को लेकर आगे बढ़ें ऐसा काम करने के लिए वह बंधा हुआ है। अधिकार अर्थात् अधिक बड़ा और व्यापक कर्तव्य । सामान्य स्वयंसेवकों का अधिकार शाखा में आने का है। गटनायक का अधिकार, अपने गट के स्वयंसेवकों को नित्य उपस्थित रखने तथा अपने क्षेत्र के अनेक मित्रों को जुटाने का है। इस प्रकार शिक्षक, मुख्य शिक्षक, कार्यवाह का दायित्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। कार्यवाह पर पूरे क्षेत्र का दायित्व है। हर घर से स्वयंसेवक बनाना, प्रत्येक व्यक्ति तक संघ का विचार पहुंचाना, उसके अन्त:करण में संघ के प्रति श्रद्धा निर्माण करना, उनमें से योग्य स्वयंसेवक प्राप्त करना, अपनी शाखा को शक्तिपुंज के रूप में क्षेत्र में खड़ा करना, यह दायित्व कार्यवाह पर रहता है। स्वयं परिश्रमी बनकर, अपने साथ काम करने वाले या अपने कार्यक्षेत्र में काम करनेवाले सब बन्धुओं को अपने समान परिश्रमी बनाने के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए।

हमें अपना परीक्षण करना चाहिए और विचार करना चाहिए कि हम लोग अपने स्वत: के जीवन में, व्यवहार तथा आदर्श की दृष्टि से ठीक प्रकार से चलने के लिए प्रस्तुत हुए हैं अथवा नहीं? हम अपने सब स्वयंसेवकों की साज-सम्हाल करते हुए, उनके साथ अतीव आत्मीयता का, विशाल पारिवारिक सम्बन्ध प्रस्थापित करके चलते हैं या नहीं? हर छोटे-बड़े मामले में उनको उचित सलाह देते हुए, उनके उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक बनते हैं या नहीं? इसके लिए अनेक प्रकार के कष्ट हमें स्वयं सहन करने पड़ेंगे तथा समय लगाना पड़ेगा। इस प्रकार का विशाल दायित्व उठाते हुए भी सदैव आनन्दित रहकर कार्य करना होगा। इसलिए प्रत्येक को अपने स्वत: के अन्दर निरीक्षण करना चाहिए। ऐसा निरीक्षण करके अपने व्यवहार को अधिकाधिक निर्दोष बनाते हुए और संघकार्य सम्बन्धी विचारधारा को स्पष्ट रूप से अन्त:करण में धारण करके अपने कार्य का विस्तार तथा दृष्टिकोण प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दृढ़ीकरण के लिए सावधानीपूर्वक सोचना होगा। स्वयंसेवकों के अन्त:करण में कितनी मात्रा में कार्य का ही विचार आता है, अनुशासन का बंधन पालन करने की कितनी क्षमता स्वयंसेवक बन्धुओं में है, इस पर दृढ़ीकरण निर्भर करेगा। यदि अनुशासनबद्ध रीति से चलने के लिए हम लोग आनन्द से प्रस्तुत हो सकते हैं, तब तो अपना एक पक्का शक्ति-सम्पन्न कार्य इस नाते सबके सामने खड़ा हो सकता है। लोग कहते हैं कि संघ में अनुशासन है, अन्य संस्थाओं में नहीं है। कुछ मात्रा में लोगों का यह कहना सही भी है, परन्तु, वैसा समाधान मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम सम्पूर्ण समाज का संगठन करने निकले हैं। कभी-कभी ऐसा समाधान मानने का अभिमान भी हो जाता है।

अनुशासन का अर्थ है शारीरिक क्रियाओं से लेकर मन में उठनेवाले विचारों तक,

शरीर, मन, बुद्धि सभी निर्देशानुसार कार्य करें। इन तीनों पर नियंत्रणवाला अनुशासन जितनी मात्रा में निर्माण करके स्वयंसेवक बंधुओं को प्रेमपूर्वक, प्रसन्नता से बांधकर रख सकेंगे, उतना ही वह पक्का होगा। इस दृढ़ता को अपने अंदर लाने के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न करने के लिए शरीर को अभ्यास करवाने से धीरे-धीरे मन के ऊपर नियंत्रण आता है। मन के नियंत्रित होने के पश्चात् आपस में विचार-विमर्श करने के लिए बैठें, तो अपनी बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले विचारों में भी एकसूत्रता स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है। इसलिए हम कहते हैं कि अपनी शाखाओं में कार्य शारीरिक शिक्षा से प्रारंभ करें। शरीर को सूत्रबद्ध व्यवहार का अभ्यास करवाएं। शरीर को सूत्रबद्ध व्यवहार का अभ्यास करवाते समय मन को काबू में रखना ही पड़ता है। क्योंकि भटकनेवाले मन से युक्त मनुष्य का शरीर योग्य रीति से काम करेगा इसका कोई भरोसा नहीं। मन को किसी न किसी प्रकार से संयमित करना ही पड़ता है, काबू में रखना ही पड़ता है। उसका भी धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता जायेगा, और उस अभ्यास में से हम जिस प्रकार की बुद्धि, विचारों की एकता, भावना की उमंगों की एकता, शरीर की क्रियाओं का सामंजस्य चाहते हैं उस प्रकार से हम निर्माण कर सकेंगे। हमारी शाखा चलती है, दो-चार खेल खेलकर बड़ा आनन्द निर्माण कर लेते हैं, दौड़-धूप करते हैं, हो-हल्ला करते हैं, परन्तु इस उत्साह में से कोई शक्ति तथा दृढ़ता उत्पन्न नहीं होती। इसमें से आपस में प्रेम उत्पन्न हो जायगा, मिलकर खेलेंगे, केवल इतना भाव जागृत होगा। परन्तु साथ काम करने की जो शक्ति निर्माण होनी चाहिए वह नहीं हो पायेगी। इसलिए हमें, अपने जो अन्य कार्यक्रम हैं, उनका अवलम्ब करना चाहिए। मैं प्रवास में लोगों से पूछता रहता हूं कि तुम लोग शाखा में कौन से कार्यक्रम कराते हो। साधारण रीति से लोग खेल बताते हैं। क्योंकि दण्ड, व्यायाम-योग होता नहीं है। ऐसे भी मुख्य शिक्षक हैं, जिन्होंने समता शब्द ही नहीं सुना है। शाखा में अस्तव्यस्तता, ढीलाढालापन चलाते हैं। फिर भी सोचते हैं कि हमारी शाखा बड़े प्रेम से चल रही है। सब कार्यक्रम कोई करता नहीं। ज्यादा आग्रह मैं भी नहीं करता। क्योंकि मैं मोहिते सायं शाखा का अनियमित स्वयंसेवक हूं। यदि लोगों ने पूछा कि तुम्हारी शाखा में समता का कितनी बार अभ्यास होता है, तो मेरे सामने समस्या पैदा हो जायगी। विजयादशमी के कार्यक्रम की पूर्वसिद्धता के समय जो कुछ समता का अभ्यास होता होगा, बस वही होता है। शाखाओं में सूर्य नमस्कार जैसे कार्यक्रम भी नहीं होते हैं।

अपने यहां इतने सुचारू रूप से कार्यक्रम बनाकर दिए हैं कि हम अपना मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक सब प्रकार का विकास कर सकते हैं। हम आग्रहपूर्वक कार्यक्रम करने लगें तो अन्य लोग भी करने लगेंगे। संघ का पक्का काम इसमें से ही होगा।

जिस कार्यरूपी लक्ष्य के लिए हम ये सब कार्यक्रम करते हैं, उस लक्ष्य को भी समझना चाहिए। चारों ओर की परिस्थिति समझनी चाहिए। भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए, तथा उसमें अपना लक्ष्य किस प्रकार अति शुद्ध, योग्य,

करणीय और इससे बढ़कर अपने जीवन में कोई अन्य कर्तव्य नहीं इतना सुस्पष्ट बोध मन में जागृत रहे ऐसा भी प्रयत्न होना चाहिए।

शाखा में योजनापूर्वक एकाध बार बौद्धिक वर्ग करवाया, तो वहां भी सब लोग भाषण सुनते नहीं। स्वयंसेवक तो उसे एकाग्रता से शून्याग्र होकर अधिकारपूर्वक सोने का समय समझते हैं। किसी ने एकाध विषय उत्तम रीति से बौद्धिक में रखा भी तो उसके सबके सब पहलू ध्यान में नहीं आ पाते। अतः बाद में दूसरा बौद्धिक वर्ग होने तक उस विषय को अच्छी प्रकार से स्वयंसेवकों को समझाया जाय। आपस में चर्चा, बातचीत द्वारा उस विषय को स्वयंसेवकों के अंतःकरण में पक्का करने का प्रयत्न किया जाय। स्वयंसेवकों को प्रार्थना जैसी नित्य की बातों का भी पता नहीं रहता है। विचार समझने के लिए उसका उपयोग है। हमें प्रार्थना भली प्रकार आ गई है, अब उसकी ओर देखने की आवश्यकता नहीं है, यह सोचना गलत है। मनुष्य बहुत जल्दी भूल जाता है। बार-बार गाते रहना पड़ता है। बार-बार स्मरण करवाना पड़ता है। स्मरण नित्य कराते रहना पड़ता है। स्वयंसेवक के मन में यह विचार रहे कि मेरे सामने एक बड़ा लक्ष्य है, बड़ा प्रिय लक्ष्य है, बड़ा श्रेष्ठ है, अत्यंत भव्य-दिव्य लक्ष्य है। इससे बढ़कर अपने इस हिन्दू समाज के व्यक्ति के सामने और कोई लक्ष्य हो नहीं सकता। श्रेष्ठ लक्ष्य का ऐसा विचार अन्तःकरण में स्थायी बनाया तथा उसे यह बात समझने के लिए सिद्ध किया कि उस लक्ष्य की प्राप्ति हम इस प्रकार के अत्यन्त सुदृढ़, पक्के, सुसंगठित, अनुशासित जीवन के निर्माण द्वारा ही कर सकते हैं, यह अनुशासित जीवन अपनी दिन-प्रतिदिन की शाखा के रूप में संस्कार ग्रहण करने के कार्य से ही हो सकता है, इसलिए अपनी पूरी शक्ति से सम्पूर्ण समाज को इसके अंदर आकृष्ट करने का प्रयत्न करने में अपना समय लगाने से बढ़कर अपना कोई अन्य कर्तव्य नहीं है; तभी अपनी शाखा में कभी न्यूनता नहीं आयेगी, नित्य वर्धमान शाखा रहेगी, और समग्र समाज इस दृश्य को देखकर अपनी ओर आकृष्ट होता रहेगा। सम्पूर्ण समाज अपने विचारों को सुनने के लिए उत्सुक होगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्रजीवन इन विचारों से व्याप्त होने की स्थिति उत्पन्न हो सकेगी।

आज यदि सम्पूर्ण देश का चित्र देखें तो दिखाई देता है कि राष्ट्र का कोई विचार नहीं कर रहा है। सभी अपने स्वार्थ के विचार में लगे हैं। स्वार्थ के कारण सब नीति-अनीति भूल गए हैं। भ्रष्टाचार ही सबसे बड़ा आचार हो गया है। स्वार्थ के कारण जिनका जीवन चरित्र-भ्रष्ट हुआ है, उनके हाथों में क्या राष्ट्र का भविष्य सुरक्षित रह सकता है? यदि समाज का बड़ा वर्ग चरित्र भ्रष्ट हो, तो हम इस जगत् की धकाधकी में टिक नहीं सकते। देश का अपने सामने यह चित्र है। इसका उपाय करने की क्षमता यदि किसी के पास है, तो वह संघ के पास है। इसलिए सोचना चाहिए कि हम पर कितना बड़ा दायित्व है, साथ ही कितना भाग्य। हम विचार करें कि क्या इस भाग्य के अनुरूप बनना हमारा कर्तव्य है। इसके लिए जी-तोड़ मेहनत करने के लिए तैयार होना हमारे लिए आवश्यक है। यदि ऐसा

नहीं करेंगे तो इसका अर्थ होगा कि हमारे पास उत्तम लक्ष्य, उत्तम कार्य आदि सब कुछ होते हुए भी हमने अपने राष्ट्र के साथ सच्चाई का व्यवहार नहीं किया और इसलिए अपने जीवन को ही धोखा दे दिया ऐसा अर्थ हमारे बारे में नहीं होना चाहिए।

हम एक वृक्ष का उदाहरण लें। पहले उसका एक छोटा सा अंकुर ऊपर आकर वह बढ़ता जाता है। उसकी इधर-उधर शाखाएं फैलती हैं। शाखाएं वृक्ष से पोषण पाती हैं तथा वृक्ष का पोषण करती हैं। परन्तु अपनी आज की स्थिति ऐसी है कि अपने यहां की शाखाएं पोषण पाने वाली हैं न कि पोषण करने वाली हैं। याने संघ को खानेवाली हैं। ऐसा दुर्भाग्य अपना है। जब से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, राजनीति, मजदूर आदि, में कार्य शुरू हुए हैं तब से यह कहा जा रहा है कि सबसे अपेक्षा यही है कि ये सारे कार्य सब प्रकार से पोषक बनें। ये सब सम्पूर्ण समाज में घुसने के मार्ग हैं। समाज को अपने कार्यानुकूल बनाने के साधन हैं। समाज में से स्वयंसेवक प्राप्त करने के साधन हैं। उन्हें बताया कि इस प्रकार दृष्टि रखकर सब प्रकार के काम करो, तभी वे लाभदायी होंगे। हमें अपने प्रयत्न से इतना प्रबल जीवन बनाकर रखना चाहिए कि सबका पोषण करके, उनके ऊपर नियंत्रण रखते हुए भी, हम अपने कार्य का सामर्थ्य सब प्रकार से अवाधित बनाकर रख सकें। एक प्रकार से हमें परब्रह्म की स्थिति, अर्थात् स्वयंपूर्ण संगठित शक्ति प्राप्त करना हैं। उसमें से ये भी शक्तिसम्पन्न बनेंगे, सक्षम बनेंगे। इसलिए अपनी पूर्णता में किसी प्रकार का न्यून न आए, ऐसी स्थिति उत्पन्न करने का लक्ष्य सामने रखकर अपने कार्य को सब प्रकार से विस्तृत, सुदृढ़, सबका पोषण तथा नियंत्रण करने की क्षमता रखनेवाला, सम्पूर्ण राष्ट्रजीवन पर छा जाने वाला बनाना है। इसके लिए उदाहरण रूप कार्य, नागपुर के क्षेत्र में व्याप्त कर चलाना है। कार्य की जड़ इस नाते से, नागपुर का कार्य सबका पोषण करनेवाला खड़ा हो जायगा व सबके लिए आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत होकर, सम्पूर्ण कार्य को सुचारू बनाने में सफल हो जायगा तो हम लोग अपने सम्पूर्ण संघकार्य को देशभर में उत्तम रीति से चलाने की बात कहने का अधिक मात्रा में विश्वास हृदय में रखकर देश भर में भ्रमण कर सकेंगे।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० ८१-८७)

* * * *

हम अपनी दैनंदिन शाखा में मातृभूमि का वन्दन कर असंदिग्ध रूप से "वयं हिन्दुराष्ट्रांगभूताः" कहते हैं। इसी सिद्धान्त से प्रेरित होकर हम लोग कार्य कर रहे हैं। चारित्र्य सम्पन्न याने धर्मनिष्ठ, स्वार्थशून्य और सत्ता, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि सभी प्रकार की अभिलाषाओं से परे, केवल अपने समाज की प्रतिष्ठा में ही परिपूर्ण संतोष मानने वाले लोगों की काफी अच्छी बड़ी संख्या निर्माण करने का अपना कार्य है; जिन्हें देखकर शेष समाज भी यह आत्मविश्वास प्राप्त कर सके कि ध्येयनिष्ठ जीवन द्वारा हम भी अच्छे

हो सकते हैं, जिन्हें समाज में सहज विश्वास और प्रेम प्राप्त होता हो और जिनकी ओर समाज मार्गदर्शन पाने की इच्छा से देखता हो। ऐसे लोगों की सूत्रबद्ध अनुशासित शक्ति खड़ी करने की आवश्यकता है, जिसके कारण इस विशाल समाज को प्रेम और विश्वास के आलिंगन में समाविष्ट करके सबके कल्याण के लिए प्रयास हो सकता है। यही शक्ति खड़ी करना संघ-कार्य है। इस कार्य को हमें करना है। हम अपने से ही यह कार्य प्रारंभ करें। परोपदेश नहीं करना। परोपदेश से यह काम नहीं होगा। अपने अंदर ही उस प्रकार के शील, सम्पूर्ण समाज के साथ तादात्म्य की भावना, प्रत्येक के सुख और दु:ख में सुखी-दुखी होने की क्षमता, दु:ख को दूर हटाने के लिए व्यक्तिशः और सामूहिक योजनाबद्ध होकर कार्य करने की तैयारी को विकसित करें। फिर संघ के बारे में और कुछ बोलने की जरूरत नहीं है। राष्ट्र के सब प्रकार के दु:खों का निवारण करने वाली और संकटों के सामने अभेद्य दीवार के रूप में खड़ी होकर सुरक्षितता प्रदान करने वाली राष्ट्रीय शक्ति और चेतना का हमें निर्माण करना है। इसलिए अपना काम है कि अपने जीवन में आनेवाली सभी दुर्बलताओं और विकृतियों को उखाड़ फेंकने के लिए चाहे जितना कठोर कदम उठाना पड़े, उठाने की तैयारी रखना और सूत्रबद्धता से कार्य करने का गुण अपने अंदर लाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। बस इतना ही काम अपना रहता है। यही संघ है।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृ० ११९-१२०)

२२

संघकार्य के दो स्वरूप

जनसाधारण को शिक्षित करके और उनमें से चुने गए योग्य व्यक्तियों को राष्ट्रहितकारी कार्यों में संलग्न बनाए रखने के लिए सामाजिक स्थिति तैयार करना, प्रत्येक परिस्थिति और पद्धति में आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य है। इतना महत्व का यह कार्य, क्या अपने देश में कहीं किया जा रहा है? यदि नहीं, तो इसे कौन करेगा? कहना होगा कि इसे अपने संघ के अतिरिक्त, इतनी व्यापक दृढ़ता के साथ अन्य कोई नहीं कर रहा है। देश में जो कुछ अल्प प्रयत्न हो रहे हैं, वे अपने कार्य के माध्यम से ही हो रहे हैं। इस कार्य को अधिकाधिक फैलाने के लिए हम प्रयत्नशील हैं।

जनसाधारण को शिक्षित करना तथा उनमें से योग्य व्यक्तियों को राष्ट्रहितकारी कार्यों में संलग्न बनाए रखने का अपना कार्य तभी संभव है, और हम तभी उसके पात्र बन सकते हैं, जब हमारा समाज के साथ आत्मीयतापूर्ण निकट का सम्बन्ध हो। विभिन्न छोटे व बड़े क्षेत्रों में चलनेवाली अपनी संघ-शाखाएं ऐसी होनी चाहिए कि जिनसे उन क्षेत्रों के सब लोगों का सम्बन्ध स्थापित होता हो। उस क्षेत्र में यदि स्फोटक परिस्थिति का खतरा हो तो सब लोगों के सामंजस्य से उसका निराकरण करने लायक हमारे सम्बन्ध समाज के साथ होने चाहिए। प्रारंभ से ही हमारी शाखा सम्बन्धी कल्पना यही है। शाखाओं में ऐसे कार्यकर्त्ता तैयार होने चाहिए, जो अपने चारों ओर के समाज में व्याप्त अवस्था को समझते हों।

ऐसे कार्यकर्त्ता तैयार करना ही, सब समस्याओं का एकमात्र उत्तर बनकर हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। अच्छे व्यक्ति तैयार करने हैं। चारों ओर देखने वाले आदमी तैयार करने हैं। सबको साथ में लेकर चलनेवाले लोग होने चाहिए और [illegible] प्रत्येक शाखा

क्षेत्र में होना आवश्यक है।

यह कार्य बातें करने से नहीं होगा। धीरे-धीरे विस्तार करते हुए शीघ्रातिशीघ्र नगर के प्रत्येक छोटे क्षेत्र और जिले के प्रत्येक छोटे कस्बे में ऐसे लोग खड़े होने चाहिए जो अपने सम्पूर्ण जीवन की शक्ति लगाकर अपने क्षेत्र की समस्याओं को सुलझाने में यशस्वी होंगे। यह अपनी ओर से सदा दोहराया जाता रहा है कि मनुष्य तैयार करना सर्वाधिक महत्व की बात है और जितने प्रमाण में यह कार्य होगा उतने प्रमाण में बाकी सब समस्याएं सुलझती जायेंगी।

इस मनुष्य निर्माण के शाखा-कार्य की गति तीव्र करें तो हम पायेंगे कि सिद्धान्तों का बोलना और उनका व्यवहार में नहीं उतरना जैसी आज की दु:स्थिति का अन्त आ सकेगा। हम व्यावहारिक स्तर पर आकर लोगों को कुछ बता सकेंगे। सिद्धान्त की अवमानना न हो और व्यवहार में कठिनाई न हो ऐसा सामंजस्य उत्पन्न करके दिखाने की हमारी प्राचीन कार्य-प्रणाली रही है। उसी मार्ग का आर्थिक रचना के क्षेत्र में अवलम्बन करते हुए दोनों प्रकार के अतिरिक्त छोरों को छोड़कर सामंजस्य का मार्ग ग्रहण करना समाज के लिए हितकर होगा। राज्य सत्ता पर एकाधिकार का विचार और उसे लागू करने से उत्पन्न दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। इस छोर से यदि प्रारंभ किया, तो जो आज धनी है वह कल गरीब बन जायगा और गरीब धनी हो जायेगा। याने थोड़ा सा व्यक्तियों में परिवर्तन होगा। मूल समस्या वैसी ही बनी रहेगी। कारण जगत के विद्वानों का अनुभव है कि यदि सब सम्पत्ति और साधनों पर राज्यसत्ता का स्वामित्व हो गया तो व्यक्ति की कार्य-प्रेरणा समाप्त होती है और पार्यप्त मात्रा में उत्पादन हो ही नहीं पाता। धन का वितरण करने वाली बात लेकर चलें और धन है ही नहीं तो वितरण किसका करें, इस अवस्था पर आ पहुँचे। ऐसी विचित्र स्थिति में आ फंसने वाली यह बात है।

यह केवल कल्पना की बात नहीं, रूस का सबसे बड़ा उदाहरण हमारे सामने है। वह एक बड़ा विशाल देश है। विशालता के अनुपात में जनसंख्या भी कम है। खेती के आधुनिकतम साधन हैं। नदियां भी हैं। इतना सब होते हुए भी वहां खाद्यान्न की कमी है। उन्हें अनाज विदेशों से मंगाना पड़ रहा है। इसलिए राज्यसत्ता के सम्पूर्ण एकाधिकारवाला छोर हितकर नहीं है। केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करने के विचार से काम नहीं चलेगा। उसी प्रकार दूसरा छोर भी, जिसमें व्यक्ति केवल अपना, अपने परिवार और रिश्तेदारों का विचार ही करता है, उपयुक्त नहीं है। सब केवल अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति और उपभोग-लालसा से प्रेरित होकर कार्य करें, यह भी नहीं चल सकता। आज विश्व में प्रचलित इन पद्धतियों के दोनों छोरों को त्यागकर हमें बीच का एक नया और मौलिक रास्ता खोजना होगा। इन दोनों अतिरेकों के बीच संतुलन स्थापित करना होगा। इस बात का विचार करते हुए कि व्यक्ति पर उसकी अपनी और अपने परिवार से सम्बन्धित जिम्मेवारियों के निर्वाह की समस्या है, उसे मर्यादित रूप से सम्पत्ति

का अधिकार प्राप्त करना जरूरी है। साथ ही दायित्व को निभा सकने योग्य व्यक्तिगत स्वामित्व की जो सीमा है उसका अतिक्रमण न हो इसलिए उस पर कुछ नियंत्रण भी रखना होगा। जिसमें मर्यादित रूप से व्यक्तिगत सम्पत्ति, मर्यादित व्यक्तिगत आय और साथ ही मनुष्य स्वभाव को देखते हुए मर्यादित रूप से उपभोग के अवसर भी प्राप्त हों ऐसी व्यवस्था देकर समाज के सर्वसामान्य लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति में उसका योगदान भी निश्चित करने वाला रास्ता अपनाना होगा।

अब जैसा कि पहले कहा है पद्धति कोई भी हो उसकी सफलता के लिए अच्छे लोग चाहिएं। ऐसे लोग समाज में खड़े करने होंगे, जिनके हृदय में समाज के लिए आत्मीयता है, कल्याण की भावना है। जो समाज के दु:ख से व्यथित होते हैं, जिनके अंदर अपने स्वार्थ को नियंत्रित करने की शक्ति है और उस कारण जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट उठाकर भी समाज के लिए हितकर कार्यों में संलग्न हैं। ऐसे सब लोगों की शक्ति समाज की आवश्यकतानुसार सूत्रबद्ध ढंग से सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रयुक्त हो सके, ऐसी अनुशासन शिक्षा देने की व्यवस्था भी करना जरूरी है। समाज में ऐसे कार्यकर्त्ताओं के निर्माण का मूलगामी कार्य हम अपनी शाखाओं द्वारा कर रहे हैं। व्यक्तियों में जितना सामंजस्य उत्पन्न होगा उतना ही प्रगति की ओर अग्रसर होना संभव होगा। माना कि इस कार्य में समय लगेगा परन्तु किसी तत्काल कठोर कार्यवाही से कोई लाभ नहीं निकलने वाला है। मनुष्य को उसकी अन्त:प्रेरणा से ही ऐसे कार्यों के लिए प्रेरित करने का यह कार्य है। इस प्रकार के योग्य व्यक्ति समाज में स्थान-स्थान पर खड़े करने का कार्य हम अपनी दैनिक शाखा कार्य-पद्धति से कर रहे हैं। विचार कोई भी हों और कितने ही व्यापक हों, आचार करने वाले लोग जब तक पास न हों, व्यर्थ हैं। इस निष्कर्ष के अनुसार राष्ट्र की प्रगति की नींव में अच्छे और सुदृढ़ कार्यकर्त्ता खड़े करना ही समाज-संगठन का कार्य है।

राष्ट्र को संगठित करने का पवित्र लक्ष्य अर्थात् अपने सभी देशवासियों में समान चिरकालिक मातृभक्ति की भावना भरकर उन्हें राष्ट्रसूत्र में गूंथने का कार्य अत्यन्त जटिल है, क्योंकि जिन्हें हम संगठित करना चाहते हैं वे हमारे बन्धु विविध कारणों से एक दूसरे से पृथक तथा विखरे हुए हैं। उनमें से प्रत्येक कार्योपयोगी व्यक्ति को खोजना, प्रेम और आदरयुक्त व्यवहार द्वारा उन्हें सामाजिक दायित्व की ओर उन्मुख करना और प्रत्येक को संगठन में उपयुक्त कार्य देते हुए सूत्रबद्ध अनुशासित आचरण के लिए सतत् जागरूक रखना कोई सरल कार्य नहीं है।

परन्तु जिसके अंदर कार्य का आत्मविश्वास है वह सारी दुनिया के विरोध को ठोकर मारकर यश प्राप्त कर लेता है। वह कहता है कि कार्य कैसे नहीं होगा, मैं करूंगा और यशस्वी होऊंगा। इस स्थिति में उसके अन्त:करण का भगवान बोलता है कि उसे सफलता ही मिलेगी।

हम लोग मानते हैं कि हमारे समाज के कल्याण में, उसे सुसंस्कारित करने में व धर्म रक्षण में समग्र मानव का कल्याण है। ये सब बातें सिद्ध करने की दृष्टि से, कार्य का बहिरंग याने शाखा को परिपुष्ट करने के लिए हमें प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है।

कार्य के दो स्वरूप हैं। एक दैनंदिन शाखा का है। चौबीस घंटों में हम जो कुछ संघ-कार्य करते हैं उसका हिसाब-किताब करने का स्थान, संघ-स्थान है। कुछ अनुशासन आदि सीखने और एक-दूसरे के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर खेलने-कूदने, व्यायाम करने से समग्र समाज के सम्बन्ध में अन्तःकरण में जो अभेद वृत्ति निर्माण होती है उसे प्राप्त करने का वह स्थान है। यहां प्रतिदिन प्रार्थना और ध्वज-दर्शन के रूप में अपने ध्येय का स्मरण करने का अवसर प्राप्त होता है।

हम प्रतिदिन की अपनी शाखा में इस निश्चय को अधिकाधिक प्रखर बनाते हैं कि राष्ट्र को श्रेष्ठ बनायेंगे। "परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्" का उच्चारण कर हम राष्ट्र को अति वैभवसम्पन्न बनाने का निश्चय दोहराते हैं। राष्ट्र के वैभव का अर्थ हमारी दृष्टि में केवल कुछ धन-सम्पत्ति, सत्ता आदि में संतोष मानना नहीं है। अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुसार संतोष तब माना जायगा जब सम्पत्ति और प्रगति धर्मानुकूल और धर्मरक्षार्थ हो। धर्मरक्षा में धर्म-परिपालन भी आता है। इसीलिए प्रार्थना में हम कहते हैं, "विधायास्य धर्मस्य संरक्षरणम्।" धर्म की रक्षा करना प्रथम महत्व की बात है। याने धर्म का परिपालन करते हुए परमवैभव की कामना हम करते हैं। इसके बिना वैभव और स्वतंत्रता निरर्थक है। वैभव की प्राप्ति में यह बात पूर्व शर्त के रूप में उपस्थित है।

यह सत्य है कि "धर्म" शब्द का उच्चारण करते ही बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। क्योंकि धर्म बहुत व्यापक शब्द है। अनेक अर्थ उसमें सन्निहित हैं। साथ ही धर्म शब्द के सम्बन्ध में जाने और अनजाने अनेक भ्रम आजकल प्रचलित हैं। इन भ्रमों के कारण धर्म शब्द का ठीक बोध होना भी सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन हो जाता है। अपने प्राचीन महापुरुषों ने धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। वे सब व्याख्याएं परस्पर मेल रखती है। उन व्याख्याओं में सबसे अधिक मान्य और प्रचलित व्याख्या है, "यतः अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" यह व्याख्या अपनी प्रार्थना की समुत्कर्ष निःश्रेयस पंक्ति में सारांश रूप में निहित है। राष्ट्र के वैभव सम्बन्धी इस परिपूर्ण जीवन के चित्र को अपनी आंखों के समक्ष उपस्थित रखने के लिए नित्य प्रार्थना में सम्मिलित होना हमारे लिए आवश्यक है।

शाखा-कार्य का दूसरा हिस्सा है अतिरिक्त बचे हुए समय का उपयोग अपने चारों ओर के समाज बंधुओं के बीच जाने के लिए करना और समाज में से व्यक्ति चुन-चुनकर उन्हें अपने साथ लाने का प्रयास करना। हममें से प्रत्येक को अपने समय का ऐसा उपयोग करना चाहिए। लोगों के साथ निकटतम सम्पर्क के द्वारा आत्मीयता का वायुमण्डल बढ़ाने

वाला कार्य चौबीसों घंटे चलता रहना चाहिए। इस प्रकार से हम लोग प्रयत्न करें तो मैं समझता हूं कि थोड़े ही दिनों और पर्याप्त मात्रा में ऐसी पवित्र शक्ति के रूप में हम खड़े हो जायेंगे जिसकी आवाज समाज में सब लोग सुनते हैं। देश, राष्ट्र और समाज के हित के लिए यह आवयश्क है।

यह कहने से काम नहीं चलेगा कि मेरे पास समय नहीं है। यदि हम इसकी आवश्यकता को समझकर ठीक प्रकार से प्रयत्न करेंगे, तो पर्याप्त समय निकल सकेगा। अपने चारों ओर इतना विशाल समाज फैला पड़ा है, जिसके बीच हमें प्रयत्न करना है। यदि हम कहें कि हमारे पास समय नहीं, तो यह हमारे लिए शोभा देने वाली बात नहीं है।

क्योंकि हममें से प्रत्येक, अपने दैनिक जीवन के विभिन्न व्यवहार करते समय समाज के साथ सम्पर्क करता ही है; अतः हमें इन सब व्यवहारों के बीच अपने कार्य का ध्यान बनाये रखना होगा। कोई डॉक्टर है तो उसके पास मरीज आते हैं, शिक्षक हैं तो विद्यार्थी उसके आसपास हैं, किसानी या बागवानी करने वाले लोग है तो विभिन्न काम-धंधे वाले उनके समीप आते हैं। विद्यार्थी हैं तो उनके खेलकूद, आमोद-प्रमोद के पढ़ाई आदि के मित्र चारों ओर रहते हैं। दुकानदार हैं तो ग्राहक उनके पास आते हैं। इन सबसे बातचीत करना और आत्मीयता बढ़ाना चाहिए तथा इन सब व्यवहारों के बीच समाज-कार्य की आवश्यकता में उनके योगदान के उपयोग का विचार करते चलना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की जो कुछ गुण-सम्पदा है उसका भली प्रकार आकलन करके समाज-हित में उसे प्रयुक्त करने की उसको प्रेरणा देनी चाहिए। व्यक्तियों के प्रत्येक व्यवहार में से कुछ न कुछ राष्ट्रहित का विचार निकालते बनना चाहिए। यहां तक कि जिन्हें अवगुण कहा जाता है उनका भी राष्ट्रहित में उपयोग करने की कला मालूम होनी चाहिए। जो चोर और डाकू हैं उन्हें भी यह बात समझ में आ सकती है कि अपने ही समाज-बन्धुओं को कष्ट देने और भूखा मारने में भला कौन-सा आनन्द है। ऐसा करना है तो हमारे राष्ट्र के जो शत्रु हैं उनके पास से उनकी गुप्त बातें निकालकर लाएं। इस दुर्गुण को भी राष्ट्र की भलाई में प्रयुक्त करें। यदि हमने अपने जीवन के चौबीसों घंटों पर ठीक प्रकार से विचार किया और अपने चारों ओर फैले इस विशाल समाज के साथ होने वाले सभी सम्पर्क सम्बन्धों में राष्ट्र सम्बन्धी प्रेरणा जगाने का ध्यान रखा, तो हममें से किसी को भी यह कहने की स्थिति नहीं आ सकेगी कि हमारे पास समय का अभाव है।

इस प्रकार समग्र समाज का हित-चिंतन ही जिनका स्वार्थ है, इसके अतिरिक्त जिनका कोई दूसरा स्वार्थ नहीं, जिन्होंने प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि की सभी व्यक्तिगत अभिलाषाओं को पूरी तरह से हृदय से उखाड़ फेंका है, जो समाज की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा में ही संतोष का अनुभव करते हैं, जिन्हें समाज सहज प्रेम और आदर प्रदान करे और शेष समाज-बन्धुओं में यह अभिलाषा जगे कि हम भी ऐसे ही बनने का यत्न करेंगे, जिन लोगों की ओर देखकर समाज-बन्धुओं को यह अनुभव हो कि ये लोग भलाई करने वाले हैं,

आवश्यकता पड़ने पर ये योग्य मार्गदर्शन करने वाले हैं, ऐसे शील-सम्पन्न, चरित्र-सम्पन्न, पवित्र, धर्मनिष्ठ और समाजहित में संतुष्ट व्यक्ति पर्याप्त मात्रा में खड़े करना और उनका सूत्रबद्ध जीवन होना जरूरी है; ताकि सम्पूर्ण समाज को प्रेम के आलिंगन में समाविष्ट करके सबके कल्याण के लिए प्रयास पूरा कर सकें। ऐसा दृश्य खड़ा हो फिर संघ के बारे में और कुछ बोलने की जरूरत नहीं रह जायगी।

इसके लिए हमें परोपदेश नहीं करना है। यह कार्य हम लोग स्वयं से ही प्रारंभ करें। यही अपने कार्य का दूसरा स्वरूप है, अंतरंग स्वरूप। अपने स्वतः के संस्कारों को शुद्ध करते रहना चाहिए। अपने अंदर इस प्रकार का शील विकसित हो, जिससे सम्पूर्ण समाज से हम तादात्म्य का अनुभव कर सकें। प्रत्येक के सुख में सुखी होने की अपनी क्षमता बढ़ाएं। प्रत्येक के सुख की वृद्धि में आनंदित हों। दुःख को दूर करने के लिए व्यक्तिशः प्रयत्न करें और साथ ही सामूहिक रूप से योजनाबद्ध होकर भी करें। ऐसी विशुद्ध भावना से ओतप्रोत अपने-आपको करें और अपने जीवन में आने वाली सब दुर्बलताओं और भिन्न-भिन्न प्रकार की विकृतियों को उखाड़ फेंकने के लिए चाहे जितना कठोर कदम उठाना पड़े, उठाएं। यही अपने संघ-कार्य का आन्तरिक स्वरूप है। यह स्वरूप प्रगट होने पर कुछ बोलना नहीं पड़ता। राष्ट्र की चेतना, राष्ट्र की पवित्र शक्ति और राष्ट्र के सब प्रकार के दुखों का निवारण करने वाला सामर्थ्य खड़ा करने का यह कार्य है। हर समय अपने चिंतन द्वारा अपने संस्कारों को पवित्र व शुद्ध रखते हुए बहुत ही प्रयत्नपूर्वक अपने शील और चारित्र्य के प्रभाव का विस्तार करना पड़ेगा।

अपना समाज बहुत विशाल है। इसमें कितनी ही जातियां हैं। इनकी परस्पर भिन्नताएं भी लोग बताते हैं, बताने दो। हमें तो यह सोचना है कि हर जाति में अच्छे, कर्तृत्ववान, पवित्र और शुद्ध लोग कैसे मिलेंगे। उदाहरण के लिए वनवासी क्षेत्र में जो काम चलता है, वहां ऐसे अच्छे बंधु मिले हैं कि उनको देखकर शहर के प्रगतिशील कहलाने वाले भी शरमा जाएं। प्रयत्न करने से सब जाति, उप-जाति, पंथ, उप-पंथ, ग्रामवासी और नगरवासी सबमें ऐसे लोग मिलेंगे। ऐसे व्यक्तियों को चुन-चुनकर राष्ट्रहितार्थ समर्पित शक्ति के रूप में खड़ा करना चाहिए।

समर्पित शक्ति कहने का अर्थ साफ है कि हमें राष्ट्रहित के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं है। सत्ता की, मान-सम्मान की, किसी बात की चाह नहीं है। अपने राष्ट्र की इस पवित्र शक्ति के उपासक, पवित्र शक्ति को बनाये रखने वाले और इसी हेतु इस अभिमान से दूर कि हम कोई बड़े हैं, हमें अहर्निश कार्य में लगे रहना है।

फिर इस कार्य को सम्पूर्ण देश में दूर-दूर तक फैलाने की बात है। इस सम्बन्ध में कार्यकर्ता, जिन्हें प्रचारक कहा जाता है, चाहिए। प्रश्न यह है कि क्या पर्याप्त मात्रा में प्रचारक अनायास मिलेंगे? मुझे नहीं लगता कि चलते-फिरते अनायास मिल जायेंगे।

पहले कभी अनायास मिले होंगे। संघ में कई पुराने कार्यकर्ता हैं। अपने निजी पारिवारिक जीवन का विचार सर्वथा त्यागकर वे कार्य में संलग्न हैं। उस समय इनके लिए विशेष प्रयत्न हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस समय सहजरूप से हो गया। परन्तु आज की परिस्थिति में यह कार्य इतना सहज होने की संभावना नहीं है। हमें विचार करना होगा कि अब जिन्हें प्रचारक के नाते तैयार करना होगा उनके लिए प्रयास आवश्यक है। प्रत्येक को सब बातें समझाते हुए और परिस्थितियों का लेखा-जोखा कराते हुए तैयार करना होगा। राष्ट्रीय उत्थान के इस कार्य में जो अड़चनें आती हैं उनसे भली-भांति परिचित करा देना होगा। जीवन में अनेक प्रकार के आकर्षणों के प्रसंग उपस्थित होते हैं। आपत्तियों में से गुजरना होता है। धक्के लगते हैं, उन्हें सहना पड़ता है। सम्मान प्राप्त करने की इच्छाएं बलवती होती हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक दबाना होता है। यश-प्रतिष्ठा, जिसे आजकल की भाषा में नेतागिरी के मोह कहते हैं, उपस्थित होते हैं। उनसे बचना आवश्यक होता है। इतनी और इन जैसी अनेक बाधाओं के होते हुए भी कार्य सम्पन्न करना आवश्यक है। कार्य के इन आवाहन को प्रयत्नपूर्वक प्रत्येक के हृदय में जागृत करना होगा।

कार्य बहुत विशाल है। साथ ही समाजसेवा के जो अनेक क्षेत्र हैं वे भी कार्यकर्ताओं की मांग करते हैं। सब कहते हैं कि आदमी चाहिए। अनेक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे सब सतत् मांग करते हैं कि कार्यकर्ता दीजिए। इसलिए इतनी संख्या में कार्यकर्ता निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील रहने वाला एक वर्ग निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक है।

संघ-कार्य में अपनी शाखा-पद्धति के अनेक अंग हैं। स्वयंसेवक बंधुओं की शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की प्रगति के लिए योजनापूर्वक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। तदनुसार उत्तरादायित्व बांट लेते हैं। उन सब विविध अंगों के साथ प्रचारक के नाते कार्यकर्ता तैयार करने की जिम्मेदारी भी एक पहलू होना चाहिए। इसके लिए निश्चित अधिकारी हों। अपने जीवन में त्याग का आदर्श प्रस्तुत करते हुए वह क्षेत्र के छोटे-बड़े स्वयंसेवकों से घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला हो। ये सम्बन्ध इतने गहरे और सार्थक हों कि वह कार्यक्षम व्यक्तियों का चयन करके उन्हें निश्चिन्ततापूर्वक कह सकें कि अपने जीवन की बाकी बातों का विचार त्याग दो। तुम कार्य में पूरी तरह लग जाओ। ऐसा कह सकने के लिए जितना समय, परिश्रम और दौड़-धूप आवश्यक है, वह लगाते हुए, कार्यकर्ताओं को तैयार करने का कार्य करें। यह महत्वपूर्ण कार्य है।

संघ-कार्य में समाजसेवा के लिए प्रचारक नाम की जो व्यवस्था है अन्य किसी स्थान पर नहीं मिलती। अपने यहां यह एक असामान्य पद्धति है। ये प्रचारक कैसे तैयार होते हैं? इसकी "टेकनिक" किसी को पता नहीं। भगवान की दया से सब चलता है। परन्तु थोड़ा-बहुत मनुष्य द्वारा प्रारम्भ होने पर ही भगवान की सहायता होती है। इसीलिए मैंने प्रश्न पूछा कि ध्यान रखकर, व्यक्ति चुनकर उन्हें अपनी इस असामान्य प्रचारक पद्धति

का अंग बनाने का कोई प्रयत्न चलता है या नहीं ? यह चलाने की आवश्यकता है। समाज में चारों ओर विशाल उत्कृष्ट वर्ग अपने कार्य के प्रभाव के अन्तर्गत तैयार हुआ है कि नहीं, इसकी देखभाल करने की आवश्यकता है। इस विशाल सम्पर्कित क्षेत्र के बंधुओं के साहस, शील, चारित्र्य और ज्ञान के संरक्षण के लिए भी यह आवश्यक है। समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में अनेक प्रकार से हितकारी कार्यों में संलग्न इन सब लोगों के बीच आपसी तालमेल तथा सब मिलकर कार्य करने की प्रेरणा देनेवाला प्रचारक-वर्ग जहां-तहां उपस्थित रहना आवश्यक है। इसीलिए यह पूछना आवश्यक हो गया कि इस महत्वपूर्ण कार्य में आगे बढ़ने के लिए अनेक लोगों के मन में इच्छा जगाने का योजनाबद्ध कार्य होता है या नहीं ?

यह भी ध्यान रहे कि इस प्रकार हमें प्रचारक नाम की जाति या कोई वर्ग खड़ा नहीं करना है। ऐसी किसी भावना का हमें स्पर्श भी नहीं होना चाहिए कि प्रचारक अन्य कार्यकर्ताओं से कुछ भिन्न हैं।

हम सभी कार्यकर्ता हैं। परन्तु कार्य की आवश्यकता के अनुरूप जो अपने जीवन में संघकार्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता, उपलब्ध सब समय, शक्ति, बुद्धि, भावना केवल संघ-कार्य के लिए लगाने वाला है, जिसे दूसरा कुछ भी सोचने की इच्छा नहीं, एकाग्रचित्त से संघ-कार्य करने में संलग्न हैं, ऐसा प्रचारक और ऐसे कार्यकर्ताओं का बड़ा वर्ग जरूरी है, जो स्थान-स्थान पर दौड़-धूप कर सके।

इनकी सहायता के लिए स्थान-स्थान पर कार्य करनेवाला अपना अधिकारी वर्ग है। संघचालक, कार्यवाह, शिक्षक आदि हैं। ये सब भी, गुणों में प्रचारक से किसी प्रकार कम नहीं हैं। ये भी अपने घरद्वार-परिवार आदि संभालते हुए संघ-कार्य के विस्तार के लिए दिन-रात जुटे हुए हैं। ये लोग दिन-रात कार्य करते हुए अपने प्रचारक बंधुओं को नये-नये स्थानों और नये-नये लोगों के पास पहुंचने के लिए मुक्त रखते हैं।

अपना कार्य शीघ्र पूर्ण करना है। ऐसी बातें हम बोलते रहते हैं। इसके लिए कार्यकर्ताओं के निर्माण और उनके विकास की ओर अधिक ध्यान दें। अच्छी योग्यता से काम करने वाले, शुद्ध चरित्र, ध्येयनिष्ठ कर्तृत्ववान व्यक्ति सब स्थानों पर चाहिए। किसी विशिष्ट मनुष्य-समुदाय मात्र की यह बपौती नहीं है। सब दूर ऐसे लोग मिलेंगे। देशभर में उनको खोजना है, खोजकर कार्य के लिए खड़ा करना है। व्यक्तिगत जीवन पर नियंत्रण लाकर संघ-कार्य में अधिकाधिक समर्पण करने वाले लोगों को काफी बड़ी संख्या में खोज निकालकर काम में लगाना है। यदि समाज में इस प्रकार के श्रेष्ठ गुणसम्पन्न, त्यागी और कार्य पर शक्ति केन्द्रित करने वाले कार्यकर्ता हम खड़े नहीं कर पाते, तो बाकी की लम्बी-चौड़ी बातें करने से कोई लाभ नहीं होगा।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृष्ठ १३५-१४२)

यदि देश में उद्योगशीलता का, उत्पादन क्षमता का, अपनी सेना के लिए आवश्यक सभी प्रकार की क्षतिपूर्ति का और विगत बारह सौ वर्षों के इस सतत् आक्रमण की श्रृंखला को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त करने का प्रचण्ड विजयशाली वायुमण्डल निर्माण करना है, तो हमें यह भली-भांति समझ लेना है कि समाज में तदनुसार एक मानसिक क्रांति लाने की नितांत आवश्यकता है। समाज में एक ऐसा हृदय-परिवर्तन होना चाहिए जिसमें से वर्तमान व्यक्तिवाद, जातिवाद, पंथवाद, भाषावाद आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के गुटों के ईर्ष्यायुक्त स्वार्थ के झगड़े समाप्त हों, और सबका ध्यान ऐसे क्षुद्र स्वार्थों से हटाकर राष्ट्रहित की ओर लगाया जा सके। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा का निर्माण करने का कार्य, केवल अपनी शाखाओं द्वारा हो रहा है। मातृभूमि का प्रतिदिन चिंतन और वंदन करते हुए एकरसता का संस्कार जहां प्राप्त होता है, सम्पूर्ण समाज की एकता और आत्मीयता की प्रेरणा मिलती है, अनुशासन के द्वारा शक्तिसम्पन्नता का अनुभव प्राप्त होता है, समाज में आमूलाग्र मनःक्रांति उत्पन्न करने वाला कोई ऐसा प्रतिष्ठान यदि आज देश में कार्यरत है तो वह अपना संघ ही है। ईश्वर की अपने ऊपर महान कृपा है कि इस कार्य से अपना सम्बन्ध स्थापित हुआ और हमें यह कार्य करने का छोटा-बड़ा दायित्व मिला। ईश्वर के इस उपकार का स्मरण करते हुए हमें अपनी समस्त शक्ति इस कार्य के विस्तार और दृढ़ीकरण में लगानी चाहिए। आज अपना जो कार्य है, लोग भले ही उसे बड़ा कहें; अपने समाज की विशालता को देखते हुए अभी बहुत छोटा है। ग्रामों से भी आगे वनों में रहनेवाले अपने समाज-बन्धुओं की एक-एक झोंपड़ी तक नव-जागरणयुक्त मनःक्रांति का यह मंत्र सबके अन्तःकरण में जगाना है। बाकी सब प्रकार की बातों को अपने हृदय से हटाकर, इसी एकमेव विचार के चिंतन और तदनुसार अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इस कार्य को पूर्ण करके ही रहेंगे ऐसे दृढ़ निश्चय की आज आवश्यकता है।

(श्रीगुरूजी समग्र दर्शन, खण्ड ६, पृष्ठ २०९)

२३

संगठन-शास्त्र

जिस उद्देश्य को लेकर संघ चला है उसे प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आपको नये रूप में ढाल लें। संगठन का एक सिद्धांत हम ध्यान में रखें कि यह काम अकेला आदमी नहीं कर सकता। हमारा उद्देश्य संगठन (Organisation) करके शक्ति प्राप्त करना है। बिना संगठन के हम कुछ नही कर सकते। यदि अपनें सहयोगी के मन में छोटा सा भी बुरा भाव निर्माण हो जाय, तो वह संगठन और राष्ट्र के लिए हानिकर सिद्ध हो सकता है। यदि हममें परस्पर पूर्ण सहकार्य (Mental Co-operation) न हो, तो हमने संगठन का प्राथमिक पाठ भी नहीं सीखा, ऐसा मैं कहूंगा। जब हम संपूर्ण राष्ट्र को एक करना चाहते हैं, तो पहले अपने आपको एक करना ही होगा।

संघ में ऐसा स्वयंसेवक आ सकता है जिसके स्वभाव में दोष है, कोई कमजोरी है, तो भी उससे मिलकर, उसे संभालकर ही हमें काम करना चाहिए। हम जब लोगों के दोष देखते हैं, तो हमें यह सोचना चाहिए कि दुनिया में निर्दोष कौन है? हममें भी दोष हैं। हम सबमें दोष रहने के कारण एक दूसरे के दोषों को समझकर काम करें, यह आवश्यक है। हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि अपने सहयोगियों के गुण संसार के सामने रखें। उससे गुण बढ़ते हैं। केवल दोष देखना पितृहत्या जैसा पाप है। अपने को निर्दोष समझना अहंकार है। उपदेशक वही हो सकता है, जो पूर्णतया निर्दोष है। जो अपने दोषों को छिपाकर दूसरों को उपदेश करता है, उसके समान ढोंगी और मूर्ख और कोई नहीं। हम उपदेशक नहीं, एक दूसरे के सहयोगी हैं।

बंगाल का एक महापुरुष एक शराबी और पतित मुनष्य के साथ रहता था। परंतु उस महापुरुष ने संसार को उस मुनष्य के दोष नहीं बताए। कुछ वर्षों के पश्चात् वह पतित

मनुष्य महापुरुषों में गिना गया। उसका शराबीपन शुद्ध प्रेम से नष्ट हुआ। यदि उससे दूर रहकर यह महापुरुष उससे कहते कि "तू शराबी है, दूर रह", तो उसकी शराब नहीं छूटती। परंतु शुद्ध प्रेम से उसके दोषों को धीरे-धीरे दूर किया जा सका।

संगठन की सेवा करना, उसे और अधिक मजबूत करना, अपने सब सहयोगियों में स्नेहपूर्ण सहकार्य (Lubricant Co-operation) रखना हमारा उद्देश्य रहना चाहिए। किसी को कुछ अधिकार मिला, तो उसका यही अर्थ है कि उसके कर्तव्य का क्षेत्र बढ़ा।

(श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ४-५)

* * * *

अपना यह संगठन चंदा एकत्रित करने वाला और फार्म भराने वाला संगठन नहीं है। यहां दो पैरवाले जानवर को सही अर्थ में मनुष्य बनाया जाता है। जो अपना कर्तव्य जानता है, जिसका हृदय असीम स्नेह से भरा हुआ है ऐसे मनुष्य की यहां निर्मिति होती है। अपने शरीर, मन और बुद्धि के सब गुण जब एक ही विषय पर केंद्रित हो जाते हैं, तब मनुष्य अपना कर्तव्य जानता है। तभी यह दो पैरवाला जानवर आदमी बन पाता है। संघ मनुष्य को अपने सही कर्तव्य की ओर खींचता है। नया जीवन देता है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ५)

* * * *

अपना हृदय विशाल करो। उसे शुद्ध प्रेम से भर दो। तब कहीं आप संगठन-शास्त्र को सीख सकोगे। संगठन-शास्त्र की प्रत्यक्ष मूर्ति हमारे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक हैं। आप उनसे मिलने का प्रयास करें। उनका पूर्ण अध्ययन करें। आपको उस एक व्यक्ति में सारा संगठन-शास्त्र साकार हुआ दिखाई देगा। मैं व्यक्ति पूजा नहीं, गुणों की पूजा करता हूं। जीवन में सद्गुण संपन्न बनकर कैसे रहें यह जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र के जीवन का अध्ययन करके हम समझ सकते हैं, वैसे ही संगठन कैसे किया जाता है, संगठन-शास्त्र क्या है, यह संघ-निर्माता के जीवन का अध्ययन करने से हम समझ सकते हैं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ६)

* * * *

शब्द जैसी अपूर्ण चीज दुनिया में है ही नहीं। मैं संघ अनुभव करता हूं पर बता नहीं सकता, यह आप भी तब समझेंगे जब संघ के साथ एकात्मता (Identity) पा लेंगे।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ६)

संघ अपने हिंदू समाज को संगठित कर एक बलशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा करना चाहता है। कुछ लोग पूछते हैं कि क्या कुछ युवक एकत्रित करना पर्याप्त है? एक बड़े प्रोफेसर कहते थे कि यदि आपके पास २०० युवक हैं और आप उनसे कुछ काम नहीं लेते तो उन्हें आप आलसी बनाते हैं, उनकी अवनति (Degeneration) करते हैं और राष्ट्र को नुकसान पहुंचाते हैं। हम जानते हैं कि अपने काम में युवक अधिक परिश्रमी औ· कार्यक्षम बनता है, सद्‌गुण संपन्न बनता है, क्योंकि अपने समाज को संगठित करने के लिए वह लगन से काम करता है। हमारे पूज्य संघ-निर्माता ने कहा है कि संगठन ही हमारा ध्येय है और कार्यक्रम भी संगठन के लिए ही है। संपूर्ण हिंदू समाज संगठित करने के अपने उद्देश्य तक पहुंचते समय मार्ग में कई स्टेशन मिलेंगे। जैसे बम्बई जाते समय मार्ग में कई स्टेशन आते हैं पर बम्बई अंतिम पड़ाव है, वैसे ही आसेतु हिमाचल सम्पूर्ण हिंदू समाज की सुसंगठित स्थिति अंतिम पड़ाव है। इस स्थिति पर पहुंचने के पूर्व ही अपनी कई समस्याएं सुलझ जायगीं।

एक अध्यापक विद्यार्थियों को पूर्ण अभ्यासक्रम पढ़ाते हैं। पढ़ने या पढ़ाने वाले विश्वविद्यालयीन परीक्षा में आने वाली प्रश्न-पत्रिका को नहीं जानते, परन्तु पूर्ण अभ्यासक्रम जानने के कारण किसी भी प्रश्न का वह ठीक उत्तर दे सकता है। यही स्थिति सुसंगठित, अनुशासित समाज की होती है। ऐसे सुसंगठित समाज के सामने उपस्थित किसी भी समस्या का वह सुविधापूर्वक हल कर सकता है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ८)

* * * *

हमें ऐसी शक्ति की उपासना करनी है, जिससे दुष्टों को हम परास्त करके जगत की रक्षा तो कर सकें, परन्तु उससे सद्‌प्रवृत्त लोग डरें नहीं। दूसरों को अकारण डराने के लिए यह शक्ति नहीं है। अपने हिन्दू समाज का संगठन करके संघ ऐसी शक्ति निर्माण करना चाहता है जिससे किसी भी प्रकार की आपत्ति का हम मुकाबला कर सकें। किसी एक समस्या को सुलझाने के लिए यह संगठन नहीं है। इसीलिए हम कहते हैं संगठन संगठन के लिए है, सब समस्याओं का सही हल हो सके, इसलिए है, आत्मनिर्भर रहकर हम अपना समाज जीवन दुनिया में सम्मानपूर्वक चला सकें, इसलिए है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ८)

* * * *

अपने संगठन का माध्यम है अपनी दैनंदिन चलने वाली संघ-शाखा। हम सबका काम है कि उसमें अधिक से अधिक संख्या में हिन्दुओं को प्रतिदिन उपस्थित करें तथा उनमें

संगठन का भाव भरें। यही अपने संगठन का कार्यक्रम है जिससे बल की उपासना होती है।

परकीय लोग यहां आकर राज्य जमा बैठे; क्योंकि यहां राष्ट्र शक्तिशाली नहीं था। अतः हमारा काम रोना या उन्हें गाली देना नहीं है। उससे कोई लाभ नहीं। हमें शक्ति संपादन करना है, राष्ट्रजीवन संगठित और शक्तिशाली बनाना है। यह काम किसी भी प्रतिक्रियास्वरूप नहीं, अपना राष्ट्र सुदृढ़ रहे, वैभवसंपन्न बने, इसलिए है। कोई भी प्रतिक्रियास्वरूप आंदोलन चिरस्थायी नहीं हो सकता। प्रतिक्रिया का आधार समाप्त होते ही वह भी समाप्त हो जाता है। जैसे अपना शरीर सुदृढ़, शक्तिशाली रहना, सुख-सुविधा के लिए आवश्यक है, ऐसा सर्वसाधारण मनुष्य को स्वभावतः लगता है, वैसे ही समाज सुसंगठित अवस्था में शक्तिशाली रहे, स्वसामर्थ्य से दुनिया में मान-सम्मान प्राप्त करे, अपने समाज की यह स्वाभाविक इच्छापूर्ण करने के लिए अपना यह संघकार्य है। संघ के रूप में हिन्दू जाति के आंतरिक भाव प्रकट हुए हैं। हमारा धर्म कहता है कि दुर्बल के साथी भगवान भी नहीं होते, "देवो दुर्बलघातकः"। अतः स्वाभाविक तौर पर हम संगठित होकर बलवान बनें।

हिन्दुस्थान के लोग बड़े साधु स्वभाव के हैं। सभी से प्रेम करना उनका स्वभाव है। अतः वे शत्रु से भी प्रेम करते-करते स्वयं नष्ट होने के मार्ग पर हैं। यह साधुता तभी सफल होगी जब हम संगठित होकर, शक्ति संपन्न होकर दुनिया में खड़े होंगे, तभी साधुता संसार के लिए सुखदायक होगी, तभी हम दुनिया को मानवता की शिक्षा दे सकेंगे। इस स्वाभाविक स्व-कर्तव्य के अनुसार ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ शक्ति-संचय में विश्वास रखकर काम करता है। संघ किसी के विरोध के लिए नहीं, अपितु अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए काम कर रहा है। हमें विश्वास है कि अंत में यह देखकर अखिल विश्व भी संघ में आए हुए हिन्दू समाज की प्रशंसा करेगा कि उनके कारण ही हिन्दू धर्म एवं हिन्दू समाज की रक्षा हुई है। अतः जितना शीघ्र संघ का कार्य बढ़ेगा उतना ही शीघ्र हमारा उद्देश्य वास्तविक स्वरूप धारण कर सकेगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ९-१०)

* * * *

आज अपने राष्ट्र को सांघिक जीवन की नितांत आवश्यकता है। [illegible] प्रत्येक घटक को समष्टि जीवन में अपना व्यक्तित्व विलीन करना चाहिए। संपूर्ण हिन्दू समाज एकरस तथा सूत्रबद्ध [illegible] निरंतर व्यतीत करता आ रहा है, यह [illegible] सभी [illegible] के हृदय में उदित होना चाहिए। यह कार्य करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ [illegible] आविर्भाव हुआ है। हिन्दू समाज की संख्या अति प्रचण्ड है, परंतु वह वि[illegible] गया है। संघ [illegible] एकता [illegible] शिक्षा देता है। हिन्दू समाज पर अत्याचार होने की खबरें हम हमेशा पढ़ते रहते हैं, परंतु

इसके लिए कोई अन्य नहीं, हम स्वयं ही दोषी हैं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० १०)

* * * *

संघ-कार्य केवल काल्पनिक अथवा तात्विक नहीं है। हम अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख सकते हैं। प्रांत भेद, भाषा भेद मिटाकर, दुर्बलता नष्ट कर हिन्दू समाज का संगठन करना चाहिए ऐसा लोग केवल बोलते रहे, परंतु अल्प प्रमाण में ही क्यों न हो, संघ ने यह साकार कर दिखाया है। बाहरी भेद मिटाकर हिन्दुओं को उनकी आंतरिक एकता का ज्ञान कराना संघ-कार्य है। उसके कारण समाज की प्रचण्ड शक्ति निर्माण होगी। हम अपने शिविरों में भिन्न-भिन्न प्रांतों के होते हुए भी आपस में अत्यंत प्रेम-भाव और बंधु-भाव से रहते हैं। इस एक बात से यही सत्य प्रकट हुआ है कि हिन्दुओं के बाह्य भेदों के कारण उनकी आंतरिक एकता की भावना में किसी भी प्रकार की विकृति पैदा नहीं हो सकती। इस प्रकार की सच्ची एकता का अनुभव करना संगठन शक्ति का साक्षात्कार है। यह अनुभूति हमें हुई है और इसीलिए हम विश्वास से कह सकते हैं कि किसी भी भीषण परिस्थिति में हिन्दू समाज की रक्षा करने की संगठित शक्ति संघ द्वारा निर्माण हो रही है। इस संदर्भ में मुझे भगवान मनु की मछली की कथा स्मरण होती है। एक बार भगवान मनु ने जल के बाहर तड़पने वाली एक छोटी सी मछली देखी। उस मछली पर उन्हें दया आई और उन्होंने उसे अपने कमंडलु में डाल दिया। थोड़ी देर में वह मछली बड़ी हो गई, जिससे उसे स्थान की कमी हुई। तब मनु ने उसे एक बड़े जलाशय में छोड़ दिया। वह स्थान भी उसे छोटा पड़ने लगा, इसलिए मनु ने मछली को उससे भी बड़े जलाशय में छोड़ा। इस प्रकार उस मछली को क्रमशः नदी, महानदी, और अंत में सागर में छोड़ा गया। प्रलय काल में उस विशालकाय मछली ने भगवान् मनु को अपनी पीठ पर आश्रय देकर उन्हें बचाया और प्रलय के बाद मनु ने सर्व पृथ्वी पुनः उत्पन्न की। संघ भी उसी मछली के समान निरंतर बढ़ रहा है। सारा संसार आज प्रलयावस्था में दिखाई देता है। वर्तमान भीषण अवस्था देखकर लोग भयभीत हो गए हैं और अपने जान-माल की रक्षा के लिए इधर-उधर भाग रहे हैं। चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई है। घबराहट से लोग मूढ़मति हो गए हैं कि शेर को आलिंगन देने को भी सिद्ध हैं। परंतु संघ निर्भयता से यही बतला रहा है कि यदि हिन्दू समाज संगठित हुआ तो वह अपनी और अपने धर्म की इस भीषण तूफान में भी रक्षा कर सकेगा। कैसा भी भीषणतम तूफान हो, वह संगठित समाज टूटकर गिरने वाले आसमान को भी अपनी प्रचण्ड शक्ति से थ मकर अंत में अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अवश्य सफल होगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० १२-१३)

२४

यम-नियम

किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक निर्धारित मार्ग पर चलना पड़ता है, उसके अनुसार हमने अपने ध्येय-प्राप्ति के लिए एक मार्ग निश्चित किया है। इधर कुछ वर्षों से हिन्दुओं को संगठित करने के जो प्रयत्न हुए हैं, वे बहुत सफल नहीं हुए, क्योंकि जो प्रयत्न किये गये वे पूर्व नियोजित नहीं थे। उनमें एकसूत्रता नहीं थी। अपने संघ की विशेषता यह है कि संगठन-कार्य और उसे करने की पद्धति का मानस शास्त्रीय दृष्टि से सूक्ष्म विचार करके संघ के नेताओं ने अपना कार्य करने का निश्चय किया, कार्यकर्ताओं के लिए आचार-विचार के नियम बनाये। सुदृढ़ और स्वस्थ संघ-जीवन की वृद्धि के लिए ये नियम अत्यंत उपयुक्त हैं। उनके अनुसार आचरण करने पर, अपना अनुभव है कि निश्चित सफलता मिलती है।

ध्येय सिद्धि के लिए उस पर अपनी श्रृद्धा चाहिए। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में सहस्रों उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता। अपने सामने एक ही लक्ष्य रखकर उसकी प्राप्ति के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करना पड़ता है। श्रद्धा और विश्वास से अपने सामने रखा हुआ एकमात्र लक्ष्य प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना सफलता की कुंजी है। एक बार विचारपूर्वक अपना लक्ष्य और उसकी पूर्ति के साधन निश्चित हो जाने पर उस पर अटल श्रद्धा रखनी चाहिए। अपने लक्ष्य पर श्रद्धा और हृदय में लक्ष्य के प्रति अव्यभिचारी निष्ठा के बिना हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कदापि नहीं कर सकेंगे। यह श्रद्धा अंध न हो। शुद्ध हृदय से अपने ध्येय के विषय में निरपेक्ष विचार करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से निर्माण हुई श्रद्धा की अपेक्षा है।

अपना कार्य नीतियुक्त और न्याय संगत है यह बिश्वास दृढ़ होने पर, उसे पूर्ण करने के

लिए हमें कर्म-कठोर बनना होगा। जब तक अपने जीवन के अंगोपांगों को अपना ध्येय व्याप्त नहीं करता तब तक केवल बुद्धि से उसे स्वीकार कर लेने से कार्यपूर्ति नहीं होगी। हमें हृदय से अनुभव करना चाहिए कि संघ अपने जीवन का एकमेव कार्य है। इसके साथ ही व्यावहारिक सूझ-बूझ भी आवश्यक है। अपने में से अनेक के हृदय में संघ-कार्य के लिए निष्ठा रहने पर भी व्यावहारिक सूझ-बूझ न हो, तो अपने को अत्यंत प्रिय लगने वाले संघ-कार्य की हानि ही होगी। सर्वसाधारण मनुष्य में जो बुद्धि और सूझ-बूझ होती है, उसका योग्य उपयोग किया गया, तो अपने संगठन का कार्य बढ़ [illegible] है।

हमें सोचना चाहिए कि अधिकाधिक लोगों को अपने साथ कंधे से कंधा मिला[illegible] करने के लिए कैसे प्रेरित किया जाय। खरी-खोटी सुनाकर या मुंहफट बोलकर या [illegible] व्यवहार करने से तो यह नहीं हो सकेगा। हमें समझदारी और बुद्धिमत्ता से व्यवहार [illegible] होगा। अपने ध्येय के विषय में प्रदीर्घ भाषणों की अपेक्षा अपने [illegible]पूर्ण और [illegible] व्यवहार से लोग अपनी ओर आकर्षित होंगे। इसलिए विनम्र [illegible] और मधुर [illegible] प्रयत्नपूर्वक आत्मसात् करनी चाहिए। इससे लोग स्वा[illegible] ओर [illegible] होंगे। ध्येयनिष्ठ स्वयंसेवक का व्यक्तिगत चारित्र्य उसके अपने [illegible] के अनु[illegible] चाहिए। उसकी उक्ति और कृति में सामंजस्य हो। सामाजिक [illegible]कर्ता का [illegible] निरपवाद रूप से विशुद्ध रहना चाहिए। क्योंकि विशुद्ध चारित्र्य [illegible]ाजिक [illegible] की शक्ति का स्रोत है। अपना कथन योग्य है या अयोग्य [illegible] नहीं [illegible] अपने शुद्ध चारित्र्य की परख करते हैं और एक बार उनका अप[illegible]त्र्य पर [illegible] जम गया तो तत्परता से वे अपने पीछे किसी भी सीमा तक आने [illegible]ार होते हैं। [illegible] समाज में ऐसे कुछ लोग हैं जो समझते हैं कि संतो[illegible] काम [illegible] सामाजिक कार्यकर्ताओं का व्यक्तिगत चारित्र्य कितना भी [illegible] तो [illegible] ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक नहीं है। परंतु संघ [illegible] संघ के कार्यकर्ता के पास उसका अपना व्यक्तिगत कुछ भी नहीं [illegible] के [illegible] हम समाज के एक घटक के नाते समाज में रहते हैं। [illegible] भी क्षेत्र में हमें संगठन के एक जिम्मेदार घटक के नाते [illegible] व्यवहार [illegible] चाहिए। अपने चारों ओर रहने वाले लोग केवल हमारी ही [illegible] करेंगे [illegible] सामाजिक और व्यक्तिगत आचरण से, जिस संगठन [illegible] संघ की भी वे परीक्षा करेंगे, संगठन के प्रति अपना [illegible] के रूप में हम समाज में रहते हैं, अतः अपना आचरण [illegible] अपना व्यवहार विवेकपूर्ण न हो, और स्वभाव उग्र हो, तो लोग [illegible] नहीं [illegible] परंतु अपने चारित्र्य और सौजन्यपूर्ण व्यवहार से हम [illegible] हमारी [illegible] ध्यानपूर्वक [illegible]

हम [illegible] समाज के विनम्र [illegible] हैं। संकट [illegible] की [illegible]

सहायता करके हम समाज-सेवा की दृष्टि से अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। हमें समाज-सेवा का व्रत स्वीकार करना चाहिए। यदि हम लोगों से प्रेम और सहानुभूति से व्यवहार करेंगे, तो वे भी वैसा ही व्यवहार हमारे साथ करेंगे। अन्यथा वे हमारे प्रति उदासीन रहकर हमारी उपेक्षा करेंगे। समाज सेवा की यह आवश्यकता पूर्ण करने के लिए प्रत्येक स्वयंसेवक का यह अपरिहार्य कर्तव्य है कि वह अपना स्वभाव इस प्रकार का बनाये।

कार्य करते समय अपने स्वभाव-वैचित्र्य और स्वभाव-वैशिष्ट्य का ढिंढोरा न पीटें। मुझे ऐसे अनेक कार्यकर्ता ज्ञात हैं संघ में आने के बाद जिनका मूल स्वभाव भी पूर्णतः परिवर्तित हो गया। यह स्वभाव परिवर्तन तभी संभव है, जब यह सोच-समझकर कि अपनी एकाध क्षुद्र भूल से लोगों के संघ विषयक विचारों पर विपरीत परिणाम होता है और उससे अपने कार्य की हानि हो सकती है, हम अपने मित्रों, स्वयंसेवकों और समाज बंधुओं के साथ व्यवहार करें। अपने विद्यार्थी स्वयंसेवक यदि वार्षिक परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हुए तो स्वाभाविकतया लोग संघ को दोषी समझेंगे। यदि लोगों की यह धारणा बनी कि हमारा व्यवहार ठीक नहीं है, तो वे हमें आवारा समझेंगे। वाद-विवाद या तर्क से हम लोगों का केवल मुंह बंद कर सकेंगे, परंतु यदि अपना व्यवहार उत्कृष्ट न हो तो लोगों में यह भावना निर्माण नहीं कर सकेंगे कि हमारी संघ-कार्य पर पूरी निष्ठा है।

हममें भी कुछ दोष हैं यह अस्वीकार करने में कोई अर्थ नहीं है। अपने दोषों और त्रुटियों को खोजकर उनके निर्मूलन का प्रामाणिकता से प्रयत्न करना चाहिए। संगठन की पावन गंगा में वे दोष और त्रुटियां पातक सी हैं। उन्हें दूर करके अंतर्बाह्य पवित्र होने की आवश्यकता है। हमें समाज में रहकर विविध क्षेत्रों में काम करना है। इसलिए हम अपने विषय में समाज में उत्कृष्ट अभिमत निर्माण करें। यह शिकायत करने का कारण नहीं कि अपने निजी काम और समाज-हित के काम सदा एक दूसरे के विरोधी हैं। अपनी कुशलता से हमें ये दोनों काम अपने कार्य के अनुकूल बना लेना संभव है। व्यक्तिगत जीवन में हमें अपनी मां की विशेष चिंता करनी चाहिए। इहलोक में मां अपना जीवन-सर्वस्व है। उसके प्रति अपने हृदय में अपरंपार प्रीति रहनी चाहिए। हम मातृभक्त बनें। विशुद्ध प्रेम और भक्तियुक्त हृदय से यदि हम अपने माता-पिता की चिंता करें, तो उनके मन में अपने और अपने कार्य के विषय में कभी असंतोष नहीं रहेगा। उनका विश्वास संपादन करने का यही एवमेव मार्ग है। इस विश्वास के कारण अपने कर्तव्य-पथ में बाधक रोड़े बहुत कुछ कम हो जायंगे।

अपने बारे में घर के लोग यह कदापि न सोचें कि घर के लिए यह व्यक्ति सिरदर्द है। अपने विषय में घर के सभी लोगों की भावना आनंद और अभिमान की हो, तभी हम सबके प्रिय होंगे। अपने उत्तम व्यवहार के कारण सबका अपने बारे में अनुकूल मत होकर, उन्हें अनुभव हो कि हम घर तथा समाज के अचल और दृढ़ आधार स्तंभ [illegible]

और मधुर संभाषण और व्यवहार से लोगों को अपने कार्य के अनुकूल बनाना बहुत कठिन नहीं होना चाहिए। अपने निकटवर्ती रिश्तेदारों पर ही यदि अपने व्यवहार का प्रभाव न पड़ता हो, तो जिनके साथ अपना परिचय या रिश्ता नहीं है, उन पर अपने व्यवहार का प्रभाव होगा यह अपेक्षा रखना क्या उचित होगा? अपनी मां ही ऐसा एकमात्र स्थान है जिसके बारे में आत्यंतिक प्रेम तथा शुद्ध भक्ति की भावना अपने हृदय में चाहिए। हम उस पर पूर्णतः निर्भर रह सकते हैं। वही अपना शक्ति स्रोत है। इसीलिए अपनी मां के मन में अपने बारे में विश्वास उत्पन्न करना अपना आद्य कर्तव्य है। अपनी मां की अनुमति प्राप्त होने तक श्री आद्य शंकराचार्य ने संन्यास नहीं लिया था, परंतु दिव्य प्रेम और भक्ति के कारण अपनी मां को अपने अनुकूल करने में वे अंत में सफल हुए। उसके बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण कर सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। अपने नये तत्वज्ञान का प्रचार किया और हिन्दू धर्म-तत्वज्ञान में संभ्रम पैदा करने वाली दुष्ट प्रवृत्तियों का विनाश किया। हमें भी अपनी पद्धति से श्री शंकराचार्य का अनुसरण करना चाहिए। उसका प्रथम पाठ अपने घर पर ही सीख कर, हम अपने भाई-बहनों का व्यवहार सुधारने का प्रयास करें। उससे ही समाज के अन्य लोगों के जीवन को भी योग्य दिशा देने की दृष्टि से जो अनुभव आवश्यक है, वह हमें प्राप्त हो सकेगा।

एक मूल्यवान और शक्तिवान चिरंतन स्रोत के नाते घर और समाज में हमारी गिनती होनी चाहिए। निरुपयोगी अतएव तिरस्कृत मानकर घरवालों ने जिनका त्याग कर दिया है ऐसे कुपुत्रों की आज राष्ट्र को आवश्यकता नहीं है। सद्गुणी, श्रेष्ठ और कर्तृत्व संपन्न सत्पुत्रों का आज अपना राष्ट्र आवाहन कर रहा है। सरसरी तौर पर यह आवाहन तुच्छ प्रतीत होता हो, तो भी हम उसे स्वीकार करें और सद्गुण-संपन्न कर्तव्यवान स्वयंसेवक निर्माण करने का भरसक प्रयत्न करें।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० १३-१७)

२५

बातें कम, काम अधिक

मैं नहीं चाहता कि हम डरपोक बनें। हम धैर्यवान और क्रियाशील बनें। कट्टर विरोधकों या जिनके स्वभाव में परिवर्तन होना असंभव है, ऐसे व्यक्तियों से सामना होने पर उनसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे उन्हें मुंह की खानी पड़े। ऐसे लोगों से कैसा व्यवहार करना चाहिए यह समझने के लिए थोड़ा सा व्यावहारिक ज्ञान भी पर्याप्त है। अपने संगठन और अपने स्वाभिमान को ठेस पहुंचाने की सीमा तक विनम्रता का व्यवहार करना संघ को अपेक्षित नहीं है। प्रशंसा करके नहीं, तो अपने अंगभूत मूल्यवान सद्गुणों से समाज के विविधि क्षेत्रों में हमें लोकप्रिय होना चाहिए। हमारा आचरण ऐसा आदर्श हो कि वैसा आचरण करने की लोगों की इच्छा हो, अपने सहवास में रहने की उन्हें उत्सुकता और आकर्षण हो। स्नेहपूर्ण व्यवहार और मधुर स्वभाव से अपने चारों ओर के लोगों को हमसे घनिष्ठता बढ़ाने, मित्रता करने की स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए। चातुर्य तथा अल्प सी बुद्धि से अपनी इच्छानुसार अनेक मित्रों को हम संघ में ला सकेंगे। समाज के लोगों को एकत्र रखने में विशुद्ध प्रेम और सुदृढ़ मित्रता का बंधन सबसे अधिक प्रभावी है। वह फौलाद से भी अधिक सुदृढ़ है। निर्दोष और विनम्र व्यवहार से हम सबके प्रशंसा-पात्र बन सकेंगे। माता-पिता और पड़ोसियों को लगना चाहिए कि उनके बच्चे संघ के कार्यकर्ताओं के सहवास में सुरक्षित हैं। अपने बालक संघ में जाते हैं इस बात का उन्हें सात्विक अभिमान होना चाहिए।

दूसरों को अपने विचारों के अनुकूल करते समय कभी-कभी अपना पतन होने की [illegible]ना रहती है। उच्च ध्येय से नीचे फिसलना सरल है। ऐसे अवसर आते हैं, जब मन [illegible] और मोहित हो सकता है, लोगों द्वारा की जाने वाली टीका-टिप्पणी से मन [illegible]

होकर अपने मार्ग से हट जाना चाहता है। अपने मित्र और रिश्तेदार विविध उपायों से अपने ऊपर कभी-कभी दबाव डालते हैं और हम उसके शिकार हो सकते हैं। किसी भी परिस्थिति में अपनी मूल भूमिका और दृष्टिकोण, भले ही दूसरे हमें कट्टर और अति उत्साही कहें, कदापि नहीं छोड़ना चाहिए। सायंकाल की शाखा के समय रास्ते पर निरुद्देश्य भटकने या सिनेमा आदि देखने में समय नष्ट करने का विचार मन में कदापि नहीं आना चाहिए। शाम के अपने समय पर केवल संघ का अधिकार है, अन्य किसी का भी नहीं। संघ के विचारों पर अटल रहने के लिए संघ के बारे में स्वयंसेवकों में दृढ़ धारणा और कर्तव्य-कठोरता चाहिए। इसी में स्वयंसेवक का पुरुषार्थ है। अपना मन कभी भी दुर्बल न हो। मूलभूत महत्वपूर्ण मुद्दों पर समझौता करना स्वयंसेवकों को शोभा नहीं देता। हम अन्य कोई भी काम करते हों, वे संघ-कार्य में कभी बाधक न हों। किसी सुदृढ़ स्तंभ के समान हमें अपने स्थान पर अटल रहना चाहिए।

संघ-कार्य करने के विविध मार्ग हैं। अपने मित्रों, अपने चारों ओर रहने वाले लोगों के मन जीतने में उपदेश की अपेक्षा प्रत्यक्ष आचरण परिणामकारक होता है। कल बनने वाले स्वयंसेवक के स्वाभिमान को यदि हमने ठेस पहुंचाई, तो अपना कहना [illegible]त होने पर भी वह अपनी बात नहीं सुनेगा। हमारी भूमिका उपदेशक की नहीं, [illegible] आत्मीयता से सहायता करने वाले मित्र की हो। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की मित्रता इसका उत्तम उदाहरण है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए सब प्रकार के परिश्रम किये, उसके रथ के सारथी भी बने। परंतु कुरुक्षेत्र की समरभूमि पर अर्जुन द्वारा स्वयं होकर मार्गदर्शन की अपेक्षा किये बिना उन्होंने उपदेशक या मार्गदर्शक की भूमिका नहीं ग्रहण की। अपने विशुद्ध चारित्र्य से, जिसके कारण विश्व में हमारी वास्तव में कीमत है, लोगों पर हमारा प्रभाव पड़ना चाहिए।

अहर्निश अपने मन में कार्य बढ़ाने की तीव्र इच्छा उमड़ती रहे, तथा संघ-वृद्धि की तीव्र गति ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ने के लिए दुगुने उत्साह से हम [illegible] जुट जायं। हम केवल एक घंटे के लिए संघ में जाते हैं, शेष तेईस घंटों में [illegible] विपरीत संस्कार इस एक घंटे में नष्ट कर उसके स्थान पर सुदृढ़ स[illegible] हम ग्रहण करते हैं। कार्य की लगन अपने मन में निरंतर रहनी चाहिए। [illegible] उत्साह से हम संघ-कार्य करने को आगे बढ़े हैं, हम वही चैतन्य और [illegible]र्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में निर्माण करने का रात-दिन प्रयत्न क[illegible] का काम करने की बात कही जाती है। मेरे कहने का तात्पर्य यह न[illegible] न किया जाए। अपने सब काम करते समय अपने संपर्क में [illegible] संघ-कार्य के लिए प्रेरित करने का विचार अपने हृदय में [illegible] संघ-कार्य एक अमृत मिश्रित औषधि है। जितना बन सके उतना उसका [illegible] और उसमें अपने को भूल जायं। जिस प्रकार सिंह नित्य ता[illegible]

प्रकार हम भी संघ में लाये जा सकने वाले नये मित्रों की खोज करते रहें। अपने थोड़े से मित्र बन गए और वे स्वयंसेवक बनकर संघ में आने लगे इसमें हमें संतोष नहीं होना चाहिए। अपने डॉक्टर जी ने एक बार कहा था कि दस-बीस क्यों, तीस करोड़ हिंदुओं से दृढ़ मित्रता करने की हमारी आकांक्षा रहनी चाहिए। नित्य नये मित्र बनाकर उन्हें संघ में लाने की अभिलाषा सतत् रहनी चाहिए। जिस प्रकार जीवमान शरीर नित्य बढ़ता रहता है उसी प्रकार अपना यह संगठन नित्य वर्धिष्णु होता हुआ इतना बलवान हो कि वह अपने को दासता में बांधकर रखने वाली सारी श्रृंखलाओं को तोड़ डालने में समर्थ हो। संघ-कार्य दिनों दिन बड़े पैमाने पर बढ़ने के लिए पराकाष्ठा के प्रयत्न करने होंगे तथा दृष्टि में क्षितिज पार देख सकने की व्यापकता लानी होगी।

श्रद्धा, ज्ञान और कौशल्य से यदि हम संघकार्य करें तो कार्यपूर्ति होने का आनन्द हम अवश्य अनुभव कर सकेंगे। 'बातें कम, काम अधिक' ऐसा हम संकल्प करें। हमारे द्वारा किया गया ठोस कार्य सचमुच संघ की सफलता की घोषणा करेगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० १७-१९)

२६

अहंकार नहीं, आत्मविश्वास

मैं शिक्षित स्वयंसेवक हूं और अधिक योग्य होकर लौटा हूं इस दृष्टि से बाकी लोग मुझे देखें और सम्मान करें, इस अपेक्षा की जागृति यदि हुई तो कोई आश्चर्य नहीं। सम्मान प्राप्त होने की अपेक्षा अपने कार्य के लिए योग्य नहीं। हम अधिकारी बनने की योग्यता प्राप्त करने आते हैं, अधिकारी बनकर लौटने के लिए नहीं। योजनानुसार किसी भी स्थान पर रहकर कार्य करने की सिद्धता प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है। आदर, सम्मान, पूजा की अपेक्षा अनुचित है। यद्यपि मनुष्य में अभिमान स्वाभाविक है, तो भी अपने कार्य में तो यह बाधक ही होता है। जब तक हम इस भावना को अपने अन्दर से नहीं निकालते, तब तक कार्य भी नहीं कर सकते। मैं कोई विशेष कार्यकर्ता हो गया हूं, इस भावना का जब तक मन में स्थान रहेगा, तब तक यही समझना चाहिए कि तत्व का सच्चा स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। कितना भी बड़ा कार्यकर्ता क्यों न हो उसमें अपने कर्तृत्व के विषय में अहंकार नहीं होना चाहिए। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कार्यकर्ता में आत्मविश्वास का अभाव हो। कर्तव्य निर्माण के लिए ज्ञान और आत्मविश्वास दोनों को जागृत रखना चाहिए। इसके अभाव में कार्यक्षेत्र में अवज्ञा और असफलता ही मिलेगी।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० २८-२९)

* * * *

यद्यपि यह यथार्थ ही है कि जिस व्यक्ति में कर्तव्य है, उसके स्वभाव में अहंकार और वाणी में उग्रता आ जाना भी स्वाभाविक है। किन्तु हम लोग तो स्वभाव पर भी विजय प्राप्त करने वाले हैं। दुष्ट से दुष्ट स्वभाव को भी बदल देना कोई अव्यावहारिक बात नहीं

है संस्कारों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर सकता है। इस समय मुझे श्रीराम कृष्ण परमहंस के एक अत्यंत क्रोधी स्वभाव वाले शिष्य का उदाहरण स्मरण आता है। जरा-जरा सी बात पर उनका क्रोध जाग्रत हो जाया करता और एक बार क्रुद्ध होने पर पूरी ५०० गालियां सुनाये बिना वे न रहते थे। अपना विनोद करने के लिए कोई न कोई उनको छेड़ता ही रहता था। इसी कारण वे निरंतर गाली बकते हुए, दुःखी, उद्विग्न और कुढ़ते से ही दिखाई देते थे। उनके पड़ोस में कुछ समय के बाद श्रीरामकृष्ण आकर ठहरे और उस भक्त की यह करुण दशा देखकर उसका स्वभाव बदलने की इच्छा उन्होंने अपने शिष्यों से प्रकट की और इस आशय से उन्होंने बताया कि मैं उसे संन्यास दूंगा। शिष्यों की ओर से उस प्रस्ताव का विरोध होना स्वाभाविक ही था। उसको संन्यास देना तो संन्यास की विडम्बना है, आदि-आदि अनेक बातें वे कहने लगे, परंतु रामकृष्ण परमहंस अपनी बात से न टले। अंत में शिष्य उसे बुला लाये और संन्यास के लिए उसे तैयार किया। यज्ञ हुआ और उसने अपने पूर्वजों का श्राद्ध करके अपना भी श्राद्ध अपने ही हाथों किया। प्राचीन परिपाटी के अनुसार संन्यासी अपना श्राद्ध करके यह संकल्प करता है कि "अब मैं स्वयं के लिए मर गया। मैं अपने पूर्व जीवन के सब अवगुणों से मुक्त हो, ऐहिक जीवन छोड़, धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए उद्यत हो गया हूं।" यही संकल्प उस महाशय ने भी किया। भगवा वस्त्र धारण कर अगले दिन वे जब गंगा स्नान के लिए गए तो दुष्ट बालकों ने उनके स्वभाव परिवर्तन की परीक्षा लेने के लिए उनको कई प्रकार से तंग किया। पूजा-निमित्त एकत्रित की गई सामग्री को इतस्ततः बिखेर दिया। उनकी पोथी तक फाड़ डाली। परंतु उस सारी लीला को देखकर भी वे शांत ही रहे। सारी सामग्री को चुपचाप इकट्ठा किया और अविचलित भाव से ध्यानमग्न हो गए। पड़ोसियों के आश्चर्य का पारावार न रहा। यह आश्चर्यजनक परिवर्तन संस्कार का ही प्रभाव है। संन्यास-संस्कार को उन्होंने ग्रहण किया और कितने ही पुराने संस्कारों को शुद्ध करने का सामर्थ्य उन्हें प्राप्त हो गया। हृदय पर सत्संस्कार का प्रभाव हुआ तो सारे अवगुण नष्ट होकर सद्गुणों का प्रकाश निश्चित हो सकता है।

जिस महापुरुष की प्रेरणा और ज्ञान से हम कार्य करते हैं उसने भी इसी प्रकार अपने हृदय पर सत्संस्कार करके अपने अंदर के सारे अवगुणों का उन्मूलन कर सद्गुणों को प्रकट किया था। संघ के जन्मदाता का यदि हम स्मरण करें तो भी अपने स्वभाव पर नियंत्रण लाकर उसमें परिवर्तन अवश्य कर सकते है। बाल्यावस्था में उनका स्वभाव बड़ा उग्र था। अपनी टेक पर अड़े रहना उनकी कुल परंपरा थी। सारा कुल ही बड़ा क्रोधी और उसमें वे महाक्रोधी। इस प्रकार से यह उग्र स्वभाव और प्रचण्ड क्रोध उनको पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही मिला था। और यह तो प्रसिद्ध ही है कि परम्परागत स्वभाव को बदलना असंभव नहीं, तो अत्यंत दुस्साध्य अवश्य है। अंग्रेजी में भी इस आशय की एक अद्भुत लोकोक्ति है कि Man should be very careful in the choice of his parents.

किन्तु उनके तेजस्वी अन्तःकरण ने जिस दिन से इस विशाल संगठन को निर्माण करने का निश्चय किया, उसी दिन से उन्हें क्रुद्ध होते शायद ही किसी ने देखा हो। सामान्यतः क्रोध दिल में घर कर लेता है, किन्तु सज्जनों का क्रोध वस्त्र पर पड़ी एक बूंद पानी के समान है, स्याही के धब्बे की तरह नहीं। इस क्षण नाराज हुए तो दूसरे क्षण में उसका कुछ आभास नहीं मिलता। उपरोक्त लोकोक्ति डॉक्टर जी के जीवन में सर्वथा सत्य प्रमाणित होती है। उन्होंने अपने स्वभाव को संगठन के अनुकूल अमृतमय बनाकर दिखाया। वही हमारे लिए एकमात्र आदर्श है। उनके चरित्र का मनन करना हमारे लिए सर्वथा योग्य है। परंतु फिर भी हमारी यदि यही धारणा हो कि स्वभाव तो बदला ही नहीं करता, अहंकार उत्पन्न हो ही जाता है, इंद्रिय सुख की लालसा को नष्ट करना कठिन है, कारण यह सब नैसर्गिक बातें हैं और निसर्ग में परिवर्तन असंभव है तो उस महापुरुष के उदाहरण को देखें, जिन्होंने निसर्ग पर विजय करके अपने चरित्र से यह प्रकट कर दिया कि मनुष्य प्रयत्न से नैसर्गिक वृत्तियों को दबा कर अपने में यथेष्ट परिवर्तन कर सकता है। उनका उदाहरण हमारे लिए मार्गदर्शक है। उनके उस दृढ़ निश्चय के आलोक को कइयों ने अनुभव किया। उनके जीवन के दैनिक क्रम में मैंने केवल अपने स्वभाव को बदलने की चेष्टा ही नहीं देखी, परंतु परम श्रेष्ठ गुणों की धारणा करने का आत्मविश्वासपूर्ण प्रयास भी देखा। किन्तु उस प्रयत्न में इस प्रकार के अहंकार का लेश मात्र भी उदय नहीं हुआ कि मैं कोई बड़ा आदमी बन रहा हू। आत्मविश्वास और अहंभाव दोनों भिन्न बातें हैं। मनुष्य के अंदर अहंभाव अनेकों रूप में प्रकट होता है। मैं बड़ा अहंकारशून्य और बड़ा नम्र हूं यह भी अहंकार का एक बड़ा भयानक प्रकार है। अहंकार से मनुष्य को कुछ आनन्द सा प्राप्त होता है परंतु इसको छोड़ने से हृदय की जो प्रसन्नता होती है उसका वर्णन करना भी शब्दातीत है। अभिमानरहित कर्तृत्व से मन को स्थायी आनन्द प्राप्त होता है। अतः इस अहंकार को दूर करना ही श्रेयस्कर है और इसके लिए एकमात्र उपाय है निरंतर चिंतन। स्वभाव परिवर्तन की कठिनता से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। परमपूजनीय डॉक्टरजी ने इसे सुसाध्य कर परम श्रेष्ठता को प्रकट किया है। हम भी उसी महापुरुष के उदाहरण को सामने रखकर अपने हृदय की रचना करें कि अन्तःकरण आत्मविश्वासपूर्ण हो, तो परंतु अहंकार का लेश न हो।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० २९-३१)

* * * *

व्यायामशाला में जाकर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं शक्तिवान हो सकता है। परतु इस व्यक्तिगत शक्ति का समाज को बहुत लाभ नहीं होता। समाज अनेक व्यक्तियों का मिलकर बनता है। समाज के स्वास्थ्य पर व्यक्ति का स्वास्थ्य निर्भर करता है। समाज विश्रृंखल हो, तो व्यक्ति भी व्यवस्थित नहीं रह सकता। इसलिए केवल [illegible] शक्ति

का विचार करने से काम नहीं बनेगा। हमें विचार करना होगा कि समाज बल-संपन्न कैसे बनेगा? "संघे शक्तिः कलौ युगे" सुभाषित है। समाज की शक्ति संगठन में है। जब एक विचार, एक लक्ष्य और एक संकल्प से काम करने वाले लोग एकत्र आते हैं, तब समझा जाता है कि वे संगठित हैं। ऐसे एकीकरण में जो शक्ति रहती है, वह अनेक मल्लों की शक्ति से निश्चय ही अधिक होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना ही पृथक विचार करने लगे, तो उसकी शक्ति से समाज का भला होने वाला नहीं है। यदि वे व्यक्ति संगठित हुए, उन्होंने समाज-कल्याण का ध्येय अपने सामने रखा, तो उस संगठन की प्रभावी शक्ति का मुकाबला करना बड़ों-बड़ों को भी असंभव है। सर्वविदित कथा के एक वृद्ध पिता ने अपने पुत्रों को मिलकर रहने की शिक्षा देते हुए कहा था कि सूखी लकड़ियां अलग-थलग रहने पर आसानी से टूटती हैं, परंतु वही एकत्र बंधी अवस्था में कदापि नहीं टूटतीं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ४०-४१)

२७

कार्य-पद्धति के तीन सूत्र

अपने हिन्दू समाज में भ्रातृभाव पैदा करना ही एक महत्वपूर्ण काम है और एकत्रित आकर खुले हृदय से बातचीत या खाना-पीना जैसे सामान्य व्यवहार से वह भ्रातृभाव निर्माण होता है। शाखा में व्यवस्थित रूप से यदि हम कबड्डी जैसे सीधे और सरल खेल खेलें, तो भी आपस में स्नेह और बंधुभाव बढ़ेगा। आकर्षक लगने वाले कार्यक्रमों से शायद यह नहीं हो सकेगा।

कभी-कभी लगता है कि हम आपस में विचार-विनिमय और वाद-विवाद या बौद्धिक कार्यक्रम इतने अधिक करते हैं कि जिससे हर रोज एकत्रित आकर हम अपना संघ का कार्य कर सकेंगे इस पर हमें विश्वास नहीं होता, परंतु हर रोज एकत्रित आकर शुद्ध हृदय से शाखा में नियमित कार्यक्रम करना, स्नेह और बंधु भाव बढ़ाने वाली संसार की एक बहुत आश्चर्यजनक परंतु महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

प्रतिदिन एकत्रित आने की अपनी कार्यपद्धति के तीन सूत्र हैं–

(१) मूल विचार–भ्रातृभाव निर्माण करना।
(२) विश्वास–प्रत्यक्ष एकत्रित आने से वह निर्माण होगा।
(३) प्रत्यक्ष कार्य–अपनी शाखा में प्रतिदिन नियमित रूप से एकत्रित आना।

दण्ड, खेल आदि करना, सब मिलकर एक हृदय से काम करने का महत्व इत्यादि विषय में बातचीत करना। सत्संग में जैसे रामायण की कथा कभी-कभी सुनाते हैं इस तरह नहीं, क्योंकि उससे संगठन नहीं बनता। हर रोज एकत्रित आने से अपनी आंतरिक एकता और भ्रातृभाव का अनुभव कराने वाली स्नेहपूर्ण बातों से संगठन करने में [illegible] मिलेगा।

और संस्थाओं में महीने में एक बार आने के कार्यक्रम थे। इससे वे संगठन करने में

अयशस्वी रहे। इससे हम बोध लें। ८० वर्ष की आयु के स्वयंसेवक शाखा में कार्यक्रम भले ही न कर सकें, परंतु समाज में उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त रहने से उनकी दैनंदिन शाखा में उपस्थिति आवश्यक है। प्रत्यक्ष कार्य करते हुए जो अनुभव आते हैं, उनसे हम अधिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। संघ समझना भगवान को समझने जैसा है, केवल बोलने से या बातचीत से उसका स्वरूप हम समझ नहीं सकते।

दैनंदिन एकत्रित आकर कार्यक्रम करना, क्लब में जाने जैसा नहीं है। दिन भर के काम से थका हुआ मनुष्य थकावट दूर करने के लिए क्लब में जाता है। किसी ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना, क्लब में जाने का उसका हेतु नहीं रहता। संघ का काम इसके बिलकुल विपरीत है। यहां सुनिश्चित ध्येय सामने रहता है, और अपने बाकी काम-धाम करते हुए भी, अधिक परिश्रम करके अपना ध्येय साध्य करने के लिए हम शाखा में आते हैं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ४७-४८)

* * * *

एक घंटा संघ में जाना संघ का कार्यक्रम है, कार्य नहीं। प्रत्येक स्वयंसेवक के साथ हम भ्रातृभाव का अनुभव करें, घर-घर का हिसाब करें। कितने आदमी अपने कार्य से आकर्षित हुए हैं, इसका हिसाब करें और यह ध्यान रखें कि शाखा का कार्यक्रम कार्य का एक अंश है, जांच-पड़ताल है। २३ घंटे के व्यवहार में अपने प्रमुख सिद्धांतों के अनुसार हमारा आचरण हुआ या नहीं शाखा इसका हिसाब है। हिन्दुओं के प्रति आत्मीयता और प्रेम, अपनी भारतमाता और उसके पुत्र रूप समाज के नाते जो हमारा यह हिन्दू राष्ट्र है, उसके प्रति सर्वस्व अर्पण करने की प्रवत्ति, संघ के इन मूलभूत विचारों के अनुसार २३ घंटों में अपना व्यवहार रहा या नहीं रहा इसका हिसाब संघ-स्थान पर, एक घंटे में करना चाहिए। दुष्टता और स्वार्थ के विचार यदि २३ घंटे चलते रहे, तो एक घंटा संघ में आकर दिल-जमई नहीं हो सकती। हमें अपने जीवन में मानो एक नये अध्याय का प्रारंभ करना पड़ेगा (We have to turn over a new leaf)।

हमेशा प्रगति पर रहना जीवमान होने की साक्ष्य है। २३ घंटे कैसे बीतते हैं, यह देखने से हमें ऐसी आदत होगी कि प्रत्येक शब्द, विचार और आचार में संघ प्रकट होगा। फिर संघ-स्थान पर उपस्थिति बढ़ेगी और आपको भी प्रसन्नता होगी। दिल में आनंद होगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ५०)

* * * *

किसी स्थान पर कोई विशेष गुट रहता है, उसे उसी रूप में संघ में लाने का प्रयत्न न किया जाय। हमारी कार्यपद्धति है कि संघ में गुट और जाति [illegible]। स्वयंसेवक व्यक्तिशः संघ में आएं और संघ में समा जायं। हम व्यक्ति का हृदय चाहते हैं, उसकी

जाति या गुट नहीं।

संघ में कोई आज आयेगा तो कोई कल आयेगा। हमारा काम तत्वनिष्ठा पर आधारित है, इसलिए जो आज हमारा नहीं है, वह कल हमारा होगा, यह धारणा रखकर संघ-कार्य बढ़ाना चाहिए।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० ६५)

*   *   *   *

संघ की कार्यप्रणाली अन्य संस्थाओं से विभिन्न है। अन्य संस्थाओं ने आज तक जिस कार्यप्रणाली का उपयोग किया है, उन प्रचलित कार्यप्रणालियों को संघ ने नहीं अपनाया है। उनमें से प्रमुख बात पैसा एकत्रित करने की है। जब कोई भी संस्था खोली जाती है तब उसके पदाधिकारियों का पहला काम संस्था के लिए रुपया-पैसा बटोरना होता है, क्योंकि उनकी यह धारणा होती है कि रुपयों के बिना किसी संस्था का संचालन संभव नहीं है—"सर्वारम्भास्तंडुलाः प्रस्थमूलाः।" परंतु संघ की कार्य-पद्धति ठीक इसके उलटी है। संघ ने द्रव्य की याचना नहीं की। वास्तव में धन की याचना का अधिकार उसे ही है, जिसने कुछ विधायक कार्य किया हो। वस्तुतः कुशल एवं धैर्यवान कर्णधार के रहते हुए कितना भी गंभीर संकट क्यों न हो, विश्वास रहता है कि नौका अवश्य पार [illegible]गी। संकटों के भयानक तूफ़ान में कुशल नाविक की तरह हमारे परम पूजनीय [illegible] हेडगेवार जी ने संघ की कार्य-नौका को धैर्य के साथ प्रगति की दिशा में सुरक्षित [illegible] चलाया। उनके कर्तृत्व और तपस्या के फलस्वरूप आज संघ की सैकड़ों शाखाएं नि[illegible] चुकी हैं। हम किसी भी जगह जाएं, हमें वहां अपने घर जैसा ही अनुभव होता है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, [illegible] १, पृ० [illegible])

*   *   *   *

प्रश्न—एकता निर्माण करने के क्या साधन हैं? भावात्मक एकता [illegible]स्थापित करने के लिए संघ में कौन से कार्यक्रम होते हैं?

उत्तर—किसी खुले मैदान में सभी एकत्र आते हैं। [illegible]रिक [illegible] होते हैं। उसके बाद प्रार्थना होती है। वार्तालाप, चर्चा, [illegible] से संघ[illegible] समझाया जाता है। सरसरी दृष्टि से ये दैनिक कार्यक्रम [illegible] फिर भी सामूहिक रीति से प्रतिदिन किए जाने वाले कार्यक्र[illegible] महत्व [illegible] व्यायाम से शरीर सुदृढ़ रहता है। हम अपनी प्रार्थना में [illegible] हैं कि [illegible] श्रेष्ठ समाज के घटक हैं, हमारा जीवन-मरण इसी [illegible] चारदीवारों [illegible] बद्धमूल [illegible] धीरे[illegible] से अधिक [illegible] होता है।

सिद्धांतों की दृष्टि से ये दैनिक कार्यक्रम बहुत महत्वपूर्ण नहीं लगेंगे। परंतु व्यक्तिगत स्वार्थ को मिटाकर अपना जीवन उन्नत करने के लिए दैनिक कार्यक्रम बहुत आवश्यक है। हमारे दिन के २४ घंटे अपने लिए, अपने परिवार के लिए, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने में व्यतीत होते हैं। हमें यह सोचने के लिए कि हम समाज के एक अविभाज्य अंग हैं, समय ही कहां मिलता है? संघ का विचार मन पर अंकित होने और आत्मकेंद्रित जीवन की अहितकारी विचारश्रृंखला से मुक्त होने के लिए हर दिन होने वाला संस्कार नितांत आवश्यक है। इससे एकता की भावना पैदा होती है, परस्पर के सुख-दुःख में समरस होने की प्रवृत्ति बढ़ती है। संघ के अत्यंत साधारण लगने वाले कार्यक्रमों से मन परिष्कृत होता है, सहजीवन की अमिट छाप मन पर पड़ती है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड १, पृ० १५१-१५२)

२८

नवनिर्माण की प्रक्रिया

संघ कार्य में विचार का जितना महत्व है उतना ही महत्व और भी कई बातों का है। संघ-कार्य की जो रचना और पद्धति है तथा उसके अनुरूप जो धारणा और व्यवहार है उसको भी बहुत अधिक मात्रा में महत्व देने की आवश्यकता है। अपने कार्य की रचना से दिन-प्रतिदिन की शाखा के रूप में हम परिचित हैं। दिन-प्रतिदिन की शाखा का स्वरूप हमको किस प्रकार का दिखना चाहिए, यह हम जानते हैं। जो अपेक्षाएं कार्य की रचना से उत्पन्न होती हैं, उनको पूर्ण करने के लिए कार्य का योग्य संचालन हम कर रहे हैं क्या? यह विचार मन में आना चाहिए। अपेक्षा यह है कि दिन-प्रतिदिन की शाखा अखण्ड रूप से चले, नियमित चले। समय के बारे में ढीलापन न होते हुए चले। कार्यक्रमों की व्यवस्था से रचना हो, संचालन में अस्तव्यस्तता का दृश्य दिखाई न दे। सुव्यवस्था, अनुशासन, योग्य पद्धति तथा उत्साह उसमें व्यक्त हो, फिर इन अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिए हम क्या करें ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है।

वास्तविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। परंतु आवश्यकता उत्पन्न होती है। कारण यह हो सकता है कि दिन-प्रतिदिन के कार्य का जो स्वरूप है उस संबंध में अपना विचार शुद्ध व दृढ़ नहीं है, विश्वास भी अटल नहीं है। मुझे एक प्रसंग स्मरण आता है। मैं नागपुर में आता-जाता रहता हूं। वहां के प्रमुख कार्यकर्ता, कार्यवाह इत्यादि से बातचीत करने का अवसर आता है। शाखा देखने का अवसर तो अवश्य आता ही है। एक बार कार्यवाह से बातचीत करते समय मैंने कहा—"नागपुर के शिक्षकों की आँखें खोलो।" आँखें तो सभी के हैं। अंधा कोई नहीं। तो इस शब्द-प्रयोग का अर्थ ध्यान में आया होगा। अन्य जगह भी मैंने यह बातें बताई हैं। शाखा चलाते समय शिक्षक आँखें [illegible]

करके चलते हैं। कोई कार्यक्रम करने की आज्ञा दी तो तदनुसार प्रत्येक स्वयंसेवक कार्यक्रम के अंगोपांग ठीक से कर रहा है या नहीं, इसे शिक्षक देखते ही नहीं। अतः उसे ठीक करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव कार्यक्रम को देखते समय हमें 'वेरायटी एंटरटेन्मेंट'' का अनुभव आता है। सब अलग-अलग उछल-कूद कर रहे हैं, अलग-अलग चेष्टाएं कर रहे हैं, ऐसा लगता है। आँखें खुली होतीं, तो इस प्रकार से अव्यवस्थित कार्यक्रम नहीं होते। इसलिए कई बार कहना पड़ता है कि अपनी शाखाओं के कार्यकर्ताओं की आँखें खोलनी चाहिएं। फिर बाकी सब ठीक हो जायेगा। जो श्रेयस्कर है वह दिखाई देगा और जो अश्रेयस्कर है उसको रोकने की चेष्टा चलती रहेगी।

नियमपूर्वक चलने वाले कार्यक्रम का संस्कार मन पर पड़ता रहता है। संस्कार पड़ते-पड़ते वैसा स्वभाव भी बनता है। ठीक-ठाक कार्यक्रम करने से उत्साह, पौरुष, निर्भयता, अनुशासन, सूत्रबद्ध होकर चलने की क्षमता, सातत्य से कार्य करने की प्रवृत्ति इत्यादि गुण स्वभाव के अंग बन जाते हैं। अनुशासन वैसे तो बड़ा शब्द है, लेकिन केवल शारीरिक दृष्टि से ही उसका अभी प्रयोग किया है। इस दृष्टि से दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रमों को ठीक ढंग से चलाने का प्रयास होता नहीं। अनेक प्रांतों के कार्यकर्ताओं से प्रश्न पूछने पर ऐसा दीखता है कि अपनी शाखाएं खेल-कूद के अड्डे के रूप में चलती हैं। यदि अन्य शारीरिक कार्यक्रम हुए तो भी उनमें विशेष आवेश दिखता नहीं, चलाने वालों के हृदय में हेतु का विचार रहता नहीं। उदासीनता से कार्यक्रम चलते हैं। शाखा अव्यवस्थित दिखाई देती है और अपेक्षा हम ऐसी रखते हैं कि इन कार्यकर्ताओं में से संगठित शक्ति निर्माण होगी। यह समझ में आने वाली बात नहीं है। शाखा को शाखा के रूप में चलायें। शाखा कहीं खेल-कूद का अड्डा या मित्र-मण्डल तो नहीं बन रही है, यह विचार करने की आवश्यकता है। उसके लिए कार्यकर्ताओं में स्वतः की गुण-वृद्धि का प्रयत्न होता है क्या? शिक्षक आँखें खोलकर काम करते हैं क्या? वर्षानुवर्ष संघ चलाते हुए, उसके वायुमण्डल का विशिष्ट प्रकार का प्रभाव, आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर स्वाभाविक रीति से पड़ते हुए भी हमें उदासीनता नष्ट करने के लिए किसी से कहना पड़े, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? लेकिन इसकी आवश्यकता अमान्य करने से लाभ नहीं होगा। दत्तचित्त होकर उसका विचार करने से ही काम चलेगा।

शाखा-स्वरूप ठीक नियमपूर्वक चलने के लिए कुछ रचना बनी है। यह रचना संघ स्थान पर है क्या? या केवल कागज पर औपचारिक रूप में ही है। प्रवास में एक शाखा का विवरण सुना तो वहां मुख्य शिक्षक, शिक्षक, गटनायक आदि मिलाकर सात-आठ अधिकारी थे। परंतु दैनिक औसत उपस्थिति तीन रहती थी। मैंने कहा—"शिक्षक, मुख्य शिक्षक लापता रहते होंगे, नहीं तो अधिकारी आठ और दैनिक उपस्थिति तीन यह स्थिति संभव ही नहीं है।" यह केवल उस शाखा की ही बात नहीं है, आसपास की शाखाओं में भी ऐसे उदाहरण मिलते होंगे।

ऐसा दीखता है कि दो-तीन मित्र शाखा में आते हैं, खेल-कूद बातचीत हो जाती है, आपस में मिलने का अवसर मिल जाता है, इतना ही अपने लिए पर्याप्त है, ऐसा अधिकारीगण समझते हैं। ज्यादा कुछ करने की आवश्यकता उनको प्रतीत नहीं होती। जैसे सामान्य मनुष्य स्वार्थ की दृष्टि से सोचता है कि दो-चार पड़ोसियों से अच्छा संबंध रखना लाभदायक होगा, ज्यादा की जरूरत नहीं। उनसे गपशप की, फिर अपने-अपने परिवार में आनन्द मनाते रहे। संघ का कार्य मैं करूंगा ऐसी घोषणा और यह निश्चय करने वाला भी ऐसा व्यवहार करे तो उसे क्या कहना चाहिए? यही कि स्वयंसेवक के नाते उसने कुछ भी ग्रहण किया नहीं। उसने अपने जीवन में नया परिवर्तन लाया नहीं। वह कोरा का कोरा ही रह गया। उसने संघ का यत्किंचित् विचार किया नहीं, समझने का यत्किंचित् प्रयास किया नहीं। जिनकी भावना का जागरण नहीं हुआ ऐसे अनेक लोग दुर्भाग्य से मिलते हैं। अंधों में एक आँख का राजा बनता है। दूसरा कोई न मिलने से हम काम जैसे-तैसे चलाते ही हैं। परंतु उससे समाधान होता नहीं। अपेक्षा पूरी होती नहीं। अतः इन शिक्षकों की आँखें खोलनी हैं, जिससे वे स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही दृष्टि से देख सकें। अंतर्मुख होकर अपनी पात्रता, और निष्ठा बढ़ाने की वे चेष्टा करें। इसके लिए दत्तचित्त होकर प्रयत्न करना चाहिए; अन्यथा अव्यवस्था दूर न होगी।

कई बार प्रवास में स्वयंसेवकों को पुरानी बात की स्मृति दिलानी पड़ी कि संघ का कार्य जिन्होंने प्रारंभ किया उन्होंने यही कहा था कि प्रत्येक स्वयंसेवक को नए-नए मित्र जोड़ने चाहिए। केवल दो-चार मित्र जोड़ने में कृतकृत्यता नहीं माननी चाहिए; अपितु यह क्रम चलते ही रहना चाहिए। नये मित्र कैसे मिलेंगे, इस बात की ओर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए। कभी-कभी लोगों से बातचीत सुनने को मिलती है कि नए-नए मित्र कहां मिलेंगे, उन्हें कैसे संभालेंगे। परंतु इन बातों में तथ्य नहीं है। एक मित्र का उदाहरण देता हूं। उन्होंने डॉक्टर जी का भाषण सुना था कि "प्रत्येक स्वयंसेवक को निश्चय करना चाहिए कि मैं वर्ष भर में दस नए व्यक्तियों को आत्मीय बनाकर स्वयंसेवक के नाते शाखा में खड़ा करूंगा।" मित्र ने कहा, "डॉक्टरजी, आप कहते तो ठीक हैं, परंतु व्यवहार में ऐसा नहीं हो सकता।" मैंने पूछा—"व्यवहार कैसा होता है?" उसने कहा, "वास्तविक मित्र एक ही रह सकता है। बाकी के सारे परिचित, 'एक्वेंटेंसेज' होते हैं।" मुझे उससे यह बड़ा उद्बोधक ज्ञान प्राप्त हुआ। मैंने पूछा, "फिर तुम्हारा संघ में क्या होगा? क्योंकि अपने शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य का अत्यंत निकटवर्ती मित्र उसकी स्त्री ही होती है। तुम्हारा विवाह होगा, फिर तुम्हारा केवल एक ही मित्र रहेगा और बाकी के संघ के सारे स्वयंसेवक मित्र की दृष्टि से न रहकर परिचित मात्र रहेंगे।" वह अपने को कार्यकर्ता मानता था और उसकी दृष्टि में मैं केवल एक भूला-भटका फकीर था। मेरे इन शब्दों को सुनकर उसे रोष भी आया। परंतु उसका हाल वही हुआ जो मैंने कहा था। आगे चलकर उसका विवाह भी हुआ और अब वह अपने निकटतम मित्र की सच्चाई के साथ सेवा भी करता है।

यह बात अनेक वर्ष पूर्व की है। उसके बाद अनेक परिवर्तन हुए। फिर वही विचार उसी रूप में सामने रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। एक ही मित्र बनाने की बात ठीक है क्या? यदि हम समाज-संगठन का उद्घोष करते हैं, तो फिर एक ही मित्र हो यह भाव रखने से कार्य करने की बात मिथ्या, तथ्यहीन सिद्ध होगी। अत: विचार करें कि अपने कार्य में अनेक प्रकार के लोगों को एकत्र करने की इच्छा और प्रेरणा कार्यकर्ताओं में है या नहीं। यदि यह पर्याप्त मात्रा में न दिखे तो वह उत्पन्न करनी चाहिए। केवल औपचारिक रूप से "दक्ष-आरम्" करने का कोई उपयोग नहीं। उसके अतिरिक्त भी प्रेरणा देने का प्रयत्न करना चाहिए। नहीं तो शाखा की वृद्धि कैसे होगी? केवल पांच-दस स्वयंसेवक इकट्ठा हों, कबड्डी, खो-खो खेलें और सोचें कि बहुत बड़ा काम किया, उसी में कृतकृत्यता मानें, यह ठीक नहीं है। भाव और विचार की यह पद्धति अपनी नहीं है। अपने कार्यकर्ताओं को अंत:प्रेरणा मिले, हृदय में कार्य और परिश्रम करने की इच्छा हो, ऐसा काम करना चाहिए।

ऐसी सुव्यवस्था से शाखा का कार्यक्रम नियमितता, अनुशासन और नित्य वृद्धि करने की आकांक्षा आदि लेकर चलता है या नहीं? नित्य नये मित्र बनाने में लोगों को कठिनाई मालूम होती होगी। परंतु व्यावहारिक रूप से हम सोचें। ऊंची बातें छोड़ दें तो भी कम से कम परिचय तो कर ही सकते हैं या नहीं? यह पहली सीढ़ी है। उसी परिचय से हमें दिखाई देगा कि किसी-किसी बात में हम समान-धर्मा हैं। कहीं न कहीं समान बात निकल ही आयेगी। परिचय नहीं है तब तक भिन्नता मालूम होती है, परिचय होने पर समानता निकल आती है। समानता को आलंबन बनाकर संबंध को और गहरा बनाया तो मित्रता तथा संपर्क के दूसरे भी पहलू दिखाई देंगे। इस प्रकार मित्रता का संबंध पूर्ण रीति से सर्वगुणव्यापी होकर वह शाखा में आ सकता है, इसमें संदेह की बात नहीं है। वैसा यदि एकरूपता का अनुभव नहीं हुआ तो भी एक विश्वसनीय मित्र इस नाते वह रहेगा ही। परिचितों के मण्डल धीरे-धीरे बड़े बनते है। उन्हीं में से कुछ अभिन्न मित्र होते हैं। उनमें से ही कुछ अभिन्न हृदय हो जाने के कारण, सर्वांश से अपने साथ एकरूप होने के कारण वे अपने साथ स्वयंसेवक के रूप में खड़े होते है। इसीलिए बोध यही लेना है, परिचितों की संख्या बढ़ानी चाहिए जिससे परिचित, पहले मित्र और फिर स्वयंसेवक इस क्रम से कार्य की वृद्धि में सहूलियत हो जायेगी। इस दृष्टि से अपने शिक्षक, गटनायक आदि प्रयत्नशील हों, इसके लिए प्रयास करने की आवश्यकता है।

इसके लिए केवल उपदेश से काम नहीं चलेगा। सब छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं को साथ लेकर प्रत्यक्ष काम करके बताने की दृष्टि से यहां-वहां दो-चार-आठ रोज रहकर उनका अभ्यास करा देने की आवश्यकता है। उनमें आत्मविश्वास का अभाव हो तो प्रत्यक्ष सहायता करके उस अभाव को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके मन की अंतर्बाह्य परीक्षा करने के बाद उनमें योग्य विचार एवं आचरण की इच्छा निर्माण करने का प्रयत्न हो ऐसा प्रयोग करना चाहिए। हो सकता है, अच्छी शाखाओं में से अच्छे

कार्यकर्ता को इसके लिए जगह-जगह जाकर कुछ दिन रहना पड़े, जिससे अपने शिक्षक अयोग्य हैं, ऐसा कहने का मौका न आए।

कई लोग इसको भाग्य का लक्षण मानते हैं कि कार्य इतना बढ़ रहा है, शिक्षक कम पड़ते हैं। कार्य का विस्तार बढ़ा नहीं, परंतु शिक्षकों का अभाव बढ़ रहा है। हम बड़ा संगठन करने निकले हैं, लेकिन ऐसा न हो कि हमारे संघ की अवस्था भारतीय गणराज्य की सेना के सदृश हो जाए। एक बार चीफ ऑफ आर्मी स्टाफ (स्थल सेनाध्यक्ष) ने कहा था—"वी आर इन वांट ऑफ आफीसर्स"। "हेडलेस बॉडी आफ द आर्मी" जैसी स्थिति हमारी हो गई है क्या? शिक्षक हैं, लेकिन काम करने का ढंग ढीला पड़ गया है। उनका सुधार उपदेश से नहीं होगा। उसी प्रकार केवल दोष का दिग्दर्शन करने से भी नहीं होगा। अपितु साथ लेकर कार्य का प्रत्यक्ष ढंग दिखाना और सिखाना होगा। अहोरात्र काम करते हुए उनको संघ के वातावरण का अनुभव आए इस प्रकार के व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करना पड़ेगा। इससे शाखा का शिथिल रूप काफी मात्रा में बदल सकता है और शाखाएं बढ़ भी सकती हैं।

लोगों से मैं मिलता रहता हूं। सबसे तो मिल नहीं सकता, लेकिन समाज में किस प्रकार का विचार चलता है इसका अंदाजा मैं मन में लगाता हूं। समाज में [illegible]लता तो है, परंतु हम लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। यदि जनता में कहीं उदासीनता [illegible] देती है तो वह निराशा में से निर्माण हुई है। आशा की किरणें हम नहीं दिखा पा रहे हैं। वैसे जनता अकर्मण्य नहीं है। जलसे, जलूस, हड़ताल, मकान जलाना आदि कामों में लोगों में उत्साह है। विद्वान-अविद्वान सभी में उत्साह है। वे किस ढंग से काम करें यह मार्गदर्शन पर निर्भर करता है। अगर हम मार्गदर्शक रूप में खड़े होना चाहते हैं, तो हम निराशा और उदासीनता को हटाएं। क्योंकि निराशा के कारण ही ऐसे विचार आते [illegible] इस जगत् में न धन-सम्पत्ति है और न भगवान् है। मन में इस प्रकार के भाव आने पर [illegible] वह तोड़-[illegible] और उथल-पुथल के कामों में पड़ता है। उसको वास्तविक रूप से [illegible] मिले और [illegible] का अनुभव हो, ऐसी बातचीत और व्यवहार होना आवश्यक है तभी [illegible] कार्य की दृष्टि से अनुकूलता का उपयोग कर सकते हैं। यदि भिन्न-भिन्न शाखा[illegible] कार्यकर्ताओं के विचार ठीक किए और उनकी उद्यमशीलता ठीक विचारों के [illegible], शाखा [illegible] अव्यवस्था को हटाकर चैतन्य निर्माण किया तथा उस चैतन्य [illegible] का साथ मिला तो कार्य को द्रुतगति से बढ़ा सकते हैं, इसमें मुझे संदेह न[illegible] कार्य [illegible] पद्धति है उसके विषय में अपने मन में संदेह नहीं रखना चाहिए। [illegible] अवस्था अपनी है या नहीं, इसका हम अंतर्मुख होकर विचार करें। [illegible] फिर कोई चिंता नहीं।

अपनी रचना-पद्धति, निर्धारित मार्ग, निर्धारित [illegible] आदि [illegible] में [illegible] गया है। विभिन्न प्रकार की बातें कही गई हैं, किन्तु अन्य [illegible]

का ही अपना विचार है। संघ निर्धारित लक्ष्य को सामने रखकर निर्धारित मार्ग से ही चलता है। अपने मार्ग को छोड़ता नहीं। माननीय भैयाजी दाणी ने जैसे कहा था—"संन्यासी जवान है, अच्छा है, सुंदर है इसलिए उसे विवाह करना ही चाहिए, ऐसा नहीं। उसे तो संन्यास-धर्म का ही पालन करना चाहिए।" उसी प्रकार संघ शक्तिशाली होते हुए भी उसे सत्ता से विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे अंतःकरण में पूर्ण विश्वास है कि अपने राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए इस कार्य की परम आवश्यकता है। बाकी सब कार्यपद्धतियां समाप्त भी हो जांय, परंतु यह केवल एक पद्धति चलती रहे—आसेतु हिमाचल समग्र समाज को समेटते हुए चलती रहे—तो बेड़ा पार हो जायगा। हम जो कार्य कर रहे हैं वह अगर हुआ नहीं और बाकी सब कार्य अपने-अपने ढंग से चलते रहे, तो दुनिया की उथल-पुथल में राष्ट्र टिक नहीं सकता, यह विश्वास है क्या? अगर है तो कार्य बढ़ेगा। यह विचार मेरे हृदय में नित्य रहता है। इस बारे में युक्तिवाद करने की आवश्यकता नहीं है। संघ के कार्यक्रम क्यों रखे हैं? दिन-प्रतिदिन आने का आग्रह क्यों है? क्या संस्कार होते हैं? इसका चर्चित-चर्वण करने की आवश्यकता नहीं है।

हम अपना आत्मपरीक्षण करके यह देखें कि इस दृढ़, अटल, अमिट, विश्वास का अपने अंतःकरण पर पूर्ण प्रभाव है या नहीं। इसी रंग में हृदय रंगा है या नहीं। सभी इसी मार्ग से चलते हैं या नहीं। कोई न्यून है तो उसे चिंतन और विचार से हटा दें।

अपने यहां वंश परंपरा से राष्ट्र की चैतन्यमयी अस्मिता को जगाने का प्रयत्न हजार-पंद्रह सौ वर्षों में दिखाई नहीं दिया। हमारा यह एकमेव प्रयत्न है। अपने कार्य का श्रेष्ठत्व और अलौकिकत्व इस बात में भी है। पुरानी संस्कार करने की धर्म-परंपरा ढीली पड़ गई। "ओल्ड ऑर्डर चेंजेथ, यीर्लिडग प्लेस टू न्यू..." ऐसा लोग कहते हैं। इसके अनुसार नव-विधान बनेगा। संभवतः हममें से ही कोई बनायेगा। संस्कार का ऐसा आयोजन फिर से हो कि पीढ़ी के बाद पीढ़ी सुव्यवस्थित रूप से खड़ी होकर राष्ट्र की जागृत शक्ति का स्वरूप दिखाई दे। पिछले हजार वर्षों में किसी को यह सूझा नहीं और यदि सूझा भी हो तो कोई कर नहीं पाया, परिस्थिति विपरीत होने के फलस्वरूप अथवा समय का अभाव होने के कारण। राष्ट्र को चिरकाल तक सुदृढ़ बनाने की योजना करने का यह कार्य ईश्वर की कृपा से अपने लिए सुरक्षित रहा। इस प्रकार पीढ़ी के बाद पीढ़ी राष्ट्र-जीवन को सुदृढ़ बनाने का अपना प्रयत्न चल रहा है और चलता रहेगा। हम लोगों को अपने अंतःकरण में इसका उत्कृष्ट साक्षात्कार स्वाभिमान के साथ होना चाहिए।

पूर्वकाल से ही संस्कार दृढ़ रखने के लिए उपासना पद्धति बताई गई है। वैसे ही राष्ट्र-भावना के संस्कार विशुद्ध, दृढ़ एवं समाजव्यापी करने के लिए यह दिन-प्रतिदिन के कार्य की पद्धति चलाई है। यह उपासना राष्ट्रव्यापी, संस्कारक्षम, उत्साहपूर्वक करनी पड़ेगी। इस कार्य को समाजव्यापी करने के लिए अविरत प्रयत्न करने पड़ेंगे।

स्वयं आत्मनिरीक्षण करके रचना—पद्धति के संबंध के विश्वास को अटल बनाकर, सबको साथ लेकर प्रत्यक्ष मार्गदर्शन द्वारा, शाब्दिक उपदेश के द्वारा नहीं, यथायोग्य रीति से कार्य की वृद्धि का प्रयत्न करें, तो कार्य बढ़ेगा, ऐसा मुझे लगता है। हम यह सब जानते नहीं, ऐसा नहीं है। परंतु जो बात जानते हैं वह दूसरे के कहने से ज्यादा समझ में आती है। अतएव जो हम जानते हैं वही पुनः श्रवण कराया है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ६-१३)

२९

लचीला अनुशासन

अपने कार्य के संबंध में बहुत लोगों का यह कथन है और वह ठीक भी है कि अपने कार्य की जो अनेक विशेषताएं देखने को मिलती हैं, उनमें से अनुशासन एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसका अपने को आनन्द भी है कि जनसाधारण अपने अनुशासन के संबंध में गौरव के शब्द कहें। परंतु और लोग गौरव के शब्द बोलते हैं इतने "मात्र" से संतुष्ट होना उचित नहीं। विचार यह करना चाहिए कि अनुशासन के संबंध में अपनी कुछ अपेक्षाएं हैं या नहीं। यदि हां, तो उन्हें पूर्ण कर सकें ऐसा अनुशासन दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रमों में से प्रस्थापित करते हैं क्या? स्थूल दृष्टि से दिखनेवाली बातों के विषय में ही यदि कहना हो तो कह सकेंगे कि शायद अपनी अपेक्षा के अनुसार जैसा अनुशासन होना चाहिए वैसा आजकल कम दिखाई देता है। यदि बिलकुल शारीरिक क्रियाओं का ही विचार करें तो कहना पड़ेगा कि दैनिक कार्यक्रमों में अपनी अपेक्षा अभी पूर्ण नहीं होती।

अनुशासन के दो रूप सामने रखे हैं। एक जिस प्रकार का आदेश है उसका पूर्णांश से पालन और दूसरा अनेक लोग पालन करने वाले होने के कारण सबका एक साथ सूत्रबद्ध होकर पालन, याने एक व्यक्तिशः पालन और दूसरा संघशः पालन। छोटी-छोटी बातों का उदाहरण देता हूं। मानो यहां पर कोई बैठा है और उसको खड़े होने का आदेश दिया गया है। तो खड़े होने के बाद स्वाभाविक स्थिति कौन सी अपेक्षित है? दक्ष की स्थिति अपेक्षित है। यदि दक्ष में खड़े होना है तो उसके लिए किसी भी प्रकार की अन्य क्रिया—हलचल—करना अपेक्षित नहीं। लेकिन प्रत्यक्ष में हलचल होती है या नहीं? होती है। उदाहरणार्थ, यहां पर कार्यकर्ताओं का परिचय कराया गया। उस समय जिसका नाम प्रांत-प्रचारक या कार्यवाह पुकारते थे वे खड़े होते थे। अब वे स्मरण करें कि जो कुछ

कचरा धोती, पायजामा या पैंट को लगा होगा वह झाड़कर खड़े हुए या नहीं? इसका कारण यह है कि आदेश के अनुसार चलने का अभी परिपूर्ण गुण आया नहीं, ऐसा कहूं तो वे नाराज हो जायेंगे। फिर भी, नाराज हों तो भी, वस्तुस्थिति कहना उचित है। यदि बड़े-बड़े कार्यकर्ता, जो स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करने के लिए कृतनिश्चय हैं, उनके व्यवहार में इतनी अनवधानता रह सकती है, तो क्रमशः उसका प्रकर्ष होकर शाखा में क्या होता होगा?

अनेक छोटी बातें मिलकर बड़ी बात बनती है। छोटी बातों की ओर ध्यान दिया तो बड़ी बातों का अपने आप ध्यान रहता है। जैसी कि अंग्रेजी में कहावत है "टेक् केयर ऑफ पेंस एण्ड पाउंडस् विल टेक केयर ऑफ देमसेलव्ज" इस कथन के अनुसार दरवाजा आवाज न करते हुए बंद कैसे करना यहां से लेकर तो होल्डाल में कम्बल कैसे रखने तक की नगण्य दिखनेवाली बातों के संबंध में श्रेष्ठ पुरुषों को मार्गदर्शन करते हुए मैंने देखा है। एक बार १९३८ में लाहौर के प्रथम शिक्षा वर्ग में डॉक्टर साहब के साथ प्रवास करने का प्रसंग आया था। साथ के एक कार्यकर्ता ने कम्बल को होल्डाल में डालना चाहा और तह करके कम्बल होल्डाल में डालने लगा तो डॉक्टर साहब ने रोक कर कहा, "यह ठीक नहीं"। उसने कहा, "मैंने ठीक किया है"। वह अपने हठ पर अड़ गया। मैंने डॉक्टर जी के मंतव्य को समझकर सुधारने का प्रयास किया और कंबल दूसरे ढंग से रखा। वे कुछ बोले नहीं। मैंने समझा शायद लिहाज के कारण वे नहीं बोले हैं। बाद में जब उस स्वयंसेवक ने उनसे पूछा कि अंतर कौन सा पड़ा तो उन्होंने समझाया कि होल्डाल की चौड़ाई ज्यादा है और तुमने तह छोटी की थी, इसलिए होल्डाल बीच में फूल जाता। तह बड़ी करने से ठीक प्रकार से लपेटा जायगा। मेरे भी ध्यान में आ गया कि मैंने गलती नहीं की थी। ऐसी छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान रखने वाले बड़े पुरुषों को देखा होने के कारण छोटी-छोटी बातों का महत्व हमेशा प्रतीत होता है। छोटे कामों का अभ्यास ठीक होगा तो ही बड़े काम ठीक प्रकार से कर सकेंगे। कोई कहे कि समय आने दो फिर ठीक प्रकार से काम करके दिखायेंगे, तो उसे समझाना चाहिए कि प्रत्येक क्षण समय है और वह नित्य आता है। परीक्षा कभी छोटी होती है और कभी बड़ी, इतना ही केवल अंतर है। छोटी परीक्षा में जो उत्तीर्ण नहीं होता है उससे बड़ी-बड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होने की आशा कैसे की जा सकती है? इसलिए मैंने छोटी बातों का ही उल्लेख किया है।

कई बार स्वयंसेवकों को सूचना देते हैं कि खड़े रहते समय इस प्रकार कचरा मत झाड़ो। कारण, अपनी उस पंक्ति में पीछे और भी स्वयंसेवक बैठे होते हैं। अपना कचरा झाड़ना अपने को भले ही अच्छा लगता हो परंतु जो स्वयंसेवक पीछे बैठे हैं उनके मुंह में कचरा जाता है, उसका क्या होगा? उनका विचार क्यों नहीं करते? सामान्य व्यवहार में अनवधान ही इसका कारण है। जब किसी भी कार्य के लिए एक-एक कदम और एक-एक पग हम आगे बढ़ाते हैं तब उसके पीछे कितना विचार होता है, कितना ध्यान होता है और

दत्तचित्त होकर काम करते हैं या नहीं इसका परिचय इस बात से मिल जाता है। अभ्यास न रहा तो छोटा-बड़ा कोई भी काम अच्छा नहीं होगा। इसके लिए अनवधान हटाने और कृति करने के लिए जो-जो आदेश मिलता है उसका दत्तचित्त होकर परिपूर्ण पालन करने का अभ्यास आवश्यक है। काम करते समय मन इधर-उधर भटकना नहीं चाहिए। लेकिन भटकता है।

उड़ीसा गया था तब की एक घटना स्मरण आती है। एक तृतीय वर्ष शिक्षित व अच्छा बुद्धिमान स्वयंसेवक प्रार्थना करने के लिए खड़ा हुआ। मुझे मालूम है कि उसे प्रार्थना मुखस्थ थी। लेकिन दो श्लोक कहकर वह रुक गया, तीसरा श्लोक प्रारंभ ही नहीं करता था। पास में जो मुख्य शिक्षक खड़ा था उसने थोड़ी सूचना करने के बाद फिर उसने ठीक तौर से प्रार्थना पूरी की। बाद में उसको किसी ने पूछा कि इस प्रकार क्यों रुक गया। उसने कहा, प्रार्थना मैं भूला नहीं था। लेकिन आगे चलकर होने वाले प्रदर्शन में कौन से शारीरिक योग करना है, उसकी ओर ध्यान जाने के कारण प्रार्थना कह रहा हूं, यह भूल गया, इसलिए रुका। यह मन का भटकना ठीक नहीं। इसके कारण उस समय कर्तव्य से वह दूर गया। ऐसा अव्यवस्थित मन कोई कार्य नहीं कर सकता। अपने यहां पुराने विद्वान यहां तक कहते हैं कि जिसका चित्त अव्यवस्थित है उसकी प्रसन्नता भी संकटों से भरी होती है। कहा है, "अव्यवस्थित चित्तानां प्रसादोऽपिभयंकरः"। और फिर यदि प्रसन्नता न हो तो कितनी भयंकर अवस्था होगी। चित्त की व्यवस्थितता अनुशासन का मानसिक स्वरूप है। जो-जो कार्य हम करते हैं उसका चिंतन-मनन और सर्वशक्ति का उसी पर केंद्रीयकरण करने का यह मानसिक गुण यदि हममें न होगा तो कठिनाई का अनुभव होगा। यदि यह गुण होगा तो शरीर से अनुचित व्यवहार नहीं होंगे। इस दृष्टि से व्यक्तिगत और संघ-बद्ध जीवन में अनुशासन का गुण मन की गहराई तक पहुंचना, मन अव्यवस्थित न हो और एकाग्रता से काम करने की प्रवत्ति रहे इसका अभ्यास करना और करवाना आवश्यक है। तभी अपने अनुशासन की जो कीर्ति है वह ठीक होगी और अपने को उसमें यथार्थ समाधान प्राप्त करने का भाग्य मिलेगा।

मेरे सामने अनुशासन का एक और अर्थ नित्य रहा है। अपने यहां पर अनुशासन शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल में किया गया है। उसके भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। परंतु एक उल्लेख बड़ा महत्वपूर्ण है। एक उपनिषद में जहां पर छात्रों को घर जाते समय आचार्यों द्वारा कुछ उपदेश और सूचनाएं दी गई हैं, उसमें "इदम अनुशासनम्" कहा है। जो सिद्धांत रूप धर्म है उसके अनुसार चलो, जो सत्य के अनुसार है उसे कभी मत छोड़ो आदि मौलिक सिद्धांत उसमें बताए गये हैं। परंतु विशिष्ट प्रकार से ही चलो और जिसको अंग्रेजी में "रिजिडिटी" बोलते हैं, उसका आदेश या उपदेश नहीं किया। केवल इतना ही बताया कि अपने शास्त्रों ने अपना मार्गदर्शन किया है। फिर यदि कोई समस्या खड़ी हुई, तो श्रेष्ठ, निःस्वार्थ, तपःपूत विद्वान पुरुष उन प्रसंगों में [illegible] व्यवहार करते हुए विचार

वैसा व्यवहार करो। विशेष नियमावली नहीं बताई। बुद्धि का स्वातंत्र्य दिया। इस स्वातंत्र्य का समन्वय मौलिक सिद्धांत के साथ किया और उसको अनुशासन कहा। अपने यहां अनुशासन शब्द में व्यक्ति का स्वातंत्र्य और व्यक्ति का सूत्रबद्ध जीवन तथा समष्टि में उसके विलीनीकरण का भी अन्तर्भाव है। इन दोनों का सामंजस्य जो कर सकता है वही यथार्थ रूप में हिन्दू संगठन भी कर सकता है। अन्यथा जैसे जगत् के अन्यान्य लोगों ने कुछ संगठितता उत्पन्न की थी और उसके आधार पर कुछ समय तक शक्ति का अनुभव भी किया था उस प्रकार अपने यहां भी हो सकेगा परंतु उसमें से एक ऐसी हिन्दू शक्ति उत्पन्न होगी जो कुछ काल के उपरांत टूट जायेगी, क्योंकि अपनी परम्परा और विचारधारा के अनुकूल आचरण ही चिरंजीवी हो सकता है और वही अमरत्व प्राप्त कर सकता है। अपने राष्ट्र की दुर्दशा, अपना विचार त्यागकर अन्यों का अनुकरण और अनुनय करने के कारण ही हुई है। उससे कभी थोड़े समय के लिए कुछ सफलता भले ही दिखाई दे लेकिन अल्पजीवी ही होगी, और थोड़े समय के लाभ से सैकड़ों गुणा अधिक हानि उस शक्ति के टूटने के कारण होगी। यह बहुत स्पष्ट रूप से आपके सामने कहता हूं। क्योंकि जगत् के वातावरण का प्रभाव अपने ऊपर होता है। जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार से संगठित जीवन का जो प्रयास हुआ उसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का अपहरण कर, उसमें विशिष्ट आचरण, विशिष्ट व्यवहार, बलात्कार से ठूंसकर उसको एक संगठित यंत्र के निर्जीव, निष्प्राण, अचेतन अंग के रूप में चलाने का प्रयत्न हुआ। उसका कुछ परिणाम अपने पर हो सकता है। क्योंकि वह सद्यःफलदायी मार्ग के रूप में बहुत ही आकर्षक लगता है। वैसी ही रचना की इच्छा मन में निर्माण होना अस्वाभाविक नहीं। लेकिन यह अपने राष्ट्र-जीवन की परंपरा के प्रतिकूल है। अपने राष्ट्र-जीवन की जिस प्राचीन परंपरा के सुदृढ़ रहते हुए हमने पराक्रम किया था, ऐश्वर्य प्राप्त किया और उसे भोगा था उसके यह प्रतिकूल है। अनुशासन में अपने यहां पर व्यक्ति का जो अस्तित्व माना है वह उसकी बुद्धि, उसकी प्रकृत्ति, उसकी रुचि आदि सब बातों की स्वतंत्रता को लेकर है। प्रत्येक व्यक्ति के प्रकृति धर्म के अनुसार उसको जीवन में अपना उत्कर्ष करने के लिए प्रोत्साहन देने की यहां मान्यता है। यह करते समय अपने व्यक्तित्व के अहंकार का शिकार न बनते हुए, समष्टि के अभिमान का ही केवल अपने अन्तःकरण में भाव रखकर, अपनी वैयक्तिक गुण-सम्पदा का प्रकर्ष, समष्टि के अहंकार से एकात्म होने के कारण, राष्ट्रहित के लिए ही सुसूत्र रूप से उपयोग में लाने का जो भाव है, उसको अपने यहां अनुशासन कहा है। बाकी का तो केवल दासत्व का निर्माण है, वह अनुशासन नहीं है।

इसलिए अपने कार्य का फिर एक बार विचार करना है जिसका प्रारंभ में विषय-प्रवेश के रूप में उल्लेख किया था। अपना कार्य हिन्दू समाज को संगठित करने के लिए है, हिन्दू समाज में एक अलग संगठित शक्ति या एक अलग दल निर्माण करने के लिए नहीं है। हमारा लक्ष्य है कि समाज संगठित जीवन के विचार से ओतप्रोत हो और समाज के सब

व्यक्ति निःशेष रूप से उस विचार से परिपूर्ण हों। सब लोग समष्टि में अपने जीवन को विलीन कर स्वतः सिद्ध अनुशासन की भावना में अपने को गूंथने का निश्चय करके यहां आएं। इस प्रकार समाज के संगठन का हमारा विचार और संकल्प है, एक संगठित दल के निर्माण का नहीं।

अब कोई कहेगा कि संघ यदि दल के रूप में नहीं चलता तो और कैसे चलता है? यह प्रश्न जो वस्तुस्थिति दिखती है उसको लेकर ही है। यदि हम पूर्ण विचार करने का प्रयत्न करेंगे तो हमें मानना पड़ेगा कि व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुंचने के लिए, सम्पूर्ण समाज का संगठित जीवन निर्माण करने के लिए, एक देशव्यापी, निरलस, निःस्वार्थ कार्यकर्ताओं द्वारा बना हुआ संगठनयंत्र अपने को खड़ा करना पड़ेगा। पर वह अपना लक्ष्य नहीं, केवल साधन मात्र है। समाज सुसंगठित बने इसलिए कार्यकर्ताओं का निर्माण केवल पहली सीढ़ी है।

हम ऐसा कहा करते हैं कि स्नेह, प्रेम, आदर्श, चारित्र्य आदि गुणों से समग्र समाज को आत्मसात करके, उसे प्रेम के बाहु के आलिंगन में समेटकर समग्र समाज को साथ लेकर चल सकें, ऐसी आदरपात्र और विश्वासपात्र स्वयंसेवकों की बनी हुई शाखा स्थान-स्थान पर चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि हमारी शाखा समग्र समाज को समेटने का एक माध्यम, एक साधन या एक बृहद यंत्र है। ऐसी शाखा का वर्णन स्वयं डॉक्टर जी ने ही किया है। संघ-शास्त्र में मैं उनके शब्द को सर्वाधिक प्रमाण मानता हूं। इसलिए उनके ही शब्दों का उल्लेख किया है। शाखा की उनकी कामना थी और लक्ष्य था, "हिन्दू समाज का संगठन।" हिन्दू समाज में संगठित दल निर्माण करने का उनका लक्ष्य नहीं था। सारांश, समाज संगठितता के लिए इन शाखाओं के रूप में देशव्यापी यंत्र खड़ा करना होगा, यह हृदय में अनुभव करके प्रत्येक स्थान पर शाखा के रूप में समाज-संगठन का माध्यम खड़ा करने का अपना प्रयत्न है। इसी दृष्टि से शाखा है। कभी-कभी कहा जाता है कि अपना यह "मास मूव्हमेंट" नहीं है। इसका स्वरूप "क्लास मूव्हमेंट" का है। "क्लास" शब्द आर्थिक दृष्टि से या वर्ग संघर्षवाद की विशिष्ट दृष्टि से यहां उपयोग में नहीं लाया है, तो चुने हुए विशिष्ट संस्कारों से संपन्न लोगों को स्थान-स्थान पर एकत्रित करके उनके संस्कार संगठनानुकूल बनाते हुए एक अनुशासित महायंत्र हमें प्रस्थापित करना है तथा उसके आधार पर, याने उन संस्कार-संपन्न व्यक्तियों के आचरण तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार के आधार पर, संपूर्ण समाज संगठित जीवन का अमृत स्वीकार कर खड़ा हो यह हमारी अपेक्षा है। "मास मूव्हमेंट" में कौन क्या करता है, क्यों करता है और कैसे करता है इसका पता नहीं चलता। "मास मूव्हमेंट" अपने यहां स्वीकृत नहीं है। वह विध्वंसकारी कार्य के लिए अच्छा रहता है। शेक्सपियर के "जूलियस सीजर" नाटक में जनता का क्षोभ जागृत करके एंटोनी ने कहा कि "मिसचीफ दाऊ आर्ट अफूट, नाऊ टेक व्हाट कोर्स दाऊ विल्ट"। राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य उस पद्धति से नहीं हो सकता। इसलिए हमने उसका विचार

मन से सर्वथा निकाल डाला।

लोग कहेंगे कि भिन्न-भिन्न देशों में संगठित दल खड़े हुए, और देखो उन्होंने कितनी प्रगति की। जर्मनी ने केवल बीस साल में कितना बड़ा उत्थान कर दिखाया। इटली में भी जब तक वहां के दल की चली तब तक उसने प्रगति का चित्र खड़ा किया। आज इसी प्रकार संगठित दल की निर्मिति करके रूस जगत् को कंपित करने वाला प्रबल राष्ट्र दिखाई दे रहा है। उपर्युक्त बातों का अपने मन में आकर्षण होना असंभव नहीं। परंतु हम विचार करें कि ऐसे ये जितने काम चले और चल रहे हैं उनमें मनुष्य मात्र को, जो सर्वसाधारण समाज का वास्तविक रूप से जीवन्त और चैतन्यमय अंग हुआ करता है, अपने स्वतंत्र विकास की स्थिति का अनुभव करने को मिलता है क्या? व्यक्ति-व्यक्ति को यदि मैं राष्ट्र का अंग और घटक हूं, इसकी स्वतंत्र अनुभूति और प्रेरणा नहीं है और अपनी कृतिमानता से, चारित्र्य से एवं सद्गुणों से इसको श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करूंगा ऐसी उमंग नहीं है, किंतु किसी के बल-प्रयोग से वह कार्य करता है, तो वह राष्ट्र के लिए लाभदायक नहीं होगा। उंमग से किया हुआ कार्य ही लाभकारी होगा। किसी के बलात्कार से जो कार्य किया जाता है उसे मनुष्य छोड़ भी सकता है। जब तक बल का प्रयोग होता रहेगा तब तक वह काम करेगा लेकिन बल प्रयोग थोड़ा भी ढीला दिखाई दिया तो वह विद्रोह के साथ खड़ा होगा। मनुष्य स्वभावतः दासता का पक्षपाती नहीं है। विशेषतः अपने यहां श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति, श्रेष्ठ होने के कारण हम लोग आर्य हैं। "एथीपॉलॉजिस्टस" और "एथ्नॉलॉजिस्टस्" जो आर्य, द्रविड़ का भेद बताते हैं वह सब "हंबग" है। उसे छोड़ दीजिए। आर्य याने श्रेष्ठ यह वैदिक अर्थ है। सारे संसार में हम चारित्र्य सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न अतएव श्रेष्ठ हैं ऐसा उनका विश्वास था। मनीषियों ने कहा कि आर्य में कभी दास-भाव नहीं रह सकता। दासत्व में वह कभी संतोष नहीं मानता, फिर वह स्वकीयों का हो या परकीयों का। आर्यों की प्रतिभा और चेतना का यह असामान्य गुण है। हमने जब जीवन में सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मुक्ति ही रखा है, सर्व-तंत्र स्वतंत्र बंधनों के अभाव की स्थिति श्रेष्ठ मानी है, तो ऐहिक जीवन में भी दासता का विचार मान्य नहीं हो सकता। यदि हुआ तो आर्यत्व से गिर गया। यह हमारा स्वाभाविक गुण है और इसका पोषण कर इसे हमें परिपुष्ट बनाना है। कोई व्यक्ति बलात्कार से दूसरे का दास बने और अपनी प्रतिभा बेच दे, किसी भी व्यक्ति का ऐसा पतन अपने लिए सहनीय नहीं। हम इसे मान नहीं सकते।

भिन्न-भिन्न देशों ने जो संगठित शक्ति का निर्माण किया उसमें बलात्कार से पूरे समाज को काबू में रखा और विशिष्ट प्रकार का जीवन, विशिष्ट विचार तथा विशिष्ट प्रकार का आचरण स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप जब कभी जगत् के उथल-पुथल में बलात्कार करने वाली शक्ति संकट में पड़कर क्षीण बन गई तो समाज ने उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया तथा उसका विध्वंस किया। लेकिन दासता के कारण प्रतिभा घट जाने से उस शक्ति का विध्वंस करने के बाद आगे का मार्ग समाज को दिखाई

नहीं दिया और संपूर्ण राष्ट्र उध्वस्त, अस्तव्यस्त जीवन का अनुभव करने लगा। यदि फिर से जगत् में उथल-पुथल आ गई, और वह आनेवाली है ऐसा लोग कहते हैं, तो ऐसे मानव समूहों को विध्वंस का ही चित्र देखने को मिलेगा, यह कहने के लिए किसी ज्योतिषी की आवश्यकता नहीं। मानो चारों ओर समाज की प्रतिभा, स्वतंत्रता एवं चेतना की राख पड़ी हो ऐसा उध्वस्त जीवन देखने को मिलेगा। हमें ऐसा जीवन उत्पन्न नहीं करना है। स्वतंत्र और स्वेच्छा से स्वीकृत समष्टि रूप अनुशासन ही हमने अपने सामने रखा है। उसके कारण अतीव दृढ़ता से परस्पर संबंध और सब परिस्थितियों में उस अनुशासन को प्रत्यक्ष रूप से चरितार्थ करने वाली हमारी रचना है। कितने भी संकट क्यों न आएं, यहां तक कि कुछ समय के लिए वह रचना स्थगित भी क्यों न हो जाय, तो भी समष्टि रूप वह अनुशासन अटूट रूप से चल सकेगा इतनी स्वतंत्र प्रतिभापूर्वक अनुशासन की स्वीकृति सब व्यक्तियों के हृदय में प्रस्थापित करने की अपने मन की इच्छा है। यही अपनी संस्कृति के अनुरूप है और यही आवश्यक भी है।

अपने पूर्वजों ने समष्टि की जो रचना बनाई उसमें व्यक्ति का संतोष और अनुशासन-सूत्र का स्वेच्छा तथा आनंद से स्वीकार के बीच समन्वय किया है। परिणामस्वरूप संसार में अन्य किसी समाज ने सहे नहीं होंगे, उससे कई गुना ज्यादा आघात आने पर भी उन सबको निगलकर हम अभी तक जीवित रहे। यह अपने समाज के "इलेस्टिक डिसिप्लीन"—लचीले अनुशासन—का फल है। यदि "रिजिडिटी" होती तो जैसे आत्मरक्षार्थ कुछ प्राणियों ने मोटे कवच धारण किए और उसी के बोझ से दबकर नष्ट हुए और केवल "फॉसिल" के रूप में—अश्मा रूप में—बचे वैसी ही अवस्था अपने समाज की भी होती। यह लचीलापन और उसमें से जागता हुआ समष्टिभाव ही अपना अमृत है। उसने ही अपने को जीवित रखा। फिर से उसी प्रकार दृढ़ता से भरा हुआ स्वतंत्र जीवन निर्माण करना, समग्र समाज में उसे प्रसृत करने का लक्ष्य हमारे सामने रहना आवश्यक है। दल रूप कार्य में हमें संतोष नहीं। समाज संगठन का माध्यम हम निर्माण कर रहे हैं, यह यथार्थ धारणा हृदय में रखने से ही लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

राजमहेन्द्री के कार्यकर्ताओं ने डॉक्टरजी का एक चित्र बनाकर उसके नीचे "डिसिप्लिन इज द सोल ऑफ द नेशन" लिखा। अपना "डिसिप्लिन" का विचार संस्कृति और परंपरा को न भूलते हुए करने का है। सैनिक संगठन अच्छा दिखता है, खट्-खट् बूट बजाते हुए चलना अच्छा लगता है, इसलिए "मिलिटराइज" करने की आवश्यकता नहीं। हरेक व्यक्ति राष्ट्रभक्त बने, निरहंकारी बने, गुणसंपन्न बने, समष्टि में अपना व्यक्तित्व विलीन करने की क्षमता रखने वाला बने यह आवश्यक है। वह सैनिक ही बने यह आवश्यक नहीं। वह सैनिक, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, कृषक, कारीगर या चाहे जो काम करने वाला बन सकता है। राष्ट्र की दृष्टि से सर्वगुण-सम्पन्नता उसके अंदर आ सकती है। इस प्रकार के लचीले अनुशासन के सूत्र में गूंथा हुआ यानि स्वतंत्र प्रतिभा से

अपनी रुचि-प्रकृति के अनुसार अपने विकास के लिए परिपूर्ण वायुमंडल बनाता हुआ व साथ ही अपने व्यक्तित्व को समष्टि में ढालने का सत्संस्कार हृदय में नित्य जागृत रखते हुए वह चले, यह आवश्यक है। यही अनुशासन है। इसका बाह्य रूप शारीरिक अनुशासन में दिखाई देता है। अपने में कितनी मात्रा में अहंकार को समष्टि में विलीन करने का गुण उत्पन्न हुआ है, अपना चित्त स्वार्थ में या इधर-उधर न भटकते हुए इस विलीनीकरण की भावना पर कितनी मात्रा में एकाग्र हुआ है, इसके बाह्य परिचय के रूप में शारीरिक कार्यक्रम की ओर हम देखें। बाह्य रूप का आग्रह इसीलिए है। बाह्य रूप सुसूत्र बनाते-बनाते मन संयमित और सुव्यवस्थित होता है। इससे व्यक्तित्व को समष्टि में विलीन करने की पात्रता अपने अंदर आ सकती है। ऐसी पात्रता अपने अंदर लाते समय हमने अपने संघ के कार्य का जो एक स्नेहपूर्ण बंधुत्व भावयुक्त वायुमण्डल है, जिसमें किसी प्रकार ऊंच-नीच का भेदभाव न रखते हुए चलने का विशेष आग्रह है, उस वातावरण में अपने व्यक्तित्व का यथार्थ बोध होते हुए मनुष्य अपनी इच्छा से चलने और विविधत्व का समाधान भी प्राप्त कर सके ऐसी स्थिति निर्माण करने का प्रयत्न किया है। ऐसी अनोखी-सी रचना हमारे यहां बनी है। इस रचना को यथार्थ रूप से चलाने के लिए प्रयत्नशील होते हुए हम लोगों को छोटे-छोटे कामों में भी कठोर अनुशासन का पालन करना होगा। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अनुशासन के संस्कार निर्माण करने होंगे। चित्त को एकाग्र करते हुए इसके लिए प्रयत्न करना है, ऐसा मैं समझता हूं।

अपने संगठन की शक्ति उसके लचीलेपन में है और उसी में उसकी जीवमानता है। जब तक पेड़ में रस रहता है तब तक पेड़ की शाखा को झुकायेंगे तो वह झुकेगी तो किन्तु वह फिर पूर्ववत् हो जायगी। परंतु रस समाप्त हो जाने पर झुकाने से शुष्क शाखा टूट जायगी। केवल कृत्रिम अनुशासन रूखी-सूखी पेड़ की टहनी के समान निष्प्राण और टूटनेवाला होता है। जीवमान, चैतन्यमय व्यक्ति की स्वेच्छा से स्वीकृत और समष्टि रूप अहंकार से ओतप्रोत अनुशासन ही संगठित रूप से खड़ा रह सकता है। वही चिरंजीवी होता है। जो अमृत-रस से भरा है उसे मारने की जगत् में किसी की शक्ति नहीं। वह अपने बोझ से भी कभी नहीं टूटता। बड़े भारी पेड़ को छोटी-छोटी जड़ें इसलिए संभाल सकती हैं कि वे जीवमान होती हैं। यदि वे निर्जीव हो जायं तो पेड़ गिर जायगा। चैतन्य का अमृत-रस ठीक प्रकार से रहा तो न वह अपने बोझ से टूटता है और न दूसरा कोई उसे तोड़ सकता है। यह सब सोचकर अनुशासन की अपनी धारणा, कल्पना और विचार तथा उसका आचरण, उसको प्रस्थापित करने के लिए अपने प्रयत्न इत्यादि सब योग्य प्रकार से होने चाहिएं। कारण आज का वातावरण इस प्रकार से अपने ही विशिष्ट परम्परानुकूल पद्धति से चलनेवाले संगठित जीवन से अपरिचित है। अनार्य विचारों का बोलबाला सर्वत्र सुनने को मिलता है। भिन्न-भिन्न विकृत कार्य सामने हैं। अनेक अहिन्दू विचारों का प्रभाव रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा आदि पर पड़ गया है। इसी प्रकार संगठन करते समय

अहिन्दू और अनार्य विचारों का प्रभाव अपने ऊपर पड़ने का भय हो सकता है। परिणामस्वरूप हम एक "रिजिड-नॉन-इलेस्टिक", समाज को दास बनाने वाले यंत्र का निर्माण करके राष्ट्र का नासमझी के कारण अहित न कर बैठें इसलिए यह बात कही है। इस पर सोचें और विचार करें। प्रमाणभूत शब्दों से मैंने जो समझा उसे एक आवश्यक कर्तव्य के नाते आपके सामने रखा है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० १४-२३)

३०

न्यूनतम नित्यकर्म

अपने समाज में अनेक गुणवान लोग हैं। वे अपनी दृष्टि से विचार करके सोचते हैं कि हमसे जितना बनता है उतना करेंगे। पैसा देंगे, संघ के बारे में अच्छा बोलेंगे, भाषण करेंगे, परिश्रम करेंगे, कुछ अभियान हो तो दौड़-धूप करेंगे, इस प्रकार की सिद्धता वे बताते हैं। एक कार्यकर्ता का उदाहरण याद आता है। १९४२ के अस्थिर काल में जब संघ पर आपत्ति आने की संभावना थी तब उस कार्यकर्ता ने बड़ी दौड़-धूप भी की, परंतु बाद में जब वायुमण्डल स्थिर हो गया तो उसकी दौड़-धूप भी शांत हो गई। अब वे निष्क्रिय बैठे हुए हैं—न परिवार संभालते हैं, न संघ का काम करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि संघ के लिए शारीरिक श्रम करने के लिए हमसे कहिये, संघ-स्थान भी झाड़ने के लिए हम तैयार हैं। वैसे तो प्रारंभ में आवश्यकता के अनुसार डॉक्टरजी ने भी संघ-स्थान स्वच्छ करने का काम अपने हाथों से किया। सभी कर सकते हैं। परन्तु स्वतः को कृतकृत्य मानने लायक यह काम है क्या? प्रतिदिन शाखा में जाना अपने यहां एक न्यूनतम स्तर (मिनिमम लेव्हल) के रूप में रखा है। "मिनिमम लेव्हल" न छोड़ते हुए अपने यथार्थ गुणों का उपयोग संघ के लिए करना है। शास्त्र में दो प्रकार के कार्य बताए गए हैं—एक नित्य कर्म और दूसरा नैमित्तिक कर्म। यदि कोई कहे कि मैं नैमित्तिक कर्म—जैसे यज्ञयाग, सत्यनारायण-पूजा आदि कर सकता हूं, नित्य कर्म करने की आवश्यकता नहीं तो यह धारणा हानिकारक होगी। नैमित्तिक कर्म यद्यपि किए तो भी नित्य उपासना करनी ही पड़ती है। उसके उपरांत नैमित्तिक कर्म हो सकते हैं। नित्य उपासना को छोड़कर किए हुए नैमित्तिक कर्म केवल निरुपयोगी ही नहीं तो हानिकारक भी सिद्ध हो सकते हैं। कभी-कभी मेरे पास आकर कोई संघ के लिए ग्रंथ लिखने की इच्छा व्यक्त करता है तो मैं उसको पूछता हूं—"शाखा में जाते हो क्या? यदि नहीं जाते तो आपका ग्रंथ लिखना निरुपयोगी है।" मेरे

ऐसा कहने से लोग नाराज हो जाते हैं। लेकिन वास्तव में न्यूनतम (मिनिमम) नित्यकर्म को छोड़कर बाकी गुणों का ठीक उपयोग नहीं हो सकता। वक्तृत्व, लेखनकला, अर्थशास्त्र का अभ्यास आदि सब गुणों का उपयोग अवश्य है। लेकिन "मिनिमम" तो होना ही चाहिए। कुछ लोग कहते हैं "मिनिमम" से हमें मुक्त कर दो, फिर देखो, हम कैसा पराक्रम करते हैं। ऐसा भी पूछनेवाले लोग मिलते हैं कि गुणवान व्यक्तियों से अपने "मिनिमम" का आग्रह करें या न करें। मेरे ख्याल से अवश्य करना चाहिए। इस "मिनिमम" में तन-मन-धन लगता है। शरीर से हम शाखा में जायंगे, मन में कार्य का चिंतन करेंगे, उसके विस्तार-प्रसार के लिए अंतःकरण और समर्पण बुद्धि से धन का व्यय करेंगे, तो इसके बाद भिन्न-भिन्न गुणवान लोग अपने गुणों का उपयोग समाज की भलाई के लिए कर सकते हैं। समग्र पवित्र भावनाओं का आवाह्न करके जिस समय हमने संकल्प प्रकट किया उस समय से हमने स्वेच्छा से एक पवित्र बंधन में अपने को बांध लिया। कार्य का जो न्यूनतम, निरतिशय आवश्यक स्वरूप है उसका परिपूर्ण पालन करूंगा, उसका विस्तार करूंगा एवं समाज संगठित करने के लिए उसके दृढ़ आधार पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने भिन्न-भिन्न गुणों का उपयोग करूंगा यह विचार हरेक स्वयंसेवक के मन में दृढ़ करना और उसको प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

हमारे चारों ओर उत्पन्न होने वाली सामयिक परिस्थिति के विचार या चिंता से इस नित्यकर्म की ओर थोड़ा दुर्लक्ष हो सकता है। परंतु इस प्रकार दुर्लक्ष करने के लिए शास्त्र ने सम्मति नहीं दी है। शास्त्र ने कहा है कि नैमित्तिक त्यागने को प्रत्यवाय नहीं, परंतु नित्य को कभी त्यागना नहीं चाहिए। अपने समाज ने आत्मविस्मरण का, परस्पर-विच्छेद का, भाइयों के ही विनाश का जो महत्पाप किया है उसका प्रक्षालन इस नित्यकर्म से ही होगा। समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार बाकी के जो काम्य कर्म हम करेंगे उनके द्वारा पाप-क्षालन नहीं होगा, उनसे सुसंगठित जीवन उत्पन्न नहीं होगा। इस बात की उपेक्षा यदि हम करेंगे तो गत हजार वर्षों से जो समस्या हमारे समाने खड़ी है उसे वैसे ही रख छोड़ने का पाप हम कर बैठेंगे। यह काम अधूरा ही छोड़ दें, संगठन की परंपरा उत्पन्न न करें, समाज जागृत न करें, सामयिक झंझावात में सूखे पत्तों की भांति उड़ जाएं, यह सारा यदि अपने हाथों नहीं होना चाहिए, ऐसी इच्छा है, तो नित्यकर्म के अडिग संस्कार दृढ़ करना और उनके विस्तार के लिए परिपूर्ण शक्ति लगाना अतीव आवश्यक है। शाखाएं कितनी हैं, उपस्थिति कितनी रहती है, अनुशासन कैसा है आदि प्रश्न इसलिए पूछता हूं कि नित्य की उपासना ठीक प्रकार से चलती है या नहीं, इसका पता चले। यदि ठीक चलती है तो अपना सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन श्रेष्ठ, पवित्र और शक्ति-सम्पन्न अवश्य ही होगा।

नित्यकर्म में सदैव संलग्न रहने के विचार की आवश्यकता का [illegible] कारण [illegible] समय-समय पर देश में उत्पन्न परिस्थिति के कारण मन में कुछ उथल-पुथल होती ही

रहती है। सन् १९४२ में ऐसी उथल-पुथल हुई थी। उसके पहले १९३०-३१ में भी आंदोलन हुआ था। उस समय कई लोग डॉक्टर जी के पास गए थे। इस "शिष्टमंडल" ने डॉक्टरजी से अनुरोध किया कि इस आंदोलन से स्वातंत्र्य मिल जायेगा इसलिए संघ को पीछे नहीं रहना चाहिए। उस समय एक सज्जन ने जब डॉक्टरजी से कहा कि वे जेल जाने के लिए तैयार हैं, तो डॉक्टरजी ने कहा, "जरूर जाओ। लेकिन पीछे आपके परिवार को कौन चलायेगा?" उस सज्जन ने बताया, "दो साल तक केवल परिवार चलाने के लिए ही नहीं तो आवश्यकतानुसार जुर्माना भरने की भी पर्याप्त व्यवस्था मैंने कर रखी है।" तो डॉक्टरजी ने उनसे कहा, "आपने पूरी व्यवस्था कर रखी है तो अब दो साल के लिए संघ का ही कार्य करने के लिए निकलो।" घर जाने के बाद वह सज्जन न जेल गए, न संघ का कार्य करने के लिए बाहर निकले।

१९४२ में भी अनेक लोगों के मन में तीव्र आंदोलन था। उस समय भी संघ का नित्य-कार्य चलता रहा। प्रत्यक्ष रूप से संघ ने कुछ न करने का संकल्प किया। परंतु संघ के स्वयंसेवकों के मन में उथल-पुथल चल ही रही थी। संघ अकर्मण्य लोगों की संस्था है, इनकी बातों में कुछ अर्थ नहीं, ऐसा केवल बाहर के लोगों ने ही नहीं तो अपने कई स्वयंसेवकों ने भी कहा। वे बड़े रुष्ट भी हुए।

इसके बाद देशभर में फिर से एक अस्थिर-सी परिस्थिति लोग अनुभव करने लगे। मुसलमानों ने मार-पीट और दंगा-फसाद शुरू कर दिया था। विभाजन के पूर्व कृष्ण छाया फैलने लगी थी। उस संकट का दृढ़ता से मुकाबला करने का विचार अपने लोगों के मन में आया और फिर कार्य विस्तार में वे जुट गए। परंतु काफी विलम्ब हो चुका था। जब नाक में पानी घुसने लगता है तब तैरना सीखने का विचार मन में आने से क्या लाभ? पता नहीं अपने समाज को क्या हो गया है। पता नहीं, प्यास लगने पर कुंआ खोदने का विचार करने की खराब आदत अपने समाज को कैसे लगी। उस समय भी लोग सोचने लगे थे कि संगठन होना चाहिए। परिणामस्वरूप पंजाब में संघ-शाखाओं में बहुत बाढ़ आई थी। मुझे स्मरण है, मैंने उस समय भी कहा था कि पांडुरोग में रोगी मोटा हो जाता है। परंतु उसके स्थूल शरीर का बोझ मृत्यु का पूर्व चिह्न होता है। उसके मुख [illegible] स्वर्ण वास्तव में विवर्ण रहता है। ऐसे पांडुरोगी के पुष्ट दिखनेवाले शरीर से महत् [illegible] होता। उस समय हुआ भी यही। कुछ अल्प सा कार्य हुआ और संकट का यथाश[illegible]तिकार हुआ। उस संकट का काला स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव करने से स्वयंसेवकों और [illegible]ताओं के हृदय में उथल-पुथल सी हो गई। संघ का नित्य कार्य चलाना या न चलाना [illegible] लेकर अनेक बातों में विचारों और भावनाओं के अंतःसंघर्ष तुमुल युद्ध के रूप में खड़े हो गए। उनसे छुटकारा पाकर हम कुछ विचार करने की स्थिति में आते न आते तो अपने स्वतंत्र स्वाभिमानपूर्ण अस्तित्व के लिए अपने ही देशवासियों के संघर्ष में [illegible] पड़ा। डेढ़-दो साल उसी संघर्ष में बीत गए।

लड़ाई, फिर वह अहिंसात्मक और शांतिमय क्यों न हो, अपने पीछे बड़ी बुराइयां छोड़कर जाती है। गीता के पहले ही अध्याय में इन बुराइयों का वर्णन अर्जुन के मुंह से "संकरो नरकायैव" आदि शब्दों में किया हुआ है। केवल अपने यहां ही नहीं दुनिया भर में ऐसा ही हुआ है। पहला महायुद्ध प्रत्यक्ष रूप से इंग्लैंड में लड़ा तो नहीं गया था; लेकिन युद्ध के बाद वहां की मजबूत समझी जाने वाली समाज-रचना तीन-चौथाई टूट गई। दूसरे महायुद्ध के बाद वह इतनी टूटी कि पहले जहां साधारण घर की लड़की भी चारित्र्य-संपन्न होती थी वहां अच्छे-अच्छे घर की लड़कियां भी चरित्र भ्रष्ट पाई जाने लगीं। अंग्रेज लेखकों ने भी इस बात का, समाज का काफी निरीक्षण करने के बाद, निर्देश किया है। उन्होंने जो "इंसेस्ट" शब्द का प्रयोग किया है उससे यह मतलब निकलता है कि बहुत बड़ी मर्यादा तक अनीति फैली हुई है। तो संघर्ष के बुरे परिणाम हुआ ही करते हैं। १९२०-२१ के आंदोलन के बाद लड़कों ने उद्दंड होना प्रारंभ किया। यह नेताओं पर कीचड़ उछालने का प्रयास नहीं है। परंतु संघर्ष के बाद उत्पन्न होने वाले ये अनिवार्य परिणाम है। बात इतनी ही है कि उन परिणामों को काबू में रखने के लिए हम ठीक व्यवस्था नहीं कर पाए। १९४२ के बाद तो कानून का विचार करने की ही आवश्यकता नहीं, ऐसा प्रायः लोग सोचने लगे। यह आंदोलन विशेष रूप से बिहार में खूब चला। आज हम देखते हैं कि गाड़ियां रोकना, सांकल खींचना, बिना टिकट प्रवास करना आदि बातें वहां आमतौर पर चलती हैं। रेलगाड़ियां आदि तो जनता की सम्पत्ति है ना। इसलिए शायद अपनी उस सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार उपयोग करना जनता ने शुरू किया। यह सारी अव्यवस्था और विचित्र दिखनेवाली परिस्थिति संघर्ष के कारण ही निर्माण हुई है। संघर्षकाल में योग्य समाज-धारणा के नियमों का पालन करने के भाव टूट जाते हैं और उसका फल ऐसी अवस्था के रूप में प्रकट होता है। हमें तो १९४६ से लेकर १९४९ तक लगातार तीन-चार साल संघर्ष में रहना पड़ा। उसके कारण अपनी भी रचना कुछ गड़बड़ा गई। अनेकविध घोषणाएं सामने आईं, अनेकविध विचार उत्पन्न हुए और नित्य कार्य का विस्मरण सा हो गया। इस परिस्थिति से अभी हम पूर्णतया मुक्त नहीं हुए थे कि चीन के आक्रमण की घटना को लेकर लोगों के मन में फिर से उथल-पुथल शुरू हो गई। यदि आक्रमण हुआ तो क्या करेंगे, यह सवाल पूछा जाने लगा। विवेकी, विचारवान और संयमशील कार्य के अंगभूत होते हुए भी हम अपने को ठीक मार्ग पर रख न पाए, यह कितने आश्चर्य की बात है। समाज के कार्य के लिए जिन्हें अपने मार्ग पर पूर्णतः अडिग रहने की आवश्यकता है वे ही डिग जायं, यह कार्य के लिए तथा अंततोगत्वा राष्ट्र के लिए अतीव हानिकारक सिद्ध होगा। केवल हानिकारक ही नहीं, तो अतीव दुःखदायक भी।

शायद मुझे कोई कहेगा कि बढ़ती हुई उम्र के कारण नए-नए प्रयोग करने का तुम्हारा साहस टूट चुका है, तो यह आरोप मुझे मान्य है। परंतु सोच-विचार के बाद जो जंचता है वह आपके सामने रखना आवश्यक ही है। अतः मुझे कहना पड़ता है कि नित्य कर्म के नाते

जो कार्य ग्रहण किया है उसमें अपना परिपूर्ण सामर्थ्य लगाना, अडिग श्रद्धा से उसे करते रहना इतना यदि हमसे हुआ तो फिर सब बातों का लाभ होगा। कोई कमी नहीं पड़ेगी। परंतु यदि इस मूल धारा की याने अपने कार्य की या राष्ट्र की नींव की ही उपेक्षा हमने की तो आने वाली पीढ़ी हमारा अभिनंदन नहीं करेगी। अतः अपने व्यक्त संकल्प के अनुसार कार्य का नितांत अनिवार्य स्वरूप विस्तीर्ण एवं परिपूर्ण करते हुए तथा धर्म, संस्कृति और समाज का उत्कट अभिमान हृदय में धारण करके अर्थात् उसके अनुसार अपने गुणों और व्यवहार में परिवर्तन करते हुए यदि हम कार्य करेंगे, तो अनेकविध संकटों से पार होने तथा सुखपूर्ण राष्ट्रजीवन प्रस्थापित करने की आशा और विश्वास अपने मन में निर्माण होगा। अन्यथा क्या होगा यह हम सोच सकते हैं। कार्य के बारे में यह सब चिंता का विचार मन में आने का कारण है। प्रवास में अनेक स्वयंसेवक मिलते हैं जिनका अंतःकरण विचलित दिखाई देता है। फिर मन में विचार आता है कि अपने कुछ कार्यकर्ता अनवधान से ऐसा कुछ बोल तो नहीं बैठते जिससे ऐसा वायुमंडल निर्माण होता है कि सिद्धांत हृदय से हिल जाय। इसलिए व्यथित अंतःकरण से यह बातें आग्रहपूर्वक कहनी पड़ी हैं।

कोई कहेगा यह काम कब पूर्ण होगा। पंद्रह वर्षों में विशिष्ट मर्यादा तक कार्य पहुंच जायगा, ऐसी डॉक्टरजी की अपेक्षा थी। संयोग से कार्य के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष के बाद ही उनकी मृत्यु हुई। आखिर-आखिर में उन्होंने कार्य की मर्यादा बताई और उसको पूर्ण करने के लिए तीन साल का समय दिया। उन्होंने बताया कि ग्रामीण क्षेत्र में जनसंख्या के अनुपात में एक प्रतिशत और नगर क्षेत्र में तीन प्रतिशत स्वयंसेवक होने चाहिएं। तरुण, विधिवत् प्रतिज्ञाबद्ध, गणवेषधारी, कार्य को जानने वाला, समझकर व्यवहार करनेवाला ऐसा हर स्वयंसेवक उनको अभिप्रेत था। लोग आज भी पूछते हैं, "कार्य कहां तक बढ़ायेंगे? वैसे तो समूचा समाज ही हमारा क्षेत्र है। लेकिन कुछ विशेष मर्यादा बताई जाय।" हमारी बुद्धि मर्यादित होने के कारण समग्र समाज का विचार करना असहनीय सा हो सकता है। छोटा सा दल बनाने की इच्छा भी निर्माण हो सकती है। दलबंदी करके समाज को नियंत्रित करने का जो विदेशों में कार्य चलता है उसका हम पर भी असर हो सकता है। यह परिणाम वास्तव में नहीं होना चाहिए। कारण, यह हमारे राष्ट्रजीवन के विपरीत है। समग्र समाज को समेटकर उसको एक अंतःकरण से ध्येय की ओर जाने के लिए आदर्श कार्यकर्ताओं का समूह की दृष्टि से ही हम अपने कार्य की ओर देखते हैं। कार्य सफल होने के लिए कार्यकर्ताओं का यह समूह कितना बड़ा होना चाहिए इसकी मर्यादा ही मानो उन्होंने निर्धारित की। फिर तीन वर्ष की ही मर्यादा क्यों दी? मैं ऐसा मानता हूं कि डॉक्टरजी को भविष्यदर्शी दृष्टि थी। यदि उसी समय उनके कथन के अनुसार देशभर में प्रयत्न होता तो १९४२ की उथल-पुथल में देश का भविष्य कुछ और ही बनता। लेकिन लोग समय का विचार नहीं करते।

अभी भी संकट की अवस्था है, और अपने सरकार्यवाह जी ने तीन वर्ष की मर्यादा फिर

से दी है। इस नई योजना के अनुसार कार्य की कितनी प्रगति करनी होगी, इसका गणित हम कर सकते हैं। लेकिन प्रतिज्ञा में हमने कहा है आजन्म—आमरणांत—संघ का कार्य करेंगे। यहां "एस्केपिज्म" (पलायन) के लिए गुंजाइश नहीं है। कार्यकर्ताओं को सोचना चाहिए कि राष्ट्र की अवस्था को देखते हुए उसकी प्रबल शक्ति कितने दिनों में ला सकते हैं? उसके उपरांत कार्य चलाना है या नहीं? तात्कालिक लक्ष्यपूर्ति होते ही विचारों और आचरण का त्याग कर देने से चलेगा क्या? सत्य तो यह है कि संघ-कार्य न अल्पकालिक है और न दीर्घकालिक। यह चिरकालिक कार्य है। संस्कार करने का यह महान् यंत्र वंश-परम्परा से चलाते जाना, आत्म-विस्मरण न होने देना, इसलिए आज के युग के अनुरूप संस्कारों की रचना संघ के रूप में विद्यमान है। पूर्वकाल के यज्ञयागादि के संस्कार टूट गए, अतः संघ द्वारा उन्हें इस प्रकार से चलाना है।

यह ठीक प्रकार से समझें कि अपना कार्य सामयिक समस्याओं को हल करने के लिए नहीं है। हिन्दू राष्ट्र को स्वतंत्र करने के बारे में जो उल्लेख प्रतिज्ञा में है (स्वतंत्रता पूर्व था—संपादक) उस संबंध में डॉक्टरजी कहते थे कि अंग्रेजों का यहां से चले जाना ही स्वतंत्रता का मतलब नहीं है। तो अपनी विशुद्ध परम्परा उज्ज्वल होकर जब यहां खड़ी होगी और अपना स्वत्वपूर्ण जीवन यहां अकुतोभय विराजमान होते हुए सारा जगत उसके सामने नम्र होगा तब यथार्थ स्वतंत्रता प्राप्त होगी। ऐसी ही स्वंतत्रता का उल्लेख प्रतिज्ञा में है। (था,—संपादक।)

तात्कालिक लक्ष्य और नारे तो रोज भिन्न-भिन्न प्रकार से सामने आते रहेंगे। उनके साथ हम रोज अपनी पद्धति आदि बदलते रहें क्या? यदि बदलते रहें तो बदलते-बदलते आखिर अपना क्या बनेगा? स्थायी लक्ष्य का विचार तथा कार्य की चिरकालिकता पर ध्यान केंद्रित कर दत्तचित्त होकर आगे बढ़ना होगा। कार्य के विस्तार की दृष्टि से आचरण करने के लिए डॉक्टरजी द्वारा बताई हुई मर्यादा तक कार्य का विस्तार करने का संकल्प करके हम चलें तो लाभ होगा। अपने सामने समय-समय पर जो समस्याएं खड़ी होती हैं, उनका उत्तर भी इसी में है। अपना यह हिन्दू समाज संगठित, समर्थ, जागृत, शुद्धभाव से परिपूर्ण और वैभवशाली जीवन के पुनर्निर्माण की प्रखर इच्छा लेकर चलने वाला है, ऐसा जब दिखेगा तो विच्छेद की अंतर्गत शक्तियां ढीली पड़ जायंगी और बाहर का शत्रु हतप्रभ हो जायगा। परंतु अपना संकल्प दृढ़ होना चाहिए। चित्त एकाग्र होना चाहिए। विचारों की उथल-पुथल में उसे शांत और अडिग रहना चाहिए तथा संकल्प के अनुसार दृढ़ता से आचरण होना चाहिए। यदि ये सारी बातें होती हैं तो हम वह सुखकारक दिन शीघ्र ही देख सकेंगे। अन्यथा गत हजार वर्षों में जैसे एक-एक आक्रामक आते रहे एवं तात्कालिक रूप से उनका प्रतिकार होता रहा, वैसा ही चलता रहेगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ३८-४४)

३१

परिपुष्ट संस्कार

इस राष्ट्र का गत हजार-पंद्रह सौ वर्षों में उध्वस्त-सा जीवन दिखाई देता है। यह जीवन उध्वस्त क्यों हुआ? इस विषय में इतिहास कौन सा मार्गदर्शन करता है? इतिहास का असंदिग्ध मार्गदर्शन यह है कि हम अपनी मौलिक एकता के संस्कारों और श्रद्धाओं को भूल गए, वे अनुभव में आना बंद हो गए। अतः सम्पूर्ण समाज को एकसूत्र में बद्ध रखने वाली चेतना व्यक्त होने से रुक गई, समाज छिन्न-विच्छिन्न याने शक्तिशून्य बन गया। जगत् में, यदि शक्ति न हो तो चलता नहीं। जिस समाज में शक्ति है उसी का जीवन अवाधित रूप से चलता है। हमारे केवल उज्ज्वल भूतकाल या श्रेष्ठ तत्वज्ञान की गाथाओं के आधार पर हमें समृद्ध, सम्पन्न और सम्मानित जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। शक्ति जितनी श्रेष्ठ होती है उतना ही जीवन भी श्रेष्ठ बनता है। मुझसे एक ने पूछा था कि अपनी मातृभूमि की सीमा कौन सी? मैंने मुष्टि उठाकर उत्तर दिया कि जितनी यह मजबूत रहेगी उतनी हमारी सीमाएं रहेंगी। सीमा तो बाहुबल से निर्धारित होती है। अपना बाहुबल कम होने के कारण सीमाओं का संकोच हम रोक नहीं पाए। निर्बल अवस्था में, यह संकोच देखना और तड़फड़ाना—जैसी स्थिति रही है। किन्तु जिनके मन में भावना ही नहीं होती, वे तड़फड़ाते भी नहीं। वे शून्य दृष्टि से परिस्थिति की ओर मुर्दे जैसे देखते हैं और अपने स्वार्थ में मग्न रहते हैं। मनुष्य में भाव-भावना रहती है इसलिए अपने किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु होने पर वह दुःखी होता है और उसे खाना-पीना भी सूझता नहीं। पशुओं में से यदि कोई मर गया तो वे उसको सूंघकर, वह मर गया ऐसा निश्चय कर, पास ही चरने लगते हैं। उसकी उनको कोई चिंता नहीं होती। यह शून्य दृष्टि और पशुभाव आज चारों ओर दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि गत १२०० वर्षों में सामर्थ्य का अभाव अत्यधिक मात्रा में हुआ है। अनुशासन टूट गया है और अवनति के मार्ग उसने खोल दिए हैं। यही

मार्गदर्शन इतिहास करता है। इससे हमको क्या सीखना चाहिए? यही कि हम अपने लुप्त संस्कारों को पुनः जागृत करें, उनको शुद्ध और दृढ़ बनाएं, उनके कारण जो एकात्मभाव उदित होता है उसको कार्यक्षम बनाएं और अपनी उत्कृष्ट भावनाओं के साथ समाज को कर्मशील बनने के लिए उसे अनुशासित करें, याने सरल शब्दों में हम समाज को संगठित बनाएं। अपना भाव व्यक्त करने के लिए समाज संगठन यह छोटा सा शब्द ही पर्याप्त है। जैसे, गीता तो काफी सरल है परंतु उसकी टीका, भाष्य, समझना कभी-कभी कठिन हो जाता है, वैसे ही डॉक्टरजी के शब्द तो अति सरल थे, परंतु कई बार उनकी की गई व्याख्या समझना कठिन मालूम हो सकता है।

इतिहास का यह निष्कर्ष समझकर हम समाज-संगठन का काम करें। संगठन के नाम से चलने वाले अनेक कार्य चारों ओर दिखाई देते हैं। वे सब कार्य "आर्गनाइजेशन" कहलाते हैं। कुछ नियमबद्ध जीवन चलाने की इच्छा से वे अपनी-अपनी व्यवस्थाएं भी बनाते हैं। परंतु कार्य की वे सब पद्धतियां हमने त्याज्य समझीं। कारण विशुद्ध संस्कारों को प्रस्थापित करने का लक्ष्य सामने नहीं है। वे सामयिक परिस्थिति को सामने रखकर आंदोलन, विक्षोभ तथा विध्वंस की प्रवृत्ति जगाने का कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार का कार्य करने में कोई कठिनाई नहीं होती। अपने यहां तो प्रारंभिक कक्षा से प्रारंभ करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि प्रारंभ से काम करना है तो कार्य की पद्धति उसके अनुकूल होना आवश्यक होता है। नियमित रूप से आवाह्न और स्मरण करने से ही संस्कार उत्पन्न होते और पक्के भी होते हैं। इसीलिए दिन-प्रतिदिन नियमपूर्वक कार्य आवश्यक है। इसी दृष्टि से शाखाएं बनीं। संघ-निर्माता को अन्य आंदोलन आदि के विषय में ज्ञान नहीं था, ऐसी बात नहीं थी। वे क्रांतिकारी रहे थे। सार्वजनिक काम उन्होंने किए थे। इतना ही नहीं तो, आंदोलन न करते हुए भी उसका आभास कैसे निर्माण करना तथा उसमें से इप्सित परिणाम कैसे निकालना यह भी वे जानते थे। उन दिनों जब कलकत्ता के नेशनल मेडिकल कालेज की परीक्षा को विश्वविद्यालय की मान्यता नहीं थी और वहां के विद्यार्थी परीक्षा के उपरांत व्यवसाय नहीं कर सकते थे तब उस कालेज की परीक्षा को मान्यता दिलाने के लिए डॉक्टरजी ने आंदोलन किया था। उस आंदोलन के सिलसिले में हुई अनेक सभाओं की लंबी-लंबी रिपोर्ट वृत्तपत्रों में नित्य छपती थीं। गवर्नर ने पुलिस कमिश्नर को आज्ञा दी कि यह आंदोलन बंद कराओ। बेचारे पुलिस दल ने सारे कलकत्ता में खोज की, लेकिन सभाओं का पता उनको कहीं मिला नहीं। किन्तु अखबारों में रिपोर्ट आती ही रही। गवर्नर बड़े चिंतित हुए। विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर श्री आसुतोष मुखर्जी सारी रिपोर्ट लेकर गवर्नर से मिलने के लिए गए। उन्होंने बताया कि बंगाल क्षुब्ध हो गया है, लोगों को शांत करो, नहीं तो "दे विल टर्न देमसेल्व्ज इनटू द कल्ट ऑफ बांब।" इसके बाद गवर्नर ने न चाहते हुए भी कालेज को मान्यता देने की सम्मति दी। इसका अर्थ यही कि शून्य में से भी आंदोलन करना यह डॉक्टरजी जानते थे। यह सब जानने और

करने के बाद भी उन्होंने अपने लिए समाज-संगठन का यह कार्य निर्माण किया।

संस्कार निर्माण करने के लिए ही हमारा यह काम है। इस दृष्टि से सोचें कि हमने अभी तक कितना काम किया है। कितना संस्कार पाया है। मुझे एक बार एक सज्जन ने कहा था कि संस्कार वगैरह बेकार बात है, यह केवल आत्मवंचना है। किसी भी आक्षेप को मैं बहुत जल्दी मान लेता हूं। आज भी यहां बैठे हुए लोगों को लगता होगा कि अब तक हमने क्या काम किया। स्थिति मन को समाधान देने योग्य नहीं है। हमने बहुत कुछ किया ऐसा दम्भ भी हममें नहीं चाहिए। परंतु वस्तुस्थिति क्या है? हमारे इस कार्य में से क्या किसी को कुछ संस्कार मिले ही नहीं। ऐसा कहने का साहस तो संघ का विरोधी भी नहीं करेगा। विरोधी लोग तो उलटा ही कहते हैं। वे बोलते हैं कि संघ में छोटे-छोटे बच्चों के भी दिमाग में कई बातें ठूंस-ठूंस कर भरी जाती हैं। स्वयंसेवकों द्वारा दिए गये उत्तर स्वाभाविकतः समान क्यों निकलते हैं? इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति संघ में आए, उन पर एक से संस्कार हुए, उनमें परिवर्तन हुआ और सूत्रबद्धता उत्पन्न हुई। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि यह सब संस्कारों का वास्तविक कार्य है।

लोगों को संस्कारित करने का यह कार्य अपेक्षा के अनुसार नहीं हुआ, यह बात ठीक है। लेकिन इसलिए अपने कार्य की रचना और पद्धति सदोष है, ऐसा विचार करना अनुचित होगा। यदि पद्धति ठीक प्रकार से उपयोग में न लाई तो दोष पद्धति का न होकर उपयोग करने वालों का होता है। हमें समझना चाहिए कि संस्कार अगर कम है तो दोष अपने में—उस संगठन को चलाने वालों में—देखना चाहिए। अपने ही कार्य करने में त्रुटि होगी, संस्कारों की ओर हम ठीक प्रकार से ध्यान नहीं देते होंगे, शाखा में केवल दक्ष-आरम किया और हो-हल्ला मचाया तो कार्य कर लिया, ऐसा संभ्रम हमको हो गया होगा, या ऐसे भी विचार दिमाग में चक्कर काटते होंगे जैसे विभिन्न राजनीतिक पक्षों के अपने-अपने स्वयंसेवक दल होते हैं वैसे ही यह भी एक दल है जिसका आगे चलकर उपयोग करने वाला कोई पक्ष याने स्वामी मिलेगा और उस मौके पर काम आने के लिए यह भीड़ इकट्ठी की जा रही है। इस प्रकार से संघ के यथार्थ स्वरूप से मेल न खाने वाली अनेकविध बातें हमारे मन में आती होंगी और उचित संस्कारों के निर्माण का कार्य रुक जाता होगा। यदि इस बात का विचार करें तो दिखेगा कि त्रुटि हमारे व्यवहार और समझने में ही है। यही कारण है कि परिपुष्ट संस्कार हमारी अपेक्षा के अनुसार होते नहीं। फिर भी यह तो स्पष्ट ही दिखाई देता है कि इस सारे त्रुटिपूर्ण व्यवहार के बाद भी ऐसे अनेक संस्कारित व्यक्ति मिलते हैं जो राष्ट्र की भावना जगाते हैं और स्वतः के जीवन की आवश्यकताओं को काटकर अधिकाधिक कार्य करने की प्रेरणा लेकर चलते हैं। ऐसे अनेक पढ़े और अपढ़ लोग देश भर में फैले दिखाई देते हैं कि जिनमें एकात्मकता ही कर्मशील प्रेरणा है और जिनके अंतःकरण पर राष्ट्रभक्ति का संस्कार बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान है। परंतु लोगों को संस्कारित करने का कार्य अधिक गतिमान, तेजस्वी और परिणामस्वरूप बनाना होगा, यही अपने लिए सही विचार है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ५३-५६)

३२

जागतिक दायित्व

हम दोनों हाथों से अमृत देने को तैयार हैं, परंतु कोई लेता नहीं, तो क्या हम हताश और हतबल होकर बैठे रहेंगे? नहीं, लेने के लिये बाध्य करेंगे। क्योंकि वह उनकी भलाई के लिए ही है। किन्तु हम यह समझ कर चलें कि भिन्न-भिन्न भौतिकवादी समूह जिस प्रकार अपना एक ही विचार सभी प्रकृति के लोगों में ठूंसकर भरते हुए उनका दिमाग खराब करने की चेष्टा करते हैं, उस प्रकार करने की कल्पना हमारी नहीं है। हमारी यह धारणा है कि प्रत्येक समाज को उसकी प्रकृति के अनुसार ही उन्नति, उत्कर्ष आदि की प्रेरणा देते हुए उस पर अन्तिम सत्य और सद्गुणों का सत्संस्कार ठीक प्रकार से करना चाहिए। परंतु इसके लिए प्रभुत्वसम्पन्न, शक्तिसंपन्न, सद्गुणों और सद्भावों से भरा हुआ, पारलौकिक ज्ञान एवं ऐहिक वैभव से युक्त राष्ट्रजीवन पहले अपने घर में तो हम निर्माण करें। उसके लिए अनादि परंपरा के संस्कारों से भरे हुए अनुशासनबद्ध सामर्थ्य का आविष्कार करने का प्रयत्न किसी भी परिस्थिति में न ऊबते हुए, न थकते हुए और न विचलित होते हुए, दिन-प्रतिदिन अविराम करते रहने की आवश्यकता स्पष्ट है। इसीलिए शाखा के बारे में अनेक प्रश्न सदा पूछे जाते हैं। शाखा में से संस्कारों का निर्माण करते हुए उसमें से स्वराष्ट्र का उत्कृष्ट अभिमान और सूत्रबद्ध सामर्थ्य की अभिव्यक्ति कितनी मात्रा में होती है, यही जानने की इच्छा रहती है।

और भी एक विचार करना है। अपने को जगत् में अपना दायित्व निभाना है, परंतु यह कठिन भी है। पूर्वकाल में महाबलसंपन्न, शस्त्रास्त्रसंपन्न और सत्तासंपन्न रावण के नाममात्र से देव-देवता कांपते थे। उसके पुत्र भी वैसे ही बलाढ्य थे। उस समय चारों ओर अत्याचार होते थे और धर्म उध्वस्त हो गया था। कहीं पर कोई आशा की किरण नहीं

दिखाई देती थी। मानो मनुष्य मनुष्य को चबाकर खा लेगा ऐसी भीषण परिस्थिति सर्वदूर दिखाई देती थी। उस समय लोगों के मन में उत्पन्न हुई भावनाओं तथा विचारों की कल्पना हम कर सकते हैं। परंतु उस हाहाकार के समय किसी प्रकार से भी विचलति न होते हुए, कृतनिश्चय होकर अनेकों मनीषी, विचारक और तपस्वियों ने गिरिकंदरों में आश्रम प्रस्थापित किए और संस्कार कहीं सर्वथा भ्रष्ट न हों और समाज के पुनरुत्थान का आधार बना रहे इस हेतु महान् आयोजन करने में वे जुट गए। स्वतंत्र और स्वाधीन जीवन की प्रेरणा देने का अनेक प्रकार से प्रयत्न वे करते रहे। फिर भी उनको अनेक बार देखना पड़ा कि आश्रम उध्वस्त किए जाते हैं तथा तपस्वियों का भक्षण करके राक्षसों द्वारा उनकी हड्डियों के ढेर चारों ओर लगा दिए जाते हैं। इस आतंकमय परिस्थिति का बहुत वर्णन पढ़ने को मिलता है। राक्षस वृत्ति और अपने यहां की दैवी संपदा का लंबा संघर्ष कितने वर्ष चलता रहा, भगवान् ही जानें। परंतु यह स्पष्ट दिखता है कि उस संघर्षकाल में कई वर्ष तो अतीव शांति से केवल विशुद्ध संस्कारों की जागृति और सामर्थ्य की निर्मिति का ही काम चलता रहा। उस समय महाराजा जनक सरीखे बड़े-बड़े लोगों ने शस्त्र मानो डाल दिए थे। उन्होंने देखा कि समय अनुकूल नहीं है। अपना अल्प सामर्थ्य महाप्रतापी राक्षसों के सामने खड़ा करने से समाज का संरक्षण तो होगा नहीं, किन्तु अपना अस्तित्व भी नष्ट हो जायगा। इसलिए संयम और शांति से वे काम करते रहे और अंततोगत्वा ऋषियों द्वारा की गई जागृति के कारण बहुत लम्बी कालावधि के बाद प्रभु रामचंद्र जी का जन्म हुआ और उन्होंने शत्रु का विनाश किया। एक सत्वगुण-संपन्न धर्माधिष्ठित शक्ति की स्थापना हुई और सुख-समृद्धि-संपन्न जीवन निर्माण हुआ यह हम इतिहास में देखते हैं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन खण्ड ४, पृ० ५८-६०)

२२

संभाव्य संकटों का एकमेव उत्तर

आक्रमण की स्थिति से चिंतातुर और व्यथित नहीं होना चाहिए। देश में प्रचार द्वारा जोश निर्माण करके और विक्षुब्ध भावना लोगों में फैलाकर हम आक्रमण को रोक सकेंगे यह बात बिलकुल मिथ्या है। आक्रमण को रोकने के संबंध में एक दूसरे से संलग्न ऐसे दो विचार हैं। एक, अपने राष्ट्र के विशुद्ध लक्ष्य की अंतःकरण में स्वाभिमानयुक्त जागृति और दूसरा, उसकी पूर्ति के लिए संस्कारयुक्त प्रचंड शक्ति प्रस्थापित करेंगे ही करेंगे, यह भाव। इसके बिना अन्य मार्ग नहीं है। बाकी सब मार्ग शक्ति को तितर-बितर करने वाले हैं। क्षोभ, आंदोलन आदि मार्ग से संकट का मुकाबला किया और मानो संकट तात्कालिक रूप से रुक भी गया, तो भी उस कारण जीवन परंपरा विश्रृंखल हो जायगी, राष्ट्रजीवन का कुछ स्मरण नहीं रहेगा और वैसी छिन्न-विच्छिन्न अवस्था में नए आक्रमणों की आशंका बनी रहेगी। अतएव यह स्पष्ट है कि अपना जो मार्ग है उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग वास्तव में है ही नहीं।

यह विश्वास लेकर चलें कि नियति के कारण आक्रमण आया तो अपनी स्थिति के ही कारण उसको भंग करके जगत् को—जो महान भौतिक याने दानवी आक्रमण के नीचे दबा पड़ा है—मुक्त करने का ईश्वरीय आदेश हमको है। यह कार्य हम नित्य करते आए हैं और जिस-जिस समय अधर्म का प्राबल्य हुआ तब-तब हमने ही उसका नाश करके धर्म का अभ्युत्थान किया। अब भी जगत् का अस्तित्व जब तक विद्यमान है, तब-तक यह कार्य करते रहेंगे। उसमें कष्ट सहना पड़े, मानो सर्वस्व नष्ट हो गया है, ऐसे प्रसंग अनुभव करना पड़े, तो भी उसमें से उत्थान करके, ज्वाला के अंदर से फिर एक बार [illegible]कर जगत् में अपना निर्धारित श्रेष्ठ कर्तव्य पूरा करके ही रहेंगे।

इसलिए प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष में क्या करें? मैं कहूंगा कि शाखाओं को चलाओ, जरा अच्छी चलाओ, उनका विस्तार करो और दृढ़तापूर्वक यह काम करो, ''पेनिकी'' बनकर मत करो। अपनी समस्त भावना, मन और बुद्धि कम्पायमान होते हुए दौड़-धूप करने से लाभ नहीं होता। आप निश्चित रूप से समझें कि आने वाली सब प्रकार की परिस्थिति में शाखा ही संभाव्य संकटों का सबसे बड़ा उत्तर है। शाखा में उत्पन्न संस्कार और अभिव्यक्त संगठित शक्ति ही सब प्रकार के संकट छाती पर झेलकर चलने की क्षमता हममें निर्माण करेगी। अतः हम इस काम को करें। जितना शीघ्र हो सकता है उतना शीघ्र करें। आज की परिस्थिति में हम शाखा अच्छी प्रकार चला सकते हैं, उसको दृढ़ करने के संस्कार भी कर सकते हैं। परंतु परिस्थिति न बताकर आती है और न कहकर बदलती ही है। द्वितीय महायुद्ध के समय हमारे कार्यक्रम में बाधा निर्माण हो गई। लोग बोलते हैं कि और दो साल के बाद दूसरा युद्ध होने वाला है। युद्ध हो गया। अब फिर से विपरीत परिस्थिति निर्माण होने की संभावना है। उसके पूर्व हमको अपने कार्य का इतना देशव्यापी ढांचा बनाकर रखना चाहिए कि केवल एक जगह सोकर, एक दूसरे को देखकर संगठन करने की पात्रता हममें आ सके। डॉक्टरजी कहते थे कि यदि हम अन्य कोई कार्यक्रम नहीं कर सकते तो केवल एक जगह-सोकर भी हमारा कार्य चल सकता है। विपरीत परिस्थिति में भी कार्य करने, संगठित शक्ति कायम रखने, लोगों को संघ में प्रविष्ट करके उनको संस्कारित करने का काम सदैव चलता ही रहेगा, ऐसी अवस्था निर्माण करना है। अपने सब व्यवहारों में से संघ प्रकट होगा तो इसके कारण सब काम करते हुए भी संघ ही चलायेंगे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। परंतु आज शाखा के द्वारा द्रुतगति से अपने कार्य का प्रसार करके गुण-संपन्न व्यक्तियों का निर्माण करके एक संगठित शक्ति अतिशीघ्र बना लेना चाहिए। आने वाले दिनों में हमारी परीक्षा हो ही जायेगी। इस परीक्षा में हमें सफल होना ही है।

इसलिए दौर्बल्य न आने देते हुए, ''पैनिकी'' न बनते हुए, हो-हल्ला न मचाते हुए, अपनी पद्धति का पालन करते हुए अति शीघ्र, दृढ़ एवं विस्तृत कार्य हमें खड़ा करना चाहिए। शाखाओं में दृढ़-शक्ति भरते हुए हमें ऐसी अवस्था निर्माण करनी है कि यदि किसी परिस्थितिवशात् हम अपने कार्यक्रमों का कम-अधिक मात्रा में उपयोग न कर सकें, तो भी संगठन बढ़ता ही रहेगा और हमारे सब व्यवहारों में से हम समाज में शक्ति भरने का और संस्कारों को जागृत करने का कार्य करते ही रहेंगे, और इस प्रकार जो संकट आना संभव है उसका निरसन करने का सफल आयोजन हम कर सकेंगे। यह सारी अवस्था तब आ सकती है जब हम अनुशासन के पवित्र संस्कार करने वाली और संगठित शक्ति जगाने वाली हमारी शाखा का कार्य अडिग विश्वास के साथ करते रहें। इस विश्वास से काम करने वाले असंख्य लोग कंधे से कंधा मिलाकर और सूत्रबद्ध अनुशासन के साथ खड़े करने के लिए हमें अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ेगी।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ६१-६३)

३४

मनःशांति

जैन ग्रंथों में एक बड़ा रोचक तथा उद्‌बोधक किस्सा आता है। एक बार श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकी घूमने के लिए गए हुए थे। घूमते-घूमते रात हो जाने के कारण जंगल में एक पेड़ के नीचे आराम करने के लिए रुक गए। उन्होंने आपस में तय किया कि उनमें से प्रत्येक बारी-बारी से दो घंटे तक पहरा दे। सबसे पहले सात्यकी ने पहरा देना प्रारंभ किया। एक ब्रह्मराक्षस पेड़ पर से नीचे उतर आया और कहने लगा—"मैं तुझे खा जाऊंगा।" सात्यकी को बड़ा क्रोध आया। वह उस ब्रह्मराक्षस के साथ लड़ने लगा। लड़ते समय जैसे-जैसे सात्यकी का क्रोध बढ़ता गया, वैसे-वैसे वह ब्रह्मराक्षस अधिक विशालकाय बनता गया। सात्यकी ने लड़ते-लड़ते जैसे-तैसे दो घंटे निभाकर निर्णय के अनुसार बलराम को जगा दिया। बलराम के उठते ही ब्रह्मराक्षस गायब हो गया। सात्यकी के सोते ही वह फिर प्रगट होकर बलराम से उसी प्रकार कहने लगा। बलराम को अपनी शक्ति पर बड़ा गर्व था। उसने विक्षुब्ध होकर राक्षस का मुकाबला किया। परंतु सात्यकी जैसा ही बलराम को भी अनुभव हुआ। अंत में श्रीकृष्ण की बारी आई। वह ब्रह्मराक्षस श्रीकृष्ण के सामने खड़ा होकर उनको भी ललकारने लगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने शांति नहीं छोड़ी। उसको दूर ले जाकर बड़ी शांति और प्रेम के साथ उससे बात करने लगे। दो घंटे तक वे उस राक्षस के साथ बड़ी शांति से खेलते-विनोद करते रहे, परिणामस्वरूप वह राक्षस छोटा और छोटा बनता गया और आखिर में श्रीकृष्ण ने उसको अपने उत्तरीय में एक कीड़े के समान बांधकर रख दिया।

इस किस्से का बोध यही है कि जिसमें मन की शांति होती है वह अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य का उपयोग करके शत्रु की शक्ति का क्षय करता है। हमको भी अपने मन की शांति

निश्चल रखकर दृढ़ता से कार्य करने और इस व्यवहार से प्रतिपक्षी को आहत करने की आवश्यकता है। हमने अपनी बुद्धि का संतुलन रखा, हृदय शांत रखा और अपनी कार्य-पद्धति में दृढ़ श्रद्धा रखते हुए शाखाओं की प्रस्थापना का कार्य तन, मन, धन लगाकर करने का प्रयत्न किया तो सब परिस्थिति में समाज का संगठित बल खड़ा करके आने वाले संकटों को परास्त करने का विश्वास हम समाज को दे सकेंगे।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ६४-६५)

* * * *

हम क्या करें, यह प्रश्न सबके सामने आता है। इसका विचार करते समय मन में अनेक प्रकार की भावनाओं का तुमूल युद्ध शुरू हो जाता है। किसी को लगता है कि यहां पर चलने वाले शासन को ही उथल-पुथल कर दें, और कोई सोचता है शासन में विशेष अच्छे व्यक्ति दिखते नहीं, इसलिए उन्हें हटा दिया जाय। यह सब विकृत विचार है। अतीव हानिकारक, अतएव त्याज्य। विचारी पुरुषों को यह कभी शोभा नहीं देता। यह उत्तेजना का परिणाम है। उसके पीछे शायद भावना होगी, शायद सद्भावना भी होगी; परंतु उत्तेजना से शांतिपूर्वक विचार करने की शक्ति नष्ट हो गई है, यह स्पष्ट है। आज की इस स्थिति में हम अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य को छोड़ दें, दक्ष-आरम से क्या होने वाला है, आदि विचार भी अपने मन में आते हैं। किन्तु हमें सोचना होगा कि घर में असाधारण स्थिति आने पर खाना-पीना, निद्रा और चिंता चाहे छूट जाय, परंतु जो दृढ़ और निश्चयी व्यक्ति होते हैं वे अपनी पूजा और उपासना किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ते। लोकमान्य तिलक के जीवन का एक उदाहरण है। एक बार उनका पुत्र बीमार पड़ गया। वे उसकी देखभाल करते हुए भी अपने पत्र का सम्पादन करते रहे। एक दिन, जब वे अपना संपादकीय लिख रहे थे, उनके पास बीमार पुत्र की स्थिति बिगड़ने का समाचार मिला। उन्होंने उत्तर दिया, ''मैं काम पूरा करके आता हूं, तब तक डॉक्टर को बुलाओ, दवाई तो वही देगा।'' अपना काम करके जब वह घर पहुंचे उस समय पुत्र अपनी देह छोड़ चुका था। उन्होंने अत्यंत शांतचित्त से उसका दाह-संस्कार किया। यह थी उनके चित्त की स्थिति और ध्येय की दृढ़ता।

हम भी विचार करें कि सब परिस्थितियों में अत्यंत दृढ़तापूर्वक निभानेवाली कोई बात हमारे सम्मुख है या नहीं। संघ-कार्य का यही उत्तर मिलेगा कि अनुशासन के साथ चलनेवाला, दैनंदिन शाखा का जो कार्य है, उसको पूर्ण निश्चय से निभाना चाहिए। सम्पूर्ण अंतःकरण की शक्ति उसमें डालकर उसे निभाना चाहिए। यदि कोई उथल-पुथल होती है तो उसका परिणाम अपने व्यक्तिगत जीवन पर न हो। हम निर्णय करें कि जब उद्योग-धंधे इत्यादि करने के लिए अधिक अवकाश नहीं, जब जीवन के आनन्द और शौक के लिए गुंजाइश नहीं, अपने सुख, वैभव का विचार हम फिर कभी करेंगे। ऐसा

समझें कि हमारी संस्कृति में वैभव और ऐषो-आराम को कोई स्थान नहीं। हमारे सभी देवता वैभवयुक्त हैं। यहां तक कि, व्याघ्रांबर धारण करने वाले शंकर भी सभी रत्नों के भंडार हिमनग के ऊपर आसीन हैं। परंतु समय को देखकर इन बातों से मुंह मोड़ना पड़ता है। जब चारों ओर से संकटों के बादल घिर रहे हों, उस समय लक्ष्मी-सेवित शेषशायी भगवान विष्णु का जीवन सम्मुख रखकर चलना उचित नहीं है। उस समय तो सब कुछ पैरों तले दबाकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति का आवाहन करते हुए, समग्र विषमताओं को भस्म करने के लिए खड़े दिगम्बर शंकर का ही चित्र अपने सामने रखना उचित होगा। अब ऐश, आराम यह सब नगण्य हो गए हैं, ऐसा सोचकर जीवन की जो न्यूनतम आवश्यकताएं हैं उनका विचार करके शेष सम्पूर्ण शक्ति और समय संघ के कार्य में लगेगा यही निश्चय करें। वैयक्तिक जीवन की कुछ अव्यवस्था करके भी, संघकार्य की सुव्यवस्था को दृढ़ करने का ही अपना संकल्प होना चाहिए।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ७१-७२)

हमें देश के ऊपर संकट लाने वाली विपरीत शक्तियों से घबराने की आवश्यकता नहीं। मैंने तो कई बार कहा है कि विश्व में ऐसे जितने विपरीत विचार हैं उनकी कब्र भारत में ही खुदेगी। अधर्म का उच्छेद करने के लिए यह संघ रूप भगवद् अवतार फिर से एक बार इस जगत् में हुआ है। यह मेरा विश्वास है, मेरी श्रद्धा है। भगवान कभी व्यक्ति के रूप में, तो कभी संघ रूप में प्रकट होते हैं। यह कलियुग है, इसमें संघ में ही शक्ति है। अतः शक्तिस्वरूप भगवान संघ रूप में ही प्रकट होंगे। वह स्वरूप हमारे सामने विद्यमान है। जैसे बाल्यकाल में श्रीकृष्ण को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, किन्तु उन सबका सामना करते हुए वे बढ़ते ही गए और अंत में उनके द्वारा वह शक्ति प्रकट हुई, जिसने बड़े-बड़े दुष्ट सत्ताधारियों का भी केश पकड़ कर उन्हें सिंहासन के नीचे उतार दिया, उसी प्रकार अवतारी कार्यों में दुष्टता का विनाश करने की शक्ति प्रादुर्भूत होती है। इस महान शक्ति के अवयव रूप हम लोग अपने स्थान पर अपने कार्य को पूर्णरूप से करने का दृढ़ संकल्प करके, उसकी पवित्रता, सुचिता, दृढ़ता, सामर्थ्य, तपस्विता आदि सब गुणों को अपने अंदर लाकर अपने-अपने स्थान के कार्य को पूर्ण रूप से करते हुए यही सोचें कि आने वाले अधर्म रूप समस्त संकट को ध्वंस करने का दायित्व अपने ही भाग्य में लिखा हुआ है। अखिल जगत् को मानव बनाने का महत्कार्य अपने को ही करना है। ईश्वर का यही संदेश है, उसका हमारे लिए यही आदेश है।

इसे पूर्ण करने के लिए हम अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन में उचित परिवर्तन करके महान् संघकार्य का निर्माण करने के लिए कटिबद्ध होकर चलें। इसमें उथल-पुथल न होने पाए। संघबद्ध जीवन बराबर चलता रहे तथा मन की किसी भी व्यथा का उस पर अन्यथा परिणाम न होने देते हुए हम चलें तो बेड़ा पार हो जायेगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ७६)

३५

अमरत्व का मार्ग

सातों रंगों के सम्मिश्रण से जैसे शुभ्र प्रकाश निर्माण होता है, वैसे ही खान-पान, भाषा, वेष-भूषा आदि की विविधता से हमारा जीवन एकात्म रूप से प्रकाशित हुआ है। इसी का नाम भावात्मक एकता है। यह एकता सौदेबाजी से निर्माण नहीं होती। भावात्मक एकता की आधारशिला है, अंतःकरण में समान भावनाओं की विद्यमानता। गहन चिंतन और निकट संपर्क से ही इस भावना की अनुभूति संभव है। सबको यह अनुभूति हो सके इसी दृष्टि से संघकार्य की रचना की गई है। विविधता में एकता का दर्शन कराने वाली संघ की कार्यप्रणाली बेजोड़ है। दैनिक शाखा के कार्यक्रम में व्यक्ति रम जाता है और उसके अंतःकरण में एकता के भाव जाग उठते हैं।

आज देश में अनेक कार्य चल रहे हैं। दादा भाई नौरोजी, महात्मा गांधी और पंडित नेहरू जैसे जगत् विख्यात लोगों ने जिस संस्था को सींचा, उसमें पंथभेद और भाषाभेद के आधार पर गुटबंदिया दिखाई देती हैं। इस बड़ी संस्था का अनुसरण करनेवाले अन्य दलों में भी गुटबंदी का दुर्गुण चरम सीमा तक पहुंचा हुआ है। ऐसा लगता है मानो इन संस्थाओं में दुर्गुण संपन्न होने की होड़ सी लगी है। बड़े-बड़े नेता भावात्मक एकता निर्माण करने के लिए योजनाएं बना रहे हैं, पर विच्छिन्नता की शक्ति तांडव नृत्य कर रही है। एक प्रकार से विभेदकारी प्रवृत्तियों की सहायता से हारी हुई लड़ाई को वे जीतने का प्रयास कर रहे हैं।

डॉक्टर साहब के सहवास में रहने वाले लोगों को कभी भी यह अनुभव नहीं होता था कि डॉक्टर साहब कोई असामान्य पुरुष हैं। किन्तु संघ की कार्यपद्धति के निर्माण में उनका असामान्यत्व प्रकट हुआ है। अपढ़ से लेकर बड़े-बड़े विद्वान तक सब एकत्र आते हैं, परंतु हम भिन्न हैं यह किसी को स्मरण भी नहीं होता, ऐसी यह कार्यपद्धति है। खेल-कूद करना,

शारीरिक व्यायाम करना, गीत गाना, परस्पर एक दूसरे की सहायता करना, एक दूसरे के सुख-दुःख की चिंता करना, दैनिक कार्यक्रमों का स्वरूप है। इस अत्यंत सरल एवं सुगम दैनिक कार्यपद्धति से शरीर, मन और बुद्धि एक ही दिशा में कार्य करने लगती है। इसमें से राष्ट्रभक्ति और मातृभक्ति का आविर्भाव होता है और वह संपूर्ण समाज में व्याप्त होती है। यह कार्य जितना कठिन है, डॉक्टर साहब द्वारा निर्मित कार्यपद्धति उतनी ही सुगम है। इसी में उनकी अलौकिकता प्रकट हुई है। प्राचीनकाल में भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव मात्र के लिए सरलतापूर्वक आचरण करने योग्य ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग दिखलाया था। अर्वाचीनकाल में परमेश्वर का साक्षात्कार करने का सुगम और सरल मार्ग भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस ने दिखलाया। और आज के युग में राष्ट्र स्वरूप परमेश्वर के साथ तादात्म्य उत्पन्न करने का अति सरल मार्ग पूजनीय डॉक्टर साहब ने दिखलाया है। यह मार्ग सरल होते हुए भी, राष्ट्र को अमरत्व प्रदान करने वाला है। डॉक्टर साहब की अलौकिकता भी इसी में निहित है कि उनके द्वारा निर्मित कार्य राष्ट्र को अमरता प्रदान करने वाला है। लोगों को उनका जीवन अति सामान्य-सा लगता था। आज भी संपूर्ण समाज को उनकी अलौकिकता का ज्ञान नहीं है, पर कालांतर में सम्पूर्ण जगत् को उनकी अलौकिकता का अनुभव होगा, इसमें तिलमात्र भी संदेह नहीं।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ८१-८२)

* * * *

स्वराष्ट्र के अभ्युदय के लिए डॉक्टर साहब के द्वारा किए गए मार्गदर्शन का हमें स्मरण करना चाहिए। आज की स्थिति में उस मार्गदर्शन की अतीव आवश्यकता है। उन्होंने कार्य के अनुकूल एक अत्यंत सरल पद्धति हमें उपलब्ध कराई है। सम्पूर्ण राष्ट्र के रोग का निदान कर उन्होंने यह भी बता दिया कि उसका क्या उपचार करना चाहिए। उन्होंने बताया कि असंगठित अवस्था, आत्मविस्मृति, परस्पर एक दूसरे के विषय में स्नेह का अभाव ही आज का मुख्य रोग है। उसे दूर करने के लिए सुसंगठित और एकात्म-राष्ट्रस्वरूप का साक्षात्कार करके जागृत जीवन प्रस्थापित करना होगा। रोग मुक्ति का उपाय बताकर उन्होंने शाखा के रूप में तदनुरूप काम का स्वरूप भी सबके सामने रखा। संगठित, एकात्म, प्रबल राष्ट्रजीवन निर्माण करने का यही एकमेव उपाय है और एकांतिक निष्ठा से उसी का अवलम्बन कर हम राष्ट्र-अभ्युदय के लिए समाज की संगठित शक्ति खड़ी कर सकेंगे। ऐसा करते समय अपने चारों ओर चलने वाले कार्यों का आकर्षण होना अस्वाभाविक नहीं है। जुलूस, सम्मेलन, सभा आदि की हलचल जहां रहती है, वहां मन में कुछ गुदगुदी सी उठ सकती है। उस कार्यपद्धति में मान-सम्मान प्राप्त होने के कारण अपने में से भी कुछ लोगों के मन में उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न होकर, स्वयं भी उस अखाड़े में उतर कर दंगल में भाग लेने की इच्छा होती है। मन में इस प्रकार की इच्छा

उत्पन्न होते ही, इस प्रकार के कार्य से राष्ट्र का हित होगा, इस बात के समर्थन में बुद्धि अनेक तर्क प्रस्तुत करती है। उलटे-सीधे दोनों ही पक्षों के समर्थन में तर्क करने में बुद्धि सदैव सक्षम रहती है। चुनावकाल में एक सज्जन ने मुझसे कहा कि "चुनाव और राजनीति ही समाज व राष्ट्र की सेवा करने का श्रेष्ठ मार्ग है।" मैंने उनसे कहा चुनाव और राजनीति को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग मानना उचित नहीं होगा। इंग्लैंड आदि देशों में, जहां पर अभिजात देशभक्ति की परंपरा चली आ रही है, वहां ये सब बातें शोभा देती हैं। अपने यहां तो राष्ट्रभक्ति की भावना कुछ थोड़े से लोगों तक सीमित है और उनमें भी ऐसे लोग हैं जो मान और पद की लालसा से राष्ट्र-कार्य में संलग्न हैं। एक बार जब डॉक्टर साहब के सम्मुख एक सज्जन का परिचय "देशभक्त" कहकर कराया गया,तो उन्हें वह अच्छा नहीं लगा। किसी एक को देशभक्त कहकर उसका परिचय कराने का अर्थ यही होता है कि बाकी के लोग देशभक्त नहीं हैं। वास्तविक रूप से यह बात ठीक नहीं कि किसी भी देश में कुछ ही लोग देशभक्त हों और शेष देशभक्ति की भावना से शून्य रहे। देश का प्रत्येक नागरिक स्वभावत: देशभक्त होना ही चाहिए। देशभक्त कहकर अलग से उसका परिचय करा देने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। किसी व्यक्ति का परिचय कराते समय हम यह नहीं कहते कि यह "मनुष्य" है। कारण, सर्वसामान्य व्यक्ति के ही समान उसे आंख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि रहते हैं। पूंछ या सींग जैसे कोई अलग अवयव उसे नहीं होते। उस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत: ही देशभक्त होना चाहिए यह मान्यता होने के कारण, उसके देशभक्त होने का अलग से परिचय कराने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। जिस समाज में जन्म से ही प्राप्त संस्कारों के कारण अभिजात देशभक्ति की भावना व्यक्ति के अंत:करण में अंकुरित होती है, सम्वर्धित होती है, घर का काम छोड़कर राष्ट्र के लिए अपना सब कुछ अर्पण करने की वृत्ति रहती है और उसका एक सूत्रबद्ध जीवन होता है, उस समाज में चुनाव, राजनीति आदि बातें समाज का सुख-सौंदर्य वृद्धिगत करने में कारणीभूत होती है। जिस प्रकार बलिष्ठ शरीर पर ही वस्त्रालंकार आदि शोभायमान होते हैं, जिसमें हाथ-पैर लकड़ी के समान सूख गए हैं ऐसे शरीर पर वह शोभा नहीं पाते अथवा जिस प्रकार कोई रोगग्रस्त शरीर पकवान नहीं पचा सकता, उसके लिए जैसे बलिष्ठ, निरोग शरीर आवश्यक होता है, उसी प्रकार शक्तिशाली, निरोग, पुष्ट राष्ट्रजीवन हो तो ही चुनाव या राजनीति सदृश आवरण शोभा पाते हैं, उनके कारण उस राष्ट्र का सुख-सौंदर्य बढ़ता है, वे सब उनके लिए उपकारक सिद्ध होते हैं।

व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में मातृभूमि की भक्ति जगाकर और उस सूत्र में संपूर्ण समाज को आबद्ध कर, समाज का संगठित सामर्थ्य निर्माण करने का मूलभूत कार्य डॉक्टर साहब ने हमारे सामने रखा है और इसी कार्यार्थ हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगानी चाहिए। शाखाओं के द्वारा समाज में एकात्म जीवन निर्माण करने की पद्धति का पूर्णत: अवलंबन कर, इस कार्य की सिद्धि के लिए हम अपना सम्पूर्ण सामर्थ्य दांव पर लगा देंगे, ऐसा दृढ़ निश्चय हृदय में धारण करना चाहिए।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृ० ८५-८७)

३६

तत्व और व्यवहार

अपने कार्य से, अपना क्या संबंध है, क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना, उसमें कार्य करने वाले अन्यान्य बंधुओं से कैसा भाव रखना, निष्ठा का किस मात्रा में अपने अंत:करण में प्रकटीकरण करना इत्यादि बातों का हम विचार करेंगे। व्यवहार का जो पहलू अपने सामने आता है उसमें अपने संघ के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में रहने वाले सहस्रावधि स्वयंसेवकों के साथ हमें कुछ व्यवहार करना है, इसका उपदेश न करते हुए विचार करना ही उचित होगा, यह मैं समझता हूं। कारण यह है कि अपने बहुतांश बंधुओं ने संघ-कार्य की वृद्धि का प्रयास किया है और वे इस संबंध में आवश्यक जानकारी रखते हैं।

पहली बात जो हम सोचते हैं, वह यह कि जो कार्य हमें करना है, वह है अपने बंधुओं को कार्य में संलग्न करते हुए उन्हें एक सूत्र में गूंथना, तत्पश्चात् अपने कर्त्तव्य का ज्ञान उनमें उत्पन्न करना, जिससे कार्य करने की पात्रता एक अद्वितीय गुण के रूप में प्रकट हो। इस विषय का विश्लेषण यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। क्योंकि जिस-जिस के साथ अपना संपर्क आता है या आयेगा उसके संबंध में स्वतंत्र रूप से विचार करके आवश्यक व्यवहार हो, यह कठिन कार्य है। उस व्यक्ति को कार्य में उसका स्थान प्राप्त कराने का एक पहलू भी अपने सामने है। इसलिए उसको समझने का प्रयास करेंगे तो अच्छा होगा। अपने समाज के लोगों में तेजस्वी संगठन तथा प्रखर राष्ट्रभाव का ज्ञान योग्य रूप में नहीं है, यह भाव अपने हृदय में धारण करके केवल हम चलते हैं। यह भाव अपने मन में क्यों उत्पन्न होता है? इसलिए. कि एक स्वार्थहीन जीवन बिताने की सिद्धता हमने प्रकट की है और बाकी का समाज ऐसा हीन जीवन व्यतीत कर रहा है, मानो उसके अंत:करण की श्रेष्ठता लुप्त हो गई है। ये विचार हमारे मन में स्वभावत: प्रगट, अप्रकट

रूप में स्वयं के बारे में एक धन्यता का भाव उत्पन्न करते हैं। मेरी अपनी दृष्टि में यह भाव पूर्णतः अनुचित है। उदाहरण के लिए मैं अपना एक उदाहरण बताता हूं। नागपुर में भिन्न-भिन्न उत्सवों में कोई न कोई अच्छे व्यक्ति अध्यक्ष के रूप में आएं, ऐसा मैं लोगों को बताता रहता हूं। भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग आएं और वहां अध्यक्षपद ग्रहण करें, ऐसी इच्छा रहती है। इसीलिए मैंने अपने मित्रों से कहा कि अच्छे अध्यक्ष दो। परंतु उनको कोई अच्छा आदमी नहीं दिखता। क्यों नहीं दिखता? इसलिए कि उनके चारों ओर जो लोग हैं उनकी योग्यता कम है, ऐसा उनके मन का विचार हो जाता है और इसलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नागपुर जैसी शाखा की अध्यक्षता करने के उपयुक्त व्यक्ति मानों कोई है ही नहीं। इस प्रकार की धारणा जब कभी मुझे दिखाई दी तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अपनी दृष्टि जरा बहुत "बड़ी" हो गई है। बहुत बड़ी दृष्टि हो जाने के कारण योग्य व्यक्ति दिखता नहीं। जो कुछ योग्यता दुनिया में थी, वह सब अपने पास आ गई है और बाकी सब निकम्मे, निरुपयोगी व्यक्ति ही चारों ओर फैले हैं, चाहे वह कितने ही शास्त्रों में पारंगत, विद्वान क्यों न हों, अपने को उनकी विद्वत्ता से क्या लेना है, यह भावना अपने मन में उत्पन्न हो गई है। उस समय जिन-जिन स्थानों पर बातचीत करने का मौका आया मैंने अपने बंधुओं से कहा कि ऐसा सोचना अपने लिए योग्य नहीं, अपितु अयोग्य है। यदि यह सोचा कि समाज के बाकी सब लोग अयोग्य हैं तो फिर कार्य कहां करेंगे? कैसे और किस प्रकार से कार्य हो सकेगा?

अपने अंदर के अनंत गुण अपने सम्मुख होने के बाद भी, आसपास वालों में भी गुण हो सकते हैं, श्रेष्ठता हो सकती है, वे अच्छे हैं और उनको भी अपनाना है, यह भावना अपने हृदय में न रही तो कार्य कैसे होगा? यह समझना कि भगवान ने सम्पूर्ण अंधकार दुनिया के अंदर रखा और जो कुछ थोड़ा बहुत प्रकाश इस सृष्टि में था वह हमारे लिए बच गया, उचित नहीं है। सबके पास कुछ न कुछ विद्वत्ता है। अपने पूर्वज खुद को आर्य कहते थे, श्रेष्ठ कहते थे और दुनिया भर को "म्लेच्छ" कहते थे, परंतु यह सब होने के बाद भी अपने बड़े-बड़े ऋषियों ने कहा कि म्लेच्छों को भी भगवान के दर्शन हो सकते हैं। याने इतनी आदर की भावना सबके प्रति थी। अपना स्वाभिमान ने छोड़ते हुए सबको अपनाकर रखने का गुण अपने सब व्यक्तियों ने प्रकट किया है हमें यह नहीं भूलना चाहिए। जिस कार्य को हम राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान का, धर्म की पुनः संस्थापना का, राष्ट्र को फिर से दैदीप्यमान स्वरूप प्रदान करने का कार्य कहते हैं, उस कार्य में अपने मन की भावना क्या है? क्या वह अपनी प्राचीन परंपरा के अनुकूल है? उस परंपरा में सबके प्रति आदर, सबको शुद्ध स्नेह से देख सकने की क्षमता, सबके हृदय में उदात्त भावना जागृत करते हुए उनके प्रति मन में घृणा, निंदा या अपमान की भावना न रखते हुए, इतना ही नहीं तो, उनके हृदय में भी अपने कार्य के बारे में श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हुए और स्वयं के बारे में भी कोई हीनता का भाव न रखते हुए व्यवहार करने की अपने को शिक्षा है, यह बात हमें [illegible]

ध्यान में रखें।

संघ-कार्य को स्वतंत्र रूप से अपने सामने रखने का मार्ग योग्य होने के कारण, व्यक्ति का उदाहरण देना ठीक नहीं; परंतु व्यक्ति विशेष का उल्लेख करना ही पड़ता है। इतने बड़े संगठन की धारणा जिस महान् व्यक्ति के कारण हुई उस पुरुष की महत्ता का हम अनुमान लगा सकते हैं। उनकी महत्ता के बारे में किंचित् भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है। ऐसे व्यक्ति का जब हम विचार करते हैं तो मन में यही भाव उत्पन्न होता है कि सबका सत्कार करें। यहां मैं अपना एक अनुभव बताता हूं। यह उस समय की बात है जबकि संघ की जानकारी, बुद्धिमत्ता और उसके लिए परिश्रम की दृष्टि से अनेक स्वयंसेवकों की अपेक्षा मेरी योग्यता बहुत कम थी और ऐसी कम से कम योग्यता रखने के पश्चात् भी मुझे भलीभांति याद है कि उन्होंने मेरे साथ इतने आदर से व्यवहार किया कि मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरे अंदर कुछ न कुछ बड़प्पन तो अवश्य होगा। इतना आदर क्यों? किसलिए? यहां तक कि उनका कोई काम करने की जरूरत पड़े तो वे मुझे नहीं करने देते थे। उनके हृदय में इस प्रकार की भावना थी कि सबका सत्कार, सम्मान करना चाहिए। कई बार अनेक छोटे-छोटे व्यक्ति उनके पास आते थे। उनके साथ भी आदर के साथ बात करने की प्रवृत्ति उनमें विद्यमान थी। कभी-कभी मन में विचार भी आता था कि साधारण लोगों के साथ इतना आदर का व्यवहार क्यों? हमारी दृष्टि से यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे सम्पूर्ण नम्रता प्राप्त न हो, सबका आदर करने की पात्रता न हो, तो भी यह ध्यान रखना जरूरी है कि अपने चारों ओर रहने वाले अन्य व्यक्तियों में भी गुण हैं, वे भी श्रेष्ठ कर्तव्य कर सकते हैं। उनके साथ अपना संबंध आदर का, प्रेम का, परस्पर अनुकूलता का रहना चाहिए। अपने हृदय में अहंकार की भावना रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा प्रसंग अनेक बार आता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोगों द्वारा राष्ट्र विरोधी विचार प्रगट होते हैं, उस समय उन पर प्रतिप्रहार करना ही पड़ता है तथा टीका-टिप्पणी भी हो ही जाती है। परंतु ऐसा करने में उनके अन्यान्य गुणों का, जो उनमें हैं, हम लोगों को यथोचित मात्रा में सत्कार करना चाहिए। मेरा आग्रह है कि अवश्यमेव करना चाहिए। उनमें भी बड़प्पन है, अच्छाई है, इसका ध्यान रखकर चलना आवश्यक है। अपने मन के अंदर स्वयं के बारे में जो एक धन्यता की भावना उत्पन्न होती है, वह भावना ही बाकी के जगत् की ओर हीन दृष्टि से देखने के लिए अपने को प्रेरित करती है। हम सर्वज्ञ हो गए हैं, सम्पूर्ण कर्तृत्व अपने पास है, इत्यादि प्रकार के विकारों को हम छोड़ें।

हम अपने हृदय को टटोलकर देखें तो दिखाई देगा कि जिस स्थान पर हम कार्य करते थे, उससे हटकर जरा छोटा कार्य करने को दे दिया तो अपने मन की अवस्था क्या होगी? हृदय की स्थिति कैसी होगी? जिस प्रकार से हम आज व्यवहार करते हैं उससे दिखाई देता है कि यदि किसी ने हमको ऐसी बात कही तो कैसा लगेगा? ठीक लगेगा कि नहीं इसका जरा

विचार करके तो देखें। विचार करने और हृदय टटोलने पर ऐसा दिखाई देगा कि अपने मन के अहंभाव को, अपने स्थान से नीचे के स्थान में जाने में चोट पहुंचती है और यदि उससे ऊपर जाकर कार्य करने को कहा तो सुख होता है। ऐसा अनुभव न करने वाले भी कार्यकर्ता हैं, यह मैं जानता हूं और इसलिए अपने मन में ऐसा दुर्भाव पैदा होगा ही यह मैं नहीं कहता। किंतु होगा ही नहीं, या हुआ ही नहीं, या आज न होने की पात्रता अपने में उत्पन्न हो गई है, यह अहंकार भी अपने मन में रखना उचित नहीं। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस साल कार्य करने वाले बड़े-बड़े लोगों को भी यदि देखा तो उनमें भी कभी न कभी ऐसा भाव आ ही जाता है, ऐसा अपना अनेक बार का अनुभव है। अहंकार के कारण अपने स्थान से ऊंचा या नींचा होने से सुख या दुःख हुआ, ऐसा मैंने देखा है। इस प्रकार का अनुभव होने के कारण ही मैं कहता हूं कि हमें विचार करना चाहिए कि कहीं अपने मन में तो ऐसी भावना नहीं है। हममें कभी भी ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए। सबका सत्कार करते हुए, सबके गुणों की, उनमें जो-जो अच्छाई हो, उसकी वृद्धि करने के लिए जो-जो प्रयत्न आवश्यक हों वह स्वयं हम करें और दोष दिखाई दे तो उन दोषों को, सबके सामने प्रदर्शित न करते हुए अत्यंत चतुराई, बुद्धि और परस्पर आर्द्रता एवं स्नेह के व्यवहार से ढक कर, धीरे-धीरे नष्ट कर दें। इस प्रकार अपना प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करने से ही वे सब गुण जिनसे हम अपने संगठन की अन्यान्य सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं, जिनकी हमें जरूरत है, इस एक ही गुण से प्रकट हो जायेंगे, यह मेरा विश्वास है। उन सब गुणों को प्रगट करने की शक्ति इसी एक व्यवहार में है। इस एक ही गुण का आग्रहपूर्वक अवलम्ब करने से हमारी और हमारे पड़ोसियों की सब प्रेरणाओं की शक्ति हमारे इस व्यवहार के कारण अपने कार्य में प्रकट होगी।

अब इसका एक दूसरा विरोधी पहलू भी है, जिसका हमें विचार करना चाहिए। मनुष्य के अहंकार और आत्मविश्वास में पहचान करना कई बार बड़ा कठिन होता है। एकाध कार्यकर्ता यदि अपनी वाणी को कुशलता से उपयोग में न लाए और रूखे शब्दों का व्यवहार करे तो उसके बारे में भ्रम होना स्वाभाविक है। भ्रम किस बारे में, तो उसके कर्तृत्व और कर्तव्य के बारे में। रूखा होते हए भी उसके कर्तृत्व में किञ्चित् भी कमी नहीं होती। यह समझकर ऐसी परिस्थिति में अपने कार्यकर्ताओं को विवेक से काम लेना होगा। ऐसे उदाहरण जरूर मिलेंगे जिनका अतीव आत्मविश्वास दूसरों को अहंकार सा लगता है। यद्यपि वास्तव में वह होता नहीं। यहां तक कि उसमें अभिमान का लेश भी नहीं होता। ऐसे भी कार्यकर्ता हैं जो बड़े विश्वास के साथ बोलते हैं और उस पर अडिग रहते हैं, आग्रह रखते हैं और अन्यों को उसके अनुसार बाध्य करने की प्रवृत्ति भी उनमें रहती है, किंतु अभिमान का कण तक उनमें नहीं होता। याने वे स्वाभिमानी होते हैं, अहंकारी नहीं। उनके पास यदि कुछ रहता है तो आत्मविश्वास। यहीं पर विवेक करने में कठिनाई होती है। परस्पर विरोधी ये दो गुण उनमें रहते हैं। लेकिन हमें देखना पड़ता है कि

आत्मविश्वास अपने अंदर रखते हुए अभिमान को स्थान न मिल पाए। नहीं तो कभी-कभी आत्मविश्वास कहते-कहते अभिमान के शिकार बन जाने की संभावना रहती है। दूसरी ओर अहंकार उत्पन्न न होने पाए इस फेर में अपने आत्मविश्वास तक को खोकर संदेहपूर्ण हृदय के कारण कुछ भी न करने की पात्रता अपने हृदय में लाना भी उतना ही अनुचित है। इन दोनों आपत्तियों से बचकर चलने की आवश्यकता है। व्यवहार की दृष्टि से इसमें बहुत कठिनाई का अनुभव होगा। बोलने में यह बड़ा आसान है। यदि ऐसा न होता तो मैं बोलता ही नहीं। संघकार्य को योग्य रूप में चलाने की दृष्टि से इस एक गुण पर अपना ध्यान केंद्रीभूत होना चाहिए। यह कठिन होते हुए भी हमें इसका व्यवहार करना ही होगा।

अपना कार्य ठीक है, उचित है, उसके तत्व में किसी प्रकार की संदेहात्मक स्थिति का प्रश्न नहीं है, हम इस आत्मविश्वास से लोगों से बोलें। प्रत्येक को इस कार्य को अपनाना पड़ेगा, ऐसा विश्वास रखकर ही चलना होगा। परंतु अपने मन में ऐसी कोई दुर्भावना कि केवल अपने ही लोग अच्छे हैं, और इसलिए बाकी लोगों से बात करना, अपने लिए अपमान की बात है, उत्पन्न न होने दें। अब इस भावना का पोषण कैसे होगा? इसके लिए नियम बनाना सरल-सुलभ है। साधारण रीति से विचार करें तो दिखाई देगा कि भूतकाल में अनेक लोग पैदा हुए हैं, जिनके अंदर कितने ही गुण थे, जिन्होंने कितना ज्ञान और पौरुष प्रकट किया, कितने पराक्रम किए और किस प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी अपने ध्येय को सामने रखकर भिन्न-भिन्न प्रकार की आपत्तियां झेलीं, मार्ग में अनेकों व्यामोह और आकर्षण उत्पन्न हुए तो भी वे अपने लक्ष्य पर अग्रसर होते रहे, तो स्पष्ट हो जायेगा कि अहंकार करने लायक हमारे पास कुछ भी नहीं है। ऐसी उज्ज्वल परम्परा का आधार अपने पीछे है। इतने ऊंचे प्रकार की श्रेष्ठता, जिसकी तुलना में अपना जीवन नगण्य सा है, होने के बाद भी, क्या हममें अभिमान करने लायक कुछ है? हम लोग क्या उतने बड़े हैं? उतनी बुद्धिमत्ता क्या अपने पास है? एक शंकराचार्य को ही लें। दुनिया भर के विद्वानों ने कहा कि संपूर्ण सृष्टि के रहस्य को समझने में आज तक विज्ञान ने जितनी प्रगति की है, उस सबको जोड़कर एक अन्तिम सिद्धांत के रूप में सृष्टि की संपूर्ण समस्या का जो हल अपने सामने रखा है, वह शंकराचार्य के द्वारा रखे हुए ज्ञान का अंशमात्र है। यही कहना पड़ता है कि जिस बुद्धिमत्ता के सामने दूसरा कोई कदम नहीं रख सकता, इतना संपूर्ण ज्ञान का निचोड़ निकालकर उन्होंने रखा, जिसे आज नहीं तो कल विश्व को ग्रहण करना ही पड़ेगा। इस सबका साक्षात्कार शंकराचार्य ने किस प्रकार किया होगा, किस प्रकार उसे रखा होगा। बिलकुल सादे युक्तिवाद से कैसे सिद्ध किया होगा, कहां से यह सारी स्फूर्ति आई होगी आदि सभी बातें उनकी छोटी-सी उम्र वाले मामूली जीवन में (संपूर्ण जीवन ३२ साल में पूरा हो गया) कैसे आई होंगी, यह देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। उनके इस विशाल ज्ञान को देखकर मन में विचार आता है कि इस महासागर की बूंद के बराबर भी

क्या अपने पास कुछ है? नहीं, कुछ भी नहीं। फिर अभिमान काहे का? उनके बराबर काम क्या हम कर सकते हैं? जबकि आने-जाने के साधन नहीं, मार्ग में अनेक प्रकार के संकट थे और कोई साथी नहीं। मार्ग में बड़े-बड़े जंगल थे, जिनमें श्वापद व श्वापदों से भी क्रूर मानव आदि इधर-उधर रहते थे। तब अपने पैरों पर चलता हुआ एक बालक निकलकर संपूर्ण भारत की परिक्रमा करके, कश्मीर में क्या, असम में क्या, सब दूर घूमकर चारों ओर से पूर्णरूपेण टूटे-फूटे और धर्मच्युत समाज को एक बार पुनः अपने मूल अधिष्ठान पर लाकर खड़ा करता है। इस परिश्रम का हम अपने जीवन में विचार करें। एक छोटी सी अवस्था में हम उसे प्रकट कर सकते हैं क्या? अपने पास चलने को मोटर है, गाड़ी है। एक से दूसरे स्थान पर जाने के लिए हवाई जहाज है, अपना सब कारोबार चल सकता है। उस मनुष्य के पास न खाना था, न कपड़ा, भिक्षा मांगते घूमता था। इस प्रकार की स्थिति में चलकर सारा जीवन व्यतीत किया और एक आश्चर्य कर डाला। एक संपूर्ण राष्ट्र को, जो अपने अधिष्ठान एवं धर्म से गिर गया था, सब प्रकार के मिथ्याचार, अनाचार व आडम्बर से उठाकर एक बार पुनः अविचल नींव पर खड़ा कर दिया, वह भी एक व्यक्ति ने, केवल ३२ साल की अवस्था में किया। जरा विचार करना चाहिए कि यह कैसे किया? उसकी तुलना में हम क्या हैं? उसने कैसा जीवन व्यतीत किया और फिर क्या कर डाला? हमारे राष्ट्र की परंपरा में यह अनन्यतम व्यक्ति एक दैदीप्यमान सूर्य के समान है, तो हम उसके प्रकाश को परावृत्त करने वाले रेत के कण के समान जरूर हो सकते हैं। उसी परंपरा में हम उत्पन्न हुए, यह आत्मविश्वास हम अपने अंदर जागृत करें। इस आत्मविश्वास से प्रेरणा लेकर ही हम कुछ न कुछ प्रकाश प्रकट कर सकेंगें। मन में अभिमान धारण करने की गुंजाइश है ही नहीं। यहां हम देखें कि कितना भव्य चरित्र एवं आत्मविश्वासयुक्त व्यक्ति अपने यहां उत्पन्न हुआ, जिसने कहा कि वैदिक धर्म को छोड़ने वाले सब लोगों को मेरे शिष्य केवल शंख बजाकर ही, जहां तक उस शंख की ध्वनि पहुंचेगी, अनुयायी बना लेंगे। यह आत्मविश्वास यदि न होता तो वे एक-एक से होम, हवन यज्ञादि करवाते या एक-एक को तीर्थों का जल पिलाते? उनका कितना आत्मविश्वास था कि सब लोगों ने उनकी बात मानी। इस प्रकार के विश्वास की अदम्य भावना अपने अंतःकरण में उत्पन्न होगी तो फिर से वे लोग अपने अधिष्ठान पर वापस आयेंगे और अपनी बुद्धि और तपश्चर्या से "वे हमारी बात मानेंगे ही"। उनका आत्मविश्वास यदि देखें तो लगेगा कि हमने कुछ भी तो नहीं किया। अपना जीवन अपने सामने है। ४०-४०, ५०-५० साल की उम्र होती आई। एक पैर श्मशान में है, तो भी अभी अपने जीवन की साधना पूर्ण नहीं हुई है। ऐसा देखने के पश्चात् अपने श्रेष्ठ पुरुषों ने, दीप स्तंभ के रूप में खड़े होकर, जो मार्गदर्शन किया और किस प्रकार से आदर्श उत्पन्न करना चाहिए इसके उदाहरण स्वरूप उनका प्रत्यक्ष चरितार्थ किया हुआ जीवन देखकर, इसी परंपरा का भाव अपने अंदर भी अवश्यमेव प्रकट हो सकता है, यह एक दृढ़ धारणा हममें उत्पन्न होनी चाहिए। उनकी महानता की तुलना

अपना नगण्य-सा जीवन होने के कारण उनकी ओर देखकर व्यवहार में नम्रता का भाव जाग्रत करें।

अपनी परंपरा की ओर दृष्टि रखकर और श्रेष्ठ पुरुषों को आंखों के सामने रखते हुए, अपने जीवन में कैसा व्यवहार करें, कैसे सबको ठीक प्रकार से अपनाएं, किस प्रकार सबको सत्कार की भावना से देखें, इसका ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने से अपने जीवन में सुधार हो सकेगा। इसकी हमें नितांत आवश्यकता है। इस प्रकार हम अपने हृदय में यह भाव धारण करके चलेंगे तो उसमें से दूसरा आवश्यक गुण भी हमें प्राप्त होगा। हम जिस समाज को संगठित करने के लिए चले हैं, उस समाज के सब लोगों के प्रति सम्मान रखने के प्रयत्न का ठीक प्रकार से यदि ज्ञान प्राप्त हुआ, तो अपने अंदर "ऊंचा-नीचा" भाव रहेगा ही नहीं। अपनी दृष्टि से सब अपने समाज के अंग-प्रत्यंग हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं और वे सब समाज की रक्षा के लिए एकरूप होकर खड़े होते हैं; उन सबके प्रति समान प्रेम, व्यवहार, आचार और मित्रता का व्यवहार अकृत्रिम रूप से करना चाहिए। क्योंकि कृत्रिमता से संघकार्य नहीं चल सकता। क्या करूं, मुझे इसे तो संघ में लाना ही है, ऐसा समझकर नहीं, अपितु स्वभावतः अपने मन में परिवर्तन करके उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करना पड़ेगा। क्योंकि सम्पूर्ण समाज परमात्मा के शरीर का अंग-प्रत्यंग है, परमात्मा के बारे में ऊंच-नीच नहीं हो सकती। वहां तो अपना समाज-शरीर शुद्ध ही रहेगा और शुद्धता भी इस प्रकार की कि उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग पूज्य हैं, सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं। उसके चरणों पर यदि सूखा पत्ता भी गिर गया तो उसे हम माथे चढ़ाते हैं। प्रत्यक्ष चलता-फिरता, बोलता-चालता परमात्मा का रूप अपना समाज है। यह सब प्रकार से श्रेष्ठ है, यह कहने की क्या आवश्यकता पड़ेगी? श्रेष्ठ भावना रखना नितांत आवश्यक है। इसको छोड़कर अपने द्वारा कार्य नहीं होगा। सबके प्रति शुद्ध समान आदर और अपने हृदय में समान रूप से शुद्ध भाव, अकृत्रिम रूप से (जबरदस्ती से नहीं) यह भाव फैलाना होगा। व्यक्ति तो नगण्य है, पर क्या करें, संगठन कहता है इसलिए उसके प्रति यह भाव रखना आवश्यक है, इस प्रकार के भाव से अपने हाथ से काम नहीं होगा।

काफी पुरानी बात है, शायद सन् २८-२९ की होगी कि मैं मद्रास गया था। वहां "प्रेसिडेंसी कालेज" में मेरे परिचय के एक शिक्षक पढ़ाते थे। उनसे मिलने गया। वे अपने "प्रिंसिपल" के एक पत्र का उत्तर दे रहे थे। मैं भी वहीं था। पत्र के अंत में उन्होंने—जैसी कि पद्धति थी "युवर मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट" लिखा और मुझसे कहने लगे, "लुक आय उड लाइक टू किक दिस मैन यट आय हॅव टु राइट मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट", तो मैंने उनसे कहा, "इफ यू रियली वांट टू किक, देन व्हाय डोंट यू?" जो लगता है वह भावना न लेकर "युवर मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट" लिखने की जरूरत से कोई मतलब नहीं। इस प्रकार के भाव मन में लेकर व्यवहार नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार से हमें [illegible] अंत:करण में [illegible] भाव रखकर कि यह बड़ा पापी है, पतित है, अपने लिए हृदय में बड़प्पन एवं अहंकार का

भाव रखकर नहीं चलना चाहिए। अपितु प्रत्येक को अपनाने की भावना लेकर चलना चाहिए। "स्पिरिट ऑफ इगो" से संघ का काम नहीं हो सकता। किसी को नगण्य मानने वाली अहंकारी भावना से कम से कम संघ का कार्य नहीं हो सकता। अतः इस भावना से दूर हटकर सबका सत्कार करने की भावना मन में चाहिए। मान लिया कोई पापी भी है, तो हममें कौन ऐसी शुद्धता आ गई कि हम दूसरों को पापी कहें। जरा हृदय टटोलकर स्वयं को देखें। सबकी अच्छाई देखने एवं सत्कार करने का गुण ही सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक के गुण-दोषों का विवेचन करके, उसकी अच्छाई की वृद्धि का प्रयत्न करें एवं अपने प्रयत्न से उसके सारे दोषों पर विजय पाकर उत्कृष्ट जीवन निर्माण करें। अच्छाई देखने का गुण बहुत अच्छा है। यह केवल व्यवहार दक्षता के लिए ही नहीं चाहिए कि हमें तो अमुक व्यक्ति के साथ संघ का काम करना है, अतः उसके गुण-दोषों की परीक्षा करके ही तदनुसार व्यवहार करना चाहिए। मैं व्यवहार नहीं जानता, तत्व ही जानता हूं ऐसा भी कहना उचित नहीं। तत्व व्यवहार में लाना आवश्यक है। तत्व कहता है कि व्यक्ति के समस्त गुण-दोषों को जानकर भी उसके गुणों का सत्कार करना चाहिए और दोषों को अपने श्रेष्ठत्व के प्रभाव से नष्ट करना चाहिए। उसके अंदर की अच्छाई को इतना जागृत करना चाहिए कि वह उसकी बुराई को भी दबा सके। उसकी अच्छाई को प्रोत्साहन देकर उसे वृद्धिगत कर एवं दोषों का दुर्लक्ष से हनन करके उसका विकास करें। यही अपना कर्तव्य है और यही तत्व भी है। मेरा तो यही विचार है कि तत्व के अनुसार व्यवहार करना चाहिए न कि व्यवहार के अनुसार तत्व को मरोड़ना चाहिए।

जो तत्व व्यवहार में नहीं आता उसे तत्व ही नहीं मान सकते। क्योंकि जो व्यवहार में नहीं है उस तत्व की पतंग उड़ाने से क्या लाभ। तत्व व्यवहार में आना ही चाहिए। अपने पूर्वजों का इस पर बड़ा आग्रह था। उन्होंने कहा कि "ब्रह्म सत्यम् जगत्मिथ्या" इस तत्व का यदि मरने के बाद ही अनुभव होता है तो उसका अनुभव हम नहीं करेंगे। इस जीवन में जीते-जागते नित्य-प्रति के व्यवहार में यदि उसकी अनुभूति आती है तब तो वह सत्य, अन्यथा ग्रहण करने के योग्य नहीं है। इसलिए उन्होंने कहा कि मरने के बाद मिलने वाले स्वर्ग पर अपना विश्वास नहीं है। वह है या नहीं, कौन जाने। जिस बैंक का नाम सुना ही नहीं उसकी हुंडी नहीं चाहिए। हमें तो इसी जीवन में स्वर्ग का भी अनुभव चाहिए। "तुरंत दान महा कल्याण", के आधार पर जिस तत्व का अन्वेषण किया, उसका व्यवहार किया। यही अपने यहां की परंपरा है। तत्व व्यवहार में आना चाहिए और उसके कारण व्यवहार परिवर्तित होना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करके हम कहते हैं कि यदि तत्व ठीक है तो उसके अनुसार व्यवहार करो। व्यवहार के लिए तत्व को मरोड़ना नहीं, तत्व के साथ व्यवहार का तद्रूप होना आवश्यक है। इसी बात को लेकर तत्व को व्यवहार में लाते-लाते हम इतना सुधार कर पाए हैं, इतना अच्छा वायुमण्डल बना पाए हैं, जिसकी कुछ झलक हमें अपने कार्यक्रमों में दिखाई देती है। आज देश में सर्वत्र एक भाषा-भाषी दूसरे

भाषा-भाषी से बात करते समय उसकी ओर सौहार्द्र की दृष्टि से नहीं देखता। परंतु अपने यहां भिन्न भाषी स्वयंसेवक एकत्र होने के बाद भी एक दूसरे के बारे में हीन विचार नहीं रखते। हमने अपने तत्व में कहा कि संपूर्ण हिन्दू समाज हमारा है, एक है और उसी तत्व के अनुसार हमने अपने व्यवहार को मोड़कर जो भव्य स्वरूप प्राप्त किया है, उस स्वरूप में यह दिखाई देता है कि किसी भी भाषा-भाषी की हम अवहेलना नहीं करते।

हम यह सोचकर चलें कि हम भी संपूर्ण समाज के साथ एक समान स्तर पर हैं। उसके गुणावगुण हममें भी हैं। हां, ईश्वर की कृपा से हमने एक श्रेष्ठ कार्य का साक्षात्कार किया है, अतः हम अपने सभी बंधुओं के गुणों का वर्धन करेंगे। यह भी विश्वास लेकर चलें कि अपने अंतःकरण के प्रेम एवं आदर के भाव तथा अपने जीवन की वर्धमान शुद्धता से उनके अवगुणों को समूल नष्ट कर देंगे। हमारे व्यवहार का यही नियम है, अन्यथा अहंकार से विकृति उत्पन्न हो कर कार्य करने का गुण नष्ट हो जायेगा और सफलता नहीं मिलेगी। वातावरण एवं परिस्थिति के कारण कभी सफलता का आभास भले ही दिखाई दे, किन्तु उसका स्थायी भाव तो हमारी योग्य गुणयुक्त कार्यक्षमता पर ही निर्भर है। इस महान् कार्य के हम निमित्त हैं। किन्तु इस निमित्त की योग्यता भी तो हमें प्राप्त करनी होगी। श्रेष्ठ संगीतज्ञ के हाथ में अच्छा उपकरण हो तभी शुद्ध संगीत निकलेगा। हम भी निरहंकार युक्त योग्य निमित्त के रूप में आगे आयें, जिसमें कोई छेड़े तो आत्मविश्वास के साथ सुस्वर बोलने की योग्यता, पात्रता उत्पन्न हो। हमें तो भगवान कृष्ण का आदर्श अपने सम्मुख चाहिए। हमें विदित है भीष्म, द्रोणाचार्य जैसे वयोवृद्ध आदरणीय महापुरुषों ने एक स्वर से कृष्ण जैसे श्रेष्ठ पुरुष को अग्रपूजा में बैठाने का आग्रह किया, परंतु उस अग्रपूजा का मान प्राप्त करने की पात्रता होने पर भी उन्होंने युधिष्ठिर को राजा बनाया और साष्टांग प्रणाम किया। यह पात्रता हमारे अंदर आती है कि नहीं इसका हम विचार करें। दुनिया के सब लोगों को बड़ा करेंगे, अपने कंधों को पुष्ट, दृढ़, अविचल रखकर सबको अपने कंधों पर खड़ा करेंगे और यही धारणा रखेंगे कि मैं समाज का सेवक हूं। मैं अपने समाज—परमात्मा के पैर पकड़ूंगा और सबकी सेवा करूंगा, यही मेरा धर्म है, कर्तव्य है। इसलिए न मेरा ऊंचा स्थान है और न नीचा। मेरा सबसे बड़ा स्थान एक ही है कि स्वयंसेवक के रूप में मनसा, वाचा, कर्मणा, समाज सेवा करता रहूं, दूसरी कोई बात मेरे लिए नहीं है। इस प्रकार की शुद्ध भावना को अपने हृदय में निर्माण करते हुए रहना चाहिए। दुनिया का कोई मोह अपने को विचलित नहीं कर सकेगा, कार्य से नहीं हटा सकेगा, प्रेरणा में कभी कमी नहीं होगी, मन में केवल अपने कार्य के संबंध में अभिमान रखकर और अन्य सब अभिमान दूर करके कार्य में पूर्ण जीवन को समर्पित कर देंगे, तो फिर रुपया पैसा, औरत-बच्चे आदि का भी मोह आ नहीं सकता। वास्तव में ये सांसारिक चीजें तो अभिमान के बच्चे हैं। अहंकार और अपनेपन की भावना के कारण ही ये सब उत्पन्न होते हैं, परंतु जिसने अपने को कार्य में लीन कर दिया, कार्य का विश्वास मन में,

हृदय में धारण कर लिया, कार्य के अतिरिक्त सब विचारों को दूर कर मन को एकाग्रचित्त बनाकर जिसने अपने अंतःकरण में अहंभाव को जागृत नहीं होने दिया, उसको छोटे-छोटे व्यामोह कभी भी स्पर्श नहीं कर सकेंगे। उसका जीवन ध्येयार्पण ही रहेगा, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। यही महान् गुण अंतःकरण की सब शुद्ध भावनाओं को जागृत रखने वाला, जीवन के अंत तक कार्य को निभाने का सामर्थ्य देने वाला है। अतः ये दोनों महान् गुण—प्रथम अपने अंदर अभिमान का लेश न हो और दूसरा अत्यंत प्रखरता से जागृत आत्मविश्वास ही—वास्तविक श्रेष्ठ गुण हैं। इन्हीं गुणों को अपने अंतःकरण में अधिकाधिक मात्रा में, सब प्रकार का चिंतन करके, उत्पन्न करें। हृदय में सब प्रकार की दुष्टता एवं विपरीतता को दूर करके संघ के स्वयंसेवक को शोभा देने वाला यह श्रेष्ठ गुण हम ग्रहण करें, यही मेरा विचार है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ११-२०)

३७

कार्यपद्धति का हेतु

एक साधारण प्रश्न कई बार अपने मन में उठता है कि अंतर्राष्ट्रीयता आदि की इतनी ऊंची-ऊंची बातें करने के पश्चात् केवल कबड्डी और दक्ष-आरम से क्या होगा? यदि युद्ध में खड़ा होना पड़ा तो बंदूकों के सामने लाठी से क्या होगा? हम विचार करें कि क्या बंदूकें लड़ती हैं? नहीं, बंदूकों के पीछे जो मनुष्य रहता है उसका सामर्थ्य लड़ता है, बंदूकें नहीं लड़तीं। यदि मनुष्य का सामर्थ्य योग्य रूप में रहा तो हाथ भर की लकड़ी क्या, निःशस्त्र प्रजा भी सफलता पाने की पात्रता रखती है। चारों ओर यही अनुभव है। इस अनुभव को आंखों के सामने से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इसी बात पर अपना आग्रह है। अतः कार्य-विस्तार की आवश्यकता होने एवं उसके अतिरिक्त कोई निष्कर्ष न होने के कारण, इस मार्ग पर अविचल बुद्धि से आगे बढ़ना चाहिए। आगे चलते समय अधूरेपन से काम नहीं चलेगा। अपने सम्पूर्ण जीवन, सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण शक्ति, भावना एवं बुद्धि का पूर्ण समर्पण करके ही हम यह कार्य कर सकते हैं। इसीलिए कार्य की रचना भी उसी प्रकार से की गई है।

दैनिक कार्य में हम इकट्ठा आते हैं। सब कार्यक्रम करते हैं। मन, बुद्धि और शरीर तीनों को संतोष प्राप्त हो सके, एवं अधिकाधिक उत्साह बढ़ सके, इसी प्रकार के कार्यक्रम बनाने चाहिए। एक उदाहरण देता हूं। भगवान् की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। मनुष्य से कहा कि तुम भगवान् की प्राप्ति करो। यदि उन मार्गों में उसका मन नहीं लगता तो विचार करना पड़ता है कि कैसे उसके मन का भाव जागृत हो। भगवान के प्रति कैसे श्रद्धा उत्पन्न हो? किस प्रकार से अंतःकरण की एकाग्रता हो? इसके लिए कहा गया कि यदि मन नहीं लगता तो अपनी रुचि के अनुसार शारीरिक क्रिया करो। मूर्तिसेवा, प्रार्थना, भजन, याचना आदि

भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक कार्यों से अंतःकरण की सद्भावनाओं को जागृत किया जा सकता है। यदि कोई पूजा कर सकता है तो उसे कहो कि विग्रह सामने रखो, फूल लाओ, पानी लाओ, आरती करो, धूप जलाओ, स्तोत्र गाओ अर्थात् शरीर को अभ्यास कराते-कराते निश्चित समय के अंदर शेष सब बातें हृदय से हटाकर, उसे उस एक क्रिया में लगाकर शरीर की ऐसी अवस्था उत्पन्न करो कि उस समय शरीर वही कार्य करता रहे। इस प्रकार शरीर को धीरे-धीरे उसका अभ्यास कराने से धीरे-धीरे मन के अंदर के भाव जागृत होते हैं और फिर हृदय के अंदर जैसी अनुभूति चाहिए, प्रेरणा चाहिए, वह भी प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से होम, हवन, तीर्थ, यज्ञ, भजन आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाएं भिन्न-भिन्न समय पर नित्यकर्म की दृष्टि से बताई गई हैं। उन सबका हेतु यही है कि शरीर की उन क्रियाओं से मन पर परिणाम होता है और उसे एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

यह जिस प्रकार ईश्वर की पूजा के विषय में है, वैसे ही राष्ट्र रूपी इस व्यक्त परमात्मा की पूजा में लगे होने के कारण हमने भी अपने सामने राष्ट्र के प्रतीक के रूप में ध्वज को अपने सामने रखा। इसके चारों ओर भिन्न-भिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाएं करते हैं, जिनके कारण संगठन के लिए आवश्यक भाव अपने हृदय में उत्पन्न होते हैं। पौरुष, पराक्रम, निर्भयता उत्पन्न होती है। किसी के भी सामने खड़े होकर, निश्चल दृष्टि से उसकी ओर देखने की पात्रता उत्पन्न होती है और एक साथ रहने के कारण अंतःकरण में पवित्र स्नेह, जो संगठन के लिए आवश्यक है, उत्पन्न होता है। उस स्नेह के सागर में समस्त देश डूब जाए, आसेतु हिमाचल सब लोगों के अंतःकरण में एकात्मता जागृत रहे, उस एकात्मता को अपने कार्यक्रमों के द्वारा शरीर से शरीर रगड़कर, कंधे से कंधा लगाकर, संस्कारों को जागृत करते-करते, उन्हीं कार्यक्रमों के द्वारा अनुशासन का सूत्र शरीर, मन और बुद्धि में दृढ़ता से बैठे इसका हम प्रयत्न करते हैं। अपने शरीर के द्वारा इस संगठन रूपी मार्ग से राष्ट्र की उपासना में अपने भिन्न-भिन्न भावों एवं विचारों के द्वारा मन-बुद्धि को संस्कारित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। वार्तालाप करते हैं, ध्येयवाद निर्माण करने वाले गीत गाते हैं, समय-समय पर अपने ध्येय के बारे में बातचीत करते हैं, संघ के निर्माता के महान् जीवन का दर्शन करने की चेष्टा करते हैं और उसमें से सम्पूर्ण राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक गुणों का भी चिंतन करते हैं। इस प्रकार से अंतर्बाह्य जीवन में नित्यव्रत के रूप में आचरण करने के लिए यह प्रणाली हमने निश्चित की, जिसके कारण कुछ समय बाद एक संस्कार मन पर पड़ते-पड़ते फिर उसी की धुन अपने ऊपर चौबीसों घंटे सवार रहे ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। सोते-जागते सब समय एक ही स्वप्न, एक ही जागृति, एक ही विचार रहता है कि हम लोग कार्य के साथ एकरूप होकर अपना जीवन सफल कर सकें। संघ-कार्य की ऐसी रचना की गई है। यह रचना अकस्मात् ही आकाश से नहीं गिरी अथवा बिना विचारे ही नहीं बनाई गई। जो संघ-निर्माता के पूरे

जीवन से परिचित हैं अथवा जिन्होंने उन्हीं के हाथ से समय-समय पर लिखे गए वचन पढ़े होंगे, उन्हें पता होगा कि उन्होंने रचना के जितने भी संभव मार्ग हो सकते हैं, उन सबको अपनी आंखों के सामने रखा और व्यवहार में भी लाने की चेष्टा की। "स्टडी सर्कल्स" साप्ताहिक बैठकें, "डिबेटिंग क्लब्स" आदि सब उपायों को अपनाकर देखा और सबके अंत में उन्होंने दैनंदिन शाखा का निर्माण इसलिए किया कि पूजा दिन-प्रतिदिन व्रतस्थ हो, अर्थात् नित्य-प्रति समय निकालकर नित्य-व्रत निभाते-निभाते अंतःकरण उसी संस्कार में रंग कर चौबीसों घंटे दूसरा कोई भी विचार न आ सके, ऐसी सहजावस्था अपने संगठन की उत्पन्न हो, इस प्रकार बहुत सोच-विचार करके उन्होंने यह रचना हमारे सामने रखी। अतः इस रचना को अधिक से अधिक मात्रा में दृढ़ता के साथ निभाना चाहिए। इस प्रकार जब हम लोग सहज स्थिति के रूप में संगठन के कार्य में लगे रहते हैं तो अपने प्रत्येक व्यवहार से संघ का ही पोषण होता है। चाहे कोई प्रचारक के रूप में कार्य करे, अथवा व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में कार्य करे, परन्तु इसे अत्यंत निश्चलता से चलाना चाहिए। यह दृढ़ चिंतन जीवनव्यापी बनाना आवश्यक है, इसलिए दिन-प्रतिदिन की उपासना को भी निश्चलता से चलाना आवश्यक है। जब यह विचार अपने सामने आयेगा, तो दुनिया भर की बातों में कोई मतलब नहीं रह जायेगा। जब तक हम लोग प्रत्यक्ष व्रत का आचरण नहीं करते, तब तक वैदिक समाधान का कोई लाभ नहीं, वह आजकल के कोरे वेदांत का प्रवचन करने वालों के समान हो जायगा। हम लोग भी संगठन की गपोड़बाजी करने वालों के समान हास्यास्पद रूप में स्वयं को खड़ा कर लेंगे। वैसा कदापि नहीं होना चाहिए। हम संगठन के मंत्र को व्याप्त करने वाले इस नित्यव्रत का अनुष्ठान, पूर्ण शक्ति से तथा पूर्ण हृदय से जीवन भर करेंगे। उसके द्वारा उत्पन्न सहजस्थिति को जीवन के अंत तक पूर्ण रूप से जागृत एवं कार्यक्षम रखेंगे, इसी निश्चय को लेकर चलना आवश्यक है।

दैनिक शाखा के संबंध में यही विचार लेकर चलना चाहिए कि यह मेरा कार्य है, इसको मैं करूंगा। इस शाखा के लिए सब लोगों के पास जाऊंगा। उनके साथ वार्तालाप करूंगा। वार्तालाप करने के इस सूत्र को अखण्ड रखना है। भिन्न-भिन्न स्वभाव एवं गुणों के लोगों से मिलते हुए धर्म के सूत्र को उनके अंतःकरण में जागृत कर एकाग्रता से भरे हुए सब लोगों को एक सूत्र में गूंथना है। मुझे विश्वास है कि सब लोग अपने कार्य के लिए आगे बढ़ेंगे। सब कुछ छोड़कर इसी मार्ग पर हमें चलना है, यह विचार दृढ़ता से अपने सामने रखने की आवश्यकता है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० २८-३०)

३८

समर्पण

संघ का विचित्र स्वरूप है। इस स्वरूप में कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं है। कभी कोई बड़ा और कभी कोई छोटा होता है तो विचार उठता है कि मैं कौन सा काम करूं? मुझे अमुक काम में रुचि है, अमुक में नहीं, यह विचार करने में कोई आपत्ति नहीं। पूर्व काल में डॉक्टर साहब के सामने भी लोग कहा करते थे, "मुझे अमुक काम में रुचि है", "मैं इतना ही करूंगा।" आदि-आदि। तो डॉक्टर साहब कहते थे कि "जितना कर सकते हो, जो कर सकते हो, वैसा ही करो। धीरे-धीरे ठीक हो जाओगे।" वे उसके स्वभाव पर बलात्कार नहीं करते थे। प्रत्येक से उसकी रुचि एवं शक्ति के अनुसार कार्य लेते थे। धीरे-धीरे उनको संगठन के लिए उपकारक बनाने का प्रयास करते थे। परन्तु इतना होने के बाद भी उन्होंने स्वयं अपने जीवन से एक आदर्श स्वयंसेवक का स्वरूप सबके सामने उपस्थित किया और सिद्ध किया कि एक बार कार्य को जीवन देने के पश्चात् अपनी रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा का कोई स्थान नहीं। अपने द्वारा होने वाले समस्त कार्यों का श्रेय अपनी प्रतिभा को न देकर संगठन को ही देना चाहिए। यदि किसी मनुष्य को,एकाध अधिकार दिया तो संगठन की इच्छा के अनुसार उसे करना चाहिए और यही भाव मन में लेकर चलना चाहिए कि यदि मेरी पात्रता कम हुई तो भी वह तुम्हारा ही दोष और यदि न हुई तो तुम्हारा ही यश, मेरा कुछ भी नहीं।

यदि हमने कहा कि हम संगठन के अंग हैं, हम उसका अनुशासन मानते हैं तो फिर "सिलेक्टिवनेस" (चुनना) को जीवन में कोई स्थान न हो। जो कहा, वही करना। कबड्डी कहा, तो कबड्डी, बैठक कहा, तो बैठक। संगठन को ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा एवं स्वतंत्र प्रतिभा का यश प्रदान करना। उस सबका संगठन के लिए अधिकाधिक उपयोग करते हुए

भी व्यक्तिगत जीवन में निर्वाह के संबंध में कुछ चिंता नहीं करना। अपने स्थान का दायित्व केवल स्वयं पर न लेते हुए संगठन के कार्यकर्ताओं को भी सौंपना चाहिए। उसी का अपने को लाभ होगा। हम स्वयं विचार करें कि यदि हम अपने जिले के किसी कार्यकर्ता को कहें कि तुम अमुक स्थल पर शाखा चलाओ और वह कहे कि नहीं, मैं नहीं करूंगा, मैं दूसरे स्थान पर जाता हूं, तो क्या यह ठीक है? आप यही कहेंगे कि यह निर्णय करने का काम मेरा है। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि अधिकारी के समक्ष अपने स्वभाव एवं दोषों का ब्यौरा रख दें। इतना होने पर भी वह जहां रखेगा, वहां रहेंगे। मन को यह शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। जैसे अपने कुछ मित्रों को कहा कि राजनीति में जाकर काम करो, तो उसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें इसके लिए बड़ी रुचि या प्रेरणा है। वे राजनीतिक कार्य के लिए इस प्रकार नहीं तड़पते, जैसे बिना पानी के मछली। यदि उन्हें राजनीति से वापस आने को कहा, तो भी उसमें कोई आपत्ति नहीं। जो काम सौंपा गया उसकी योग्यता प्राप्त करेंगे, ऐसा निश्चय करके हम लोग चलते हैं।

मुझे अपना एक अनुभव स्मरण आता है—यद्यपि अपने बारे में कहना नहीं चाहिए तथापि कहता हूं कि एक बार भगवान् का नाम लेने के लिए गया। मुझसे कहा गया—"भगवान् छोड़ो, पहले बर्तन मांजो।" ईमानदारी से बर्तन मांजे, तो कहा कि 'अच्छा अब झाड़ने-बटोरने का काम करो।' फिर कहा 'बगीचे में पानी दो।' परंतु उनकी किसी बात में मैंने अपनी अरुचि नहीं बताई। जैसा रखा, वैसा रहा। अंत में कहा, 'अच्छा भगवान् का स्मरण करो।' अपने को गंदगी उठाने को कहा, तो गंदगी उठाना चाहिए। उसी में संघ-कार्य होगा। पत्थर के समान जहां रख दिया वहीं काम करना चाहिए। राजनीतिक गंदगी उठाने को कहा, तो वह भी उठाएंगे। अर्थात् कार्य के लिए पूर्ण समर्पण—"विदाउट रिजर्वेशन"—से चलना चाहिए। तभी कार्य करने की पात्रता उत्पन्न होती है। अपने लिए शेष कुछ भी नहीं चाहिए। मन, बुद्धि, शरीर अपना कुछ भी नहीं, सब कार्य का है। इस पूर्ण समर्पण से ही अंतःकरण में छिपे हुए समस्त गुण फूट पड़ते हैं और सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता।

हम स्वयं विचार करें कि हमें कैसे कार्य करना है। जीवन के महान गुणों को उत्पन्न करने वाले इस कार्य की उपासना पूरी करें कि अधूरी, यह मैं नहीं कहूंगा। जितना मुझे कहना था, वह कह दिया। उसमें से जो समझना है, समझ लें। कितने ही लोगों ने प्रश्न पूछे। बहुत अच्छे बुद्धिमत्तापूर्ण एवं गंभीरता से, कार्य की भलाई को ध्यान में रखते हुए प्रश्न पूछे। परंतु मेरा दिमाग तो बहुत छोटा है। मैं तो एक पत्थर के समान इस स्थान पर रख दिया गया हूं और आप सब भी यही सोचें कि हम पत्थर को सामने रखकर काम कर रहे हैं। परंतु दो-चार मास पूर्व जब अपने दो-चार प्रमुख कार्यकर्ताओं ने मेरे सामने बौद्धिक विषय रखे, तो मैंने सोचा कि यदि प्रत्येक कार्यकर्ता को इतना ज्ञान चाहिए, तो मुझे तो भले ही पत्थर क्यों न हूं, पर्याप्त ज्ञान चाहिए। किन्तु ज्ञान तो बढ़ता नहीं, अतः मैंने

सोचा कि पत्थर हूं तो पत्थर के रूप में ही रहेंगे। ज्यादा कुछ करना नहीं, ज्यादा कुछ बोलना नहीं। सब लोग मिलकर कार्य करते ही हैं। यहां पर यदि कोई न बैठे, तो भी ध्वज के अस्तित्व मात्र से ही कार्य चलेगा। साथ ही संघ के निर्माता की स्मृति भी है। अतः यही सोचकर जितने विषय मुझे दिये गए, उन पर जितना सोच सका उतना मैंने आपके सामने रख दिया। बाकी कार्यकर्ता प्रतिदिन मिलते हैं, वे इस संबंध में बातचीत करेंगे।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ३२-३३)

३९

प्रगति और रहस्य?

केवल संख्या बढ़ना प्रगति नहीं है। अपने संघ विषयक आकलन में वृद्धि होना तथा पूर्ण विश्वास के साथ यह कार्य करने का अपना निश्चय अधिक दृढ़ होना प्रगति का अर्थ है। केवल शाखा के कार्य पर ही मेरा ध्यान केंद्रित रहने का एक विशेष कारण है और उसे हर एक को समझ लेना चाहिए। संघ पर प्रतिबंध लगने से, कार्य में रुकावट आई थी तथा प्रतिबंध हटने के तुरंत बाद सार्वजनिक कार्यक्रमों का तांता लग गया। परंतु सार्वजनिक कार्यक्रमों से संगठन का, विशेषतः अपने जैसे संगठन का कार्य खड़ा नहीं हो सकता। अन्य लोग संगठन का कार्य क्यों नहीं कर सके, इसका सीधा कारण यह है कि उन्होंने सार्वजनिक कामों पर अधिक बल दिया। हम लोगों को सफलता मिलने का कारण यह है कि हमने संगठन पर बल दिया है। आज देश की मांग को देखते हुए अपना संगठन कार्य कम है, फिर भी इस कार्य में हम लोग सफल हुए हैं।

सार्वजनिक कार्यक्रमों के प्रति रुचि अपने ठोस संगठन कार्य के लिए बाधक है। अपनी कार्यपद्धति से संगठन करना अपने राष्ट्र को वर्तमान अवनत अवस्था में से वैभव की ओर ले जाने का एकमेव मार्ग है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ३६-३७)

* * * *

एक बार किसी एक प्रांत के जिले के स्वयंसेवकों की "रैली" देखने के पश्चात् (जहां मैं गया था व जिसमें बड़ी संख्या में लोगों ने भाग लिया था) एक संस्था ने हमें मात देने और लोगों को प्रभावित करने के उद्देश्य से हमसे भी बड़ी "रैली" का आयोजन करने की चेष्टा

की। सरकारी मदद और सभी उपलब्ध साधनों से वे इस कार्य में जुटे। उन्होंने अखबारों में छपवाया कि रैली में जाने वालों को मुफ्त भोजन मिलेगा और कोई खर्च नहीं पड़ेगा। हम अपने संघ शिक्षा वर्ग में मुफ्त भोजन नहीं देते। उन्होंने घोषणा की कि चाहे जितने लोग आएं उन्हें भोजन दिया जायगा, रेल-भाड़ा, अन्य खर्च तथा जेब खर्च भी दिया जायगा। टिप्पणी में लिखा था कि तीन दिन के कार्यक्रम में तीसरे दिन बूंदी के लड्डू की दावत दी जायेगी। लोग बड़ी संख्या में आए और सबकी एक कमरे में व्यवस्था की गई। जब श्रेष्ठ मंत्री ने, जिन्हें रैली के लिए आमंत्रित किया गया था, सबको एक छोटे से कमरे में देखा, तो पूछा, 'यह सब क्या है?' आयोजकों ने कहा, "क्या किया जाय?" मंत्री जी ने कहा, "आप नहीं जानते कि किस तरह व्यवस्था की जाती है? आर.एस.एस. की तरह व्यवस्था करो।" किन्तु वे यह कैसे कर सकेंगे? हमने अपना मार्ग स्वयं बनाया है, जिसके एक तरफ गहरी खाई है और दूसरी ओर सीधी चट्टान। चट्टान से लगी सिर्फ एक पगडंडी है, जिस पर केवल एक ही व्यक्ति एक समय चल सकता है, वहां अन्य लोगों के लिए स्थान नहीं है। यदि वे हमारी तरह संगठन करना चाहते हैं तो उन्हें केवल हमारा अनुसरण करना होगा। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे सफल भी नहीं हो सकते। हमारे पास यशस्वी कार्यपद्धति है।

लोग हमारी कार्यपद्धति को न समझकर कहते हैं कि यह रहस्यमय है। जब मैं बनारस में था तब एक बार मैंने एक छात्र को एक धार्मिक ग्रंथ खरीदकर लाने को कहा। विद्यार्थी उसे ले आया लेकिन वह फटा-पुराना था। इसलिए मैंने उसे अच्छी प्रति लाने को कहा। उसने वह ग्रंथ कुछ समय के लिए घर पर रखा। परंतु दूसरे दिन वह ग्रंथ गायब हो गया। उसने सब किस्सा सुनाया। मैंने कहा, कोई बात नहीं, आप मुझे दूसरी प्रति ला दें। मैं दूसरी प्रति के दाम दे दूंगा। उसने दूसरी प्रति खरीद ली। परंतु दूसरे दिन, गायब हुआ ग्रंथ उसी मेज पर पड़ा मिला। उस विद्यार्थी ने बताया कि एक बंदर उसे ले गया था और कुछ देर बाद उसने लाकर रख दिया। मैं सोचने लगा कि ऐसा क्यों हुआ होगा और मुझे सूझा कि शायद बंदर उसे यह देखने के लिए ले गया हो कि उसके पूर्वजों ने क्या लिख रखा है और उन्होंने कितनी प्रगति की है। लेकिन ग्रंथ को उलट-पलटकर देखने के बाद और कुछ भी समझ में न आने के कारण उसने वह ग्रंथ पुनः वापस लाकर रख दिया। शायद यह समझकर कि मनुष्य के सभी व्यवहार बड़े रहस्यमय हैं।

तात्पर्य, लोग हमारी कार्यपद्धति इसलिए नहीं समझ पाते क्योंकि उसके लिए हिम्मत, भूखे पेट रहने की सिद्धता, निःस्वार्थ भावना और निष्ठा आवश्यक है। जिस महाशय ने स्वयंसेवकों की देशभक्ति की आलोचना की उसे स्वयंसेवकों की प्रखर देशभक्ति देखकर पसीना छूटा होगा। अपने देश में आज प्रखर देशभक्ति की आवश्यकता है, केवल कुछ लोगों में नहीं, सभी लोगों में। इसलिए हम अपनी पद्धति से लोगों को संगठित करते हैं, जिससे राष्ट्र एकात्म और एकहृदय होता है। ऐसा सजीव व्यक्तित्व का राष्ट्र ही प्रचण्ड शक्ति संपन्न होता है।

इसी कार्य को करने का हम निश्चय करें, लोगों के पास जाएं, उनसे संपर्क स्थापित करें और ऐसा दृढ़ संगठन बनाएं जो किसी भी परिस्थिति में अडिग रहे। कंधे से कंधा लगाकर काम करें। आगे बढ़ें, बढ़ते रहें। समय व्यर्थ नष्ट न करें। व्यक्ति व्यक्ति को सुसंगठित करे और संगठन करके राष्ट्र का निर्माण करे। अपने अंदर युवकोचित उत्साह, साहसवृत्ति, संकटों से लड़ने और सफलता प्राप्त करने की शक्ति है। बढ़ते चलें, भविष्य उज्ज्वल है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ४५-४६)

* * * *

आज हमें व्यक्ति-व्यक्ति के अंतःकरण में यह अनुभूति पैदा करनी है कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक भिन्न मत, भिन्न पंथ, भिन्न जाति और भिन्न भाषा वाले हम सब मिलकर एक अखण्ड समाज और एक अखण्ड राष्ट्र हैं तथा हम सबका एकरस राष्ट्रजीवन है। यदि हम इस प्रकार की अनुभूति भरकर चलने के लिए प्रस्तुत होते हैं, तब परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा और आगे चलकर द्वेष तथा परस्पर शत्रुता उत्पन्न करने की दुष्प्रवृत्ति एवं कटुता पैदा करने वाली ये प्रवृत्तियां सर्वथा अनुचित सिद्ध हो जाती हैं। तब संगठन के लिए कौन सी पद्धति चल सकेंगी, यह प्रश्न आता है। संघ के निर्माता ने , जिनकी प्रतिभा अत्यंत असामान्य थी, यह विचार किया कि कार्य की रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें संगठन के लिए आवश्यक बातों की शिक्षा मिले। अर्थात् प्रथम तो यह कि हमें इसका अनुभव आना चाहिए कि हम सब एक हैं। फिर आपस में स्नेहमय व्यवहार करने की शिक्षा मिले और अंततः सबकी वैयक्तिक शक्ति को केंद्रीभूत करके सूत्रबद्ध रूप से उसका उपयोग करने की पात्रता आ जाय। इसलिए उस रचना को अपनी शाखा के रूप में उन्होंने हमारे सामने रखा है। दैनंदिन एकत्र आकर और अपने सामने प्राचीनकाल से चली आई अमर परंपरा के प्रतीक, यज्ञमय जीवन के प्रतीक, त्यागमय जीवन के प्रतीक, ज्ञान सम्पन्न जीवन के प्रतीक, अपने राष्ट्र के गैरिक सुवर्ण भगवद्ध्वज को अपने सामने प्रस्थापित कर उसकी छत्रछाया में हम सब उसके पुजारी और सेवक के नाते एकात्मता का अनुभव करते हुए कंधे से कंधा मिलाकर पारस्परिक कमियों, अधिकताओं, विपरीतताओं, और विशेषताओं के बारे में ठीक प्रकार से विचार करते हुए हृदय से हृदय मिलाने की कला सीखकर एवं विचित्रताओं, विक्षिप्ताओं तथा "अंग्युलैरिटीज" को रगड़कर ठीक बनाकर अपने जीवन में स्नेह-संपन्नता निर्माण करते हैं।

अखिल भारत में भाषानिरपेक्ष, प्रांतनिरपेक्ष, जातिनिरपेक्ष तथा सब प्रकार के तथाकथित भेदों से ऊपर उठे हुए सर्वसंग्राहक हिन्दू समाज का हृदय में साक्षात्कार करते हुए स्नेह से स्वयं परिपूरित हो, अपने चारों ओर आने वालों को सुस्नात करते हुए चलने की प्रत्यक्ष शिक्षा प्राप्त कर और भिन्न-भिन्न प्रकार के नियमित चलने वाले कार्यक्रमों के

द्वारा अनुशासन से अपने रग-रग को रंगाकर, हम अपने प्रत्येक अवयव, इंद्रिय, अंतःकरण और बुद्धि में आसेतु हिमाचल को केंद्रीभूत करने की क्षमता भरकर एक संगठित, प्रबल, प्रचण्ड शक्तिसंपन्न राष्ट्र का आदर्श इस शाखा के रूप में रखते हैं।

सुदृढ़ राष्ट्रजीवन के अभाव में अनेकविध चलने वाली पद्धतियों से अपने को क्षति पहुंचने की अधिक संभावना है। अतः इसे समझते हुए उससे अलग रहकर सबका संग्रह कर सकने वाली, संघ को अपना कहने वाली राष्ट्रशक्ति जाग्रत करने की दृष्टि से एक स्वतंत्र कार्यपद्धति की आवश्यकता है। और हृदय में यह विश्वास लेकर चलने की आवश्यकता है कि इस दृष्टि से संपन्न, स्वतंत्र और अभिनव कार्यपद्धति प्रतिदिन नियमपूर्वक ठीक समय का पालन करती हुई चलने वाली शाखा के रूप में परमपूज्य डॉक्टरजी ने हमारे सामने रखी है। दोषारोपण करने की प्रवृत्ति को छोड़कर हम अपने हृदय को टटोलकर देखें कि इस पद्धति पर अडिग विश्वास रखकर उसका उत्कृष्ट रीति से कितनी मात्रा में प्रतिदिन पालन करते हैं। जितनी मात्रा में निष्ठा रहेगी, जितनी मात्रा में अपना निश्चयात्मक व्यवहार रहेगा और जितनी मात्रा में हम प्रतिदिन चलने वाले कार्यक्रमों को अपने व्यवहार में उतारेंगे उतनी ही मात्रा में समाज में जाकर प्रत्येक व्यक्ति को अपनाने की अपने अंदर क्षमता प्राप्त होगी। कृति बिना बोलना तो केवल बकबक है। अगर हमें अपने समाज को, राष्ट्र को संगठित करना है तो उसके संपूर्ण कार्य और उसके अंग-प्रत्यंग में रुचि लेते हुए उसको कर दिखाने की आवश्यकता है। तभी समाज हमारे शब्दों को कुछ मूल्य देगा।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ५६-५७)

४०

सर्वसमय आवश्यक

हम लोग अपने को स्वयंसेवक मानते हैं और थोड़ा भी क्यों न हो, हमारे अंत:करण में राष्ट्र का साक्षात्कार अभी तक विद्यमान है। अत: अपने कर्तव्य को पहचानकर अतीव श्रेष्ठ और समर्थ राष्ट्रजीवन के पुनर्निर्माण के हेतु अखिल समाज को अपने स्नेह के आलिंगन में समेटने के उद्देश्य से निर्मित इस प्रचण्ड संगठन के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में पूर्ण निष्ठा रखकर और उसमें अपने जीवन की सारी शक्ति-बुद्धि लगाकर हम आगे बढ़ें। मन में सोचें कि ईश्वर ने मुझे दिन-रात में जो २४ घंटे दिए हैं उसमें मैं खाता हूं, सोता हूं, उद्योग-धंधा करता हूं, ऐश-आराम और चैनबाजी करता हूं, स्त्री-पुत्रादि के साथ सुख से जीवन व्यतीत करता हूं, पर इन सब बातों के बीच राष्ट्र के संगठित जीवन की उपासना करने के लिए मैंने कोई समय निकाला है अथवा नहीं? प्रतिदिन शुद्ध संस्कार अंत:करण में जागृत करने की कोई पद्धति बनाई है अथवा नहीं? इस दृष्टि से अपने जीवन में प्रतिदिन समय का एक अंश निकालकर, अपने राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न को जीवन का एक श्रेष्ठ कार्य मानकर, चलने का हमने निश्चय किया है अथवा नहीं? और किया है तो उसका व्यवहार करता हूं या नहीं, यह भी सोचना चाहिए।

हमने २४ घंटों में एक घंटा शाखा को दिया है। संगठन की इस प्रत्यक्ष प्रयोगशाला में अपने अंत:करण को लगाकर सब प्रकार से एकात्म, स्नेहपूर्ण और अनुशासनपूर्ण जीवन के संस्कार ग्रहण करने का महान प्रयत्न करने के लिए यह समय दिया है। उसके आगे-पीछे का समय, समग्र समाज के अंदर घुसकर एक-एक व्यक्ति के अंत:करण में अपने हृदय की अखण्ड निष्ठा का निर्माण करने के विशाल प्रयास में लगाना है। साथ ही यह प्रयत्न करना भी आवश्यक है कि अपना स्वयं का व्यवहार भी उस संगठित जीवन के

परम पवित्र भाव से सुस्नात होकर जीवन का दृष्टिकोण इस प्रकार श्रेष्ठ और पवित्र हो जाय कि खाना-पीना, नौकरी-चाकरी तथा उद्योग-धंधा करते हुए जो भिन्न-भिन्न लोगों से संपर्क आने वाला है वह प्रत्येक संपर्क राष्ट्र की, समाज की सुदृढ़ शक्ति का निर्माण करने और इस पवित्र कार्य में एक बार फिर चेतना निर्माण करने के उपयोग में आए। हम इस दृष्टि से विचार करें और यदि अपने जीवन में कोई कमी दिखाई दे तो उसको अत्यंत निश्चयपूर्वक दूर कर सुयोग्य रीति से इस संगठन के अंग के रूप में अपने को चलाने के लिए प्रस्तुत हों। कोई हमारे राष्ट्र के ऊपर पदाघात न कर सके इसके लिये अहोरात्र परिश्रम करके इतना श्रेष्ठ, सुदृढ़ और बलसंपन्न राष्ट्रजीवन खड़ा करें कि आघात करने वाला केवल टकराकर ही यह सोच ले कि अपनी दाल यहां गलने वाली नहीं है। अत: इस प्रकार की उत्कृष्ट विशालता को लेकर कार्य करने के लिए एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते हुए काया, वाचा, मनसा प्रयत्न करने का पूर्ण प्रण लेकर आगे बढ़ने के लिए कदम बढ़ायें।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ५९)

* * * *

जागतिक संघर्ष के बीच भी अपने राष्ट्र-जीवन को अक्षुण्ण रखते हुए अपने राष्ट्र का उत्कर्ष करने के लिए यदि किसी बात की आवश्यकता है तो वह है शुद्ध राष्ट्रवाद को जागृत कर उसको शक्तिसंपन्न एवं चैतन्ययुक्त बनाना। यदि राष्ट्र में सामर्थ्य है तो किसी के साथ मिलना या न मिलना इसका विचार बाद में हो सकेगा। आज तो बल उत्पन्न करने का कार्य प्रथम है। यह बल किसी तात्कालिक समस्या के कारण नहीं, अपितु सदा सर्वदा के लिए चाहिए। इसलिए हमने परिस्थितिनिरपेक्ष राष्ट्र-संगठन का सिद्धांत अपने सामने रखा है। संकट आए, तो काम करो और संकट टल जाए, तो सो जाओ, यह नीति हमने कभी अंगीकार नहीं की। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रक्षण के लिए राष्ट्र को अहोरात्र सन्नद्ध स्थिति में रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के हितचिंतन में संलग्न, एक सूत्र में गुंथा हुआ, अनुशासित, और राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर, ऐसी अवस्था हमें उत्पन्न करनी है। बिना इसके राष्ट्र-जीवन सुचारू रूप से नहीं चलेगा। बड़े-बड़े आर्थिक, राजनीतिक सिद्धांतों की विवेचना चाहे हम कर लें, किन्तु राष्ट्र-जीवन को चलाने वाले प्राण का स्पंदन जब तक ठीक नहीं, तब तक यह सब शव के श्रृंगार जैसा ही होगा। हमारा काम तो ऐसा प्रबल जीवन उत्पन्न करना है, जो मृत्यु पर भी विजय पा सके। दुनिया साथ दे, या विरुद्ध हो, हमें तो सभी अवस्थाओं में राष्ट्र का जागरूक संगठन खड़ा करना है।

संगठन का विचार करते समय लोग स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता पश्चात् के दो अलग कालखण्ड बनाते हैं। वे कहते हैं कि १९४७ के पूर्व अंग्रेज राज्य करता था। शासन, सेना, पुलिस सब उनकी थी, इसलिए उस समय अलग संगठन की आवश्यकता थी। किन्तु अब

तो शासन हमारा है, सेना हमारी है, पुलिस हमारी है। शस्त्रास्त्र के कारखाने थोड़े ही क्यों न हों, हमारे पास हैं, आवश्यकता होने पर हम बाहर से भी शस्त्रास्त्र मंगा सकते हैं। शस्त्रास्त्र ले भी लेंगे, क्योंकि गत महायुद्ध में अमेरिकन हथियारों से ही अमरीकी तथा जर्मन सिपाही युद्ध करते थे। अतः अब स्वतंत्र संगठन के जाल में न उलझते हुए शासन-सूत्र को अपने हाथ में क्यों न ले लें, ताकि उसके आधार पर उपर्युक्त सभी साधनों पर अपना अधिकार हो जाय और हम सरलता से देश की रक्षा कर सकें।

किन्तु सेना कहां से आती है? सामान्य समाज से ही तो। यदि समाज को राष्ट्रभावना का पता नहीं, उसे देश-भक्ति का ज्ञान नहीं, तो इस समाज में से बनी सेना पर भरोसा रखकर कहां तक लड़ेंगे ? वह तो पैसे के लिए अपने को बेच देगी। फिर सेना की शक्ति इस पर निर्भर करती है कि उसके पीछे कितना राष्ट्रभाव लेकर चलने वाला समाज विद्यमान है। इसके अतिरिक्त आजकल सर्वांग युद्ध ''आल आउट वार'' होता है। सेना को ही नहीं, समाज को भी पीछे रहकर (सेकंड लाइन ऑफ डिफेंस) रक्षा की द्वितीय पंक्ति के रूप में रसद आदि जुटाना पड़ता है। गत महायुद्ध में वर्षानुवर्ष अंग्रेजों को पेट काटकर लड़ना पड़ा और इसके पश्चात् भी वहां के किसी राजनीतिक दल ने उसका राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। चारों ओर से संकटों से घिर जाने के पश्चात् भी इंग्लैंड का प्रखर राष्ट्रभाव ही उसकी विजय का कारण बना।

जिस कार्य की सर्वप्रथम और सर्वसमय आवश्यकता है, उसे पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है। बाकी बातें तो महासागर की लहरों की भांति जीवन के सुख-दुःख के रूप में आती-जाती रहती हैं। राष्ट्रीय चेतनायुक्त, सुसंगठित, सुसूत्र सामर्थ्य के निर्माण के अतिरिक्त और कुछ करणीय नहीं है। शक्ति होने से स्वेच्छा से, विवशता से नहीं, चाहे जिसके साथ हाथ मिलाया जा सकता है। वैसे तत्वतः विचार करें तो हम जिस प्रकार धर्म और संस्कृति का आदर्श लेकर चलें हैं, जिसमें व्यक्ति की प्रेरणा में समष्टि के सुख की उपासना निहित है, उसके अनुसार तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का उद्घोष करने वाले, चाहे उसमें सत्यांश थोड़ा ही क्यों न हो, राष्ट्रों के ही हम अधिक निकट हैं। किन्तु आज तो हमें स्वयं को अजेय सामर्थ्य से सम्पन्न ही बनाना होगा। फिर हम किसी को आश्रय भी दे सकेंगे। किसी के आश्रय में स्वयं जाने का तो प्रश्न ही हमारे सम्मुख नहीं आता। हम किसी की दया के पात्र बनें, दीनता की भावना से किसी के साथ हाथ मिलाएं, यह तो दासता से भी हीन तथा त्याज्य मनोवृत्ति है। हमें तो यह सामर्थ्य उत्पन्न करना चाहिए कि लोग हमारी अनुकंपा की लालसा करें। हम चाहें तो किसी पर कृपा करें और यदि न चाहें तो शक्ति गुटों को अपने बाहुबल से किनारे धकेलकर स्वतंत्र एवं प्रभुत्वमय मार्ग पर अग्रसर हों। प्रखर राष्ट्रभक्ति के अधिष्ठान पर ही राष्ट्र की यह स्थिति उत्पन्न हो सकेगी।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ६८-७०)

४१

जीवन-कार्य

राष्ट्र में आज समाज ढेर के समान है। अतः उन्नति हो ही नहीं सकती। इसकी रचना करने की आवश्यकता है। प्रत्येक ईंट अपने-अपने स्थान पर रखी जानी चाहिए। यदि कोई बेढब हो, तो उसे ठीक आकार दिया जाना चाहिए। समाज के उत्कर्ष जीवन के लिए भी हमारा ढेर के रूप में रहना लाभदायक नहीं है। इसकी सुरचना करनी आवश्यक है। हमें प्रत्येक छोटी से बड़ी शाखा तक महान रचना करनी है। अपने आपको एक संगठन में समझना, विचारों को ठीक आकार देना और सबको संगठन का संस्कार प्रदान करना अपना कार्य है। इन संस्कारों के फलस्वरूप सबको सूत्रबद्ध रखना ही अपनी शाखा का हेतु है।

समाज किन गुणों के आधार पर दुनिया में छोटा-बड़ा माना जाता है? समूचे समाज में बल हो, बुद्धि हो तो लोग उसका बड़प्पन मानते हैं। समाज के उत्कर्ष का भार प्रत्येक व्यक्ति पर है। अपने में से प्रत्येक सुगढ़ है क्या? उसका स्वरूप, आकार, गुण वैसा है क्या? हम प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं। उसका अर्थ समझकर कितने बोलते हैं, मैं नहीं कह सकता। प्रार्थना का अर्थ हृदय में अंकित होकर, तदनुसार जीवनयापन करने का प्रयास करना, अपनी प्रार्थना बोलने का मतलब है।

प्रार्थना में सर्वप्रथम अंतःकरण की रचना का विचार आता है। तदनुसार जीवनयापन का विचार भी है। मातृभूमि के प्रति श्रद्धा भी प्रकट करते हैं। अपने सारे काम-धंधे भी हम करते हैं, बाल-बच्चों के साथ सुख अनुभव करते हैं। विचार करें कि हम जो रोज प्रार्थना करते हैं, उसमें "पतत्वेष कायो" भी बोलते हैं। क्या यह कभी स्मरण होता है कि यह मेरी मातृभूमि है और उसके लिए मुझे समर्पण करना है। किसी समय काबुल-कंधार भारत के

प्रांत थे। तिब्बत, ब्रह्मदेश, कम्बोडिया, सिंहलद्वीप भारत के अविभाज्य अंग माने जाते रहे, ऐसा वहां के पूर्वकाल के जीवन का उल्लेख मिलता है। धीरे-धीरे, एक-एक करके सब अलग हो गए। गांधार गया, त्रिविष्टप गया, अंग्रेजों की कूटनीति से ब्रह्मदेश व सिंहलद्वीप भी चले गए और छोटे-छोटे द्वीप भी गए। सिंधु का प्रदेश भी हमारे देखते-देखते अलग हो गया। सिंधु का तीर समस्त सुख का दाता है। उसके चारों ओर का पंचनद प्रदेश, जहां वेदों की रचनाएं गाईं गईं, वह भी गया। कश्मीर जो नंदनवन है, उसका भी बहुत-सा हिस्सा गया। बंगाल की वह शस्य श्यामला भूमि भी गई, जिसमें हमने समस्त भारत की श्यामलता का सौंदर्य देखा था।

हम इतने करोड़ जीवित मनुष्य हैं। विचारी हैं। पर कभी-कभी बुद्धि का अभिमान हममें इतना हो जाता है कि हम दूसरे की ठीक बात को भी ठीक मानने का साहस नहीं करते। अपने सुख में चैनबाजी करते हुए जीवनयापन कर रहे हैं। हम खाते-पीते मौज उड़ाते चले जा रहे हैं। क्या एक विचारशील तथा सज्जन पुरुष के लिए इस प्रकार का अपमानित जीवन शोभनीय है? ऐसे पुरुष को धिक्कार होना चाहिए जिसके मन में ऐसा विचार आने पर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती। मैं कार्य करूंगा ऐसा निश्चय नहीं होता तो राष्ट्र के विशाल मंदिर का निर्माण कैसे होगा। हमारे हृदय में सदैव एक क्षुब्धता रहनी चाहिए। यह सर्वप्रथम गुण है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ७३-७४)

* * * *

लोगों को संघ-कार्य के बारे में भला-बुरा कहने में आनंद आता है। इससे कितने ही लोग कांप जाते हैं। तुम्हारे लड़के को नौकरी नहीं मिलेगी यह सुनते ही कुछ लोगों को पसीना छूटने लगता है। मुझे कहीं नौकरी मिल जाय, ऐसा सोचने वाले राष्ट्र के योग्य पुर्जे नहीं बन सकते। रामदास स्वामी ने कार्यकर्ता के गुण बताते हुए कहा कि "कार्यकर्ता तोप का गोला होना चाहिए, जो निःशंक, निर्भय होकर चारों ओर शत्रु का विध्वंस करता है; परंतु अपने शरीर का क्या होगा इसकी परवाह नहीं करता।" यही वीरव्रत के नाम से हमने मांगा है। इन सब बातों की नित्य उपासना के लिए आजीवन, अहोरात्र, उत्कट निष्ठा होना आवश्यक है। अपने संगठन के प्रति तथा प्रतिदिन चलने वाली शाखा-पद्धति के प्रति असंदिग्ध निष्ठा चाहिए कि इसी मार्ग से राष्ट्र का उत्थान होगा।

एक बार रामदास स्वामी पंढरपुर गए। पंढरपुर में प्रत्येक आषाढ़ी के दिन महाराष्ट्र तथा कर्नाटक से लाखों दर्शनार्थी जाते हैं। रामदास स्वामी ने वहां भगवान के विग्रह को देखा। उन्होंने कहा, "मैं इसे प्रणाम नहीं करूंगा। मैं जिसकी उपासना करता हूं, वह कोदंडधारी है। यह तो अकर्मण्य बनकर, कमर पर हाथ रखकर खड़ा है।" ऐसा कहने में उनका विट्ठल भगवान के प्रति अनादर का भाव नहीं था। तुलसीदास ने भी कृष्ण की मूर्ति

को देखकर कहा था कि "भगवान को मैंने इस रूप में देखा नहीं है। अतः मैं इसे पहचानता ही नहीं तो प्रणाम कैसे करूं।" उन्होंने भगवान को सम्बोधित करते हुए कहा, "भले ही तुम्हारा यह रूप सुंदर दिखाई देता हो, परंतु जब तक धनुष-वाण लेकर उपस्थित नहीं होते मैं प्रणाम नहीं करूंगा।" कहते हैं उनकी प्रार्थना से वह मूर्ति कोदंडधारी मूर्ति के रूप में बदल गई।

यह हिन्दू राष्ट्र है। इसके प्रति मेरा निश्चय अडिग है। राष्ट्र के इस भव्य मंदिर के उत्तम पुर्जों के रूप में हम अपने को उपस्थित करें। प्रतिदिन की नियमित व्यवस्था को, तदनुसार चलाने की तत्परता निर्माण करें। फिर हम कह सकते हैं कि यह कार्य-शक्ति, अनुशासन से अजेय होकर राष्ट्र को वैभवसंपन्न अवस्था में बनाए रखेगी। यह अपना जीवन-कार्य है तथा यही राष्ट्र-निर्माण का कार्य है। इसी से आगे चलकर सब प्रकार का उत्कर्ष संभव है।

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० ७९-८०)

४२

अन्तिम आश्वासन

"हमें ध्यान रखना चाहिए कि शाखा के बिना हम भिन्न-भिन्न कार्य नहीं कर पाएंगे। जहां अपनी शाखा अच्छी प्रकार से चलती है, वहां पर कोई भी कार्य उठाया तो हम उसे निश्चयपूर्वक सफल कर सकते हैं। अतः संघ-शाखा के कार्यक्रम, उसकी आचार-पद्धति, स्वयंसेवकों का व्यवहार, स्वयंसेवकों का स्वभाव तथा उनके गुणोत्कर्ष आदि बातों की ओर हम ध्यान दें और उनका प्रसार तथा दृढ़ीकरण करने का एकाग्रचित्त से प्रयत्न करें। इतना हम लोग यदि करेंगे तो सब क्षेत्रों में विजय प्राप्त करेंगे और जितना यह कार्य सुदृढ़ता से चलेगा और उसे हम एक अंतःकरण से करेंगे, उतनी अपने लिए सर्वदूर विजय ही विजय है, ऐसा मैं पूर्ण विश्वास से कहता हूं।"

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ७, पृ० १०९-११०)

मनोगत

स्वर्गीय श्रीगुरूजी का यह चिंतन सनातन हिन्दू दर्शन की अभिव्यक्ति है। उनके विचार का प्रत्येक शब्द आस्था, आत्मविश्वास और साधना से संस्कारित है। उनका प्रत्येक वाक्य हिन्दू राष्ट्रदेव की आराधना में बोला गया अर्थगर्भित श्लोक है। महाकवि भवभूति ने अपना यह श्लोक संभवतः श्रीगुरूजी सरीखे अलौकिक व्यक्तियों के कथन के संदर्भ में ही लिखा होगा कि "लोकिकानाम् तु साधुनाम् अर्थम् वाक् अनुवर्तते। ऋषिणाम् पुनराद्यानाम् वाचम् अर्थोऽनुधावति। अर्थात् लौकिक साधुओं की वाणी अर्थ की अनुवर्ती होती है और अर्थ आद्य ऋषियों की वाणी का अनुसरण करता है।"

संघ दर्शन और संघ की कार्यपद्धति का स्व. श्रीगुरूजी द्वारा किया गया यह भाष्य

अपने अतिप्राचीन गौरवशाली हिन्दू राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा की असंदिग्ध घोषणा है। संघ-स्थान पर प्रतिदिन की जाने वाली मौन और एकान्तिक साधना की सिद्धि में हिन्दू राष्ट्र का सर्वांगीण विकास और परम वैभव निहित है। संघ-शाखा ध्येय देवता का साक्षात्कार कराने वाला एक अनुभूत, अद्भूत और अद्वितीय मार्ग है।